अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष **संयोजक**
कुलपति **निदेषक समाज विज्ञान विद्याशाखा**
उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय, हल्द्वानी
1.प्रो0 अरविंद के जोशी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)
2.प्रो0 बी.मोहन कुमार, जी.बी.पंत कृषि व प्रोद्योगिकी विष्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन

1. डा0 प्रियंका रुबाली, समाजशास्त्र विभाग,कुमाउं विश्वविद्यालय,नैनीताल (उत्तराखंड)
2. डॉ0 कमलेश महाजन
3. डा0 धर्मवीर महाजन
4. डॉ0 योगेश चंद्रा, राजकीय महाविद्यालय,मानिला ,उत्तराखंड

संपादन

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय, हल्द्वानी

कापीराइट @ उत्त/राखण्ड मुक्त विश्व विद्यालय

प्रकाशन वर्ष- 2020

प्रकाशन- उत्त/राखण्ड मुक्तr विश्व;विद्यालय हल्द्वाmनी263139

सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

हल्द्वानी **MASO-505**

समाजशास्त्र का परिचय-II

Introdution Sociology -II

Block III	**Social Institutions सामाजिक संस्थाएं**	
Unit 1	Marriage: Forms and changes विवाह :रूप और परिवर्तन	पृष्ठ–1–20
Unit 2	Family & Kinship परिवार और नातेदारी	पृष्ठ–21–39
Unit 3	Religious Institution धार्मिक संस्थाए	पृष्ठ–40–55
Unit 4	Political Institution राजनीतिक संस्थाए	पृष्ठ–56–71
Unit 5	Economical Institution आर्थिक संस्थाए	पृष्ठ–72–89
Block III	**Socialization & Social Control**	
Unit 6	Socialization-Concept & Agencies of Socialization समाजीकरण :अवधारणा और समाजीकरण के अभिकरण	पृष्ठ–90–103
Unit 7	Anomie & Deviance **अप्रतिमानता एवं विचलन**	पृष्ठ–104–120
Unit 8	Social Control: Concept, Types & Agencies of Social Control सामाजिक नियंत्रण :अवधारणा ,प्रकार और सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण	पृष्ठ–121–137
Block IV	**Social Stratification**	
Unit 9	Social Stratification-Meaning & Characteristics सामाजिक स्तरीकरण :अर्थ और विशेषताये	पृष्ठ–138–149
Unit 10	Forms of Social Stratification: Caste & Class सामाजिक स्तरीकरण के स्वरुप :जाति और वर्ग	पृष्ठ–150–164
Unit 11	Gender, Race & Social Inequality **जेण्डर, प्रजाति एवं सामाजिक असमता**	पृष्ठ–165–181

इकाई 1. विवाह तथा विवाह में आधुनिक परिवर्तत
Marriage & Modern Changes in Marriage

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 विवाह का अर्थ और परिभाषा

1.3 हिन्दू–विवाह के उद्देश्य

1.4 विवाह का स्वरूप तथा

1.5 हिन्दू विवाह के नियम

1.6 विवाह के प्रकार

1.7 हिन्दू विवाह में आधुनिक परिवर्तन

1.8 सारांश

1.9 परिभाषिक शब्दावली

1.10 बोध–प्रश्नों के उत्तर

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप को समझना संभव होगाः

- विवाह तथा परिवार का अर्थ तथा परिभाषा को स्पष्ट करना;
- विवाह तथा परिवार के प्रकारों को बताना;
- विवाह के प्रचलित स्वरूपों तथा नियमों को स्पष्ट करना;
- परिवार के प्रकार्य को बताना;
- वर्तमान समय में परिवार में हुए परिर्वतनों को बताना ।

9.4 प्रस्तावना

विवाह एक सामाजिक संस्था है जो प्रत्येक विश्व में पायी जाती है। विश्व के प्रत्येक समाज चाहे वह आदिम समाज हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण या नगरीय में, विवाह किसी–न–किसी रूप में पाया जाता है। परिवार बसाने के लिए दो या अधिक रूत्री पुरूष में आवश्यक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उसे स्थिर रखने की कोई न कोई संस्थात्मक व्यवस्था या तरीका प्रत्येक समाज में पाया जाता है जिसे विवाह कहते है। यह वह साधन है जिसके आधार पर समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार का निर्माण होता है तथा हिन्दू विवाह गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है।

विवाह द्वारा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर चार पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के प्रयत्न करता है। प्रत्येक समाज में जीवन–साथी अथवा पति/पत्नी को प्राप्त करने के कुछ वैध तरीके होते हैं तथा उन्हें सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त होती है। हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना गया है और विवाह को धार्मिक समझने के पीछे इसका उद्देश्य मोक्ष–प्राप्ति को मानना है। इसके अलावा हिन्दुओं में प्रत्येक व्यक्ति पर तीन ऋण पितृ–ऋण, देव–ऋण और ऋषि–ऋण चुकाने का भार माना गया है। पितृ–ऋण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विवाह द्वारा सन्तान उत्पन्न करना आवश्यक माना गया है। हिन्दू मान्यता के अनुसार मनु ने विवाह को यौन–सम्बन्धों के उचित–नियंत्रण तथा इहलोक और परलोक के सुख के लिए आवश्यक माना है। हिन्दू विवाह गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है। व्यास–स्मृति का उल्लेख इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है। इसमें गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ मानकर कहा गया है कि, जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम का सही तरीके से पालन करता है उसे घर में रहते हुए भी कुरूक्षेत्र, बद्रीनाथ, केदारनाथ तथा हरिद्वार आदि तीर्थ स्थलों का पुण्य मिल जाता है।

1.2 विवाह का अर्थ और परिभाषा

विवाह एक सामाजिक संस्था है। प्रत्येक समाज में परिवार बसाने के लिए दो या दो से अधिक स्त्री–पुरूष के बीच आवश्यक सम्बन्धों की स्थापना करने और उसे स्थिर रखने की कोई–न–कोई संस्थापक व्यवस्था का प्रचलन रहा है, यह व्यवस्था या तरीका विवाह कहलाता है। विवाह दो विषम लिंगीय (स्त्री–पुरूष) व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले यौन सम्बन्धों की सामाजिक और वैधानिक स्वीकृति है, जो पारिवारिक दायित्वों एवं अधिकारों द्वारा इन्हें बाँधता है। जैविकीय दृष्टि से विवाह की संस्था का उद्भव मानव–प्रजनन तथा बालकों के पालन–पोषण की मूलभूत आवश्यकताओं को लेकर हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में सहवास तथा पितृत्व दोनों का संयोग मानवीय विवाह का मूल आधार रहा है। व्यास स्मृति में गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है तथा कहा है कि गृहस्थ आश्रम का पालन करने वाले को घर में ही कुरूक्षेत्र, बद्रीनाथ, केदारनाथ तथा हरिद्वार आदि तीर्थ स्थल मिल सकता है। महाभारत में कहा गया है कि अविवाहित कन्या कभी भी, चाहे कितनी भी तपस्या का बल या पुण्य संचय क्यों न हो, स्वर्ग नही प्राप्त होता। विवाह वह आधार है जो घर बसाता है और बच्चों के पालन पोषण तथा आर्थिक सहकारिता व सामाजिक उत्तरदायित्वों की नीव को बनाता है। सामाजिक दृष्टिकोण से विवाह का तात्पर्य बच्चों को जन्म देना तथा तद् द्वारा समाज की निरन्तरता को कायम रखना है। हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार हैं। क्योंकि, इस विवाह–पद्धति के अन्तर्गत कुछ धार्मिक नियम, तरीके या धार्मिक कृत्य होते हैं जिनका सम्पादित किया जाना विवाह के सम्पूर्ण होने के लिए आवश्यक है। इन धार्मिक कृत्यों में कन्यादान, होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी प्रमुख हैं।

श्री **के0एम0 कपाड़िया** ने अपनी पुस्तक **"मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया" (1955)** में हिन्दू विवाह को संस्कार के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है कि, हिन्दुओं में विवाह जन्म–जन्मान्तर तक चलते हैं। यह एक ऐसा अटूट सम्बन्ध है जो सामान्यतया टूटता नहीं है।

विवाह का प्राथमिक उद्देश्य कर्त्तव्यों को पूरा करना होता है, जिस कारण विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म है। हिन्दू मान्यता के अनुसार विवाह एक बहुत आवश्यक धार्मिक संस्कार है। पश्चिम के समाज के विपरीत हिन्दुओं में कामवासना को कभी महत्त्व नहीं दिया गया है। हिन्दू

विवाह के अन्तर्गत धर्म को पहला, पुत्र पाने को दूसरा और कामवासना (रति) को तीसरे स्थान पर रखा गया है।

बोगार्ड्स के अनुसार– विवाह स्त्री और पुरूष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है।

हेरी एम0 जॉनसन के अनुसार – यह एक स्थिर सम्बन्ध है जिसकी अनुमति, समुदाय के बीच अपनी स्थिति को खोये बिना, पुरूष तथा स्त्री को समाज देता है। इस तरह के स्थिर सम्बन्ध की दो और शर्ते हैं – यौन–सन्तुष्टि और बच्चों का प्रजनन।

वेस्टरमार्क ने लिखा है विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला संबंध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है तथा जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनमें उत्पन्न बच्चों के अधिकार और कर्तव्यों का समावेश होता है।

इस प्रकार हिन्दू समाज में धार्मिक विधियों को पूरा करने पर ही विवाह को वैधता मिलती है। धर्म–पालन, पुत्र–प्राप्ति और रति–आनन्द तीनों को हिन्दू विवाह में शामिल किया गया है। हिन्दू विवाह स्त्री–पुरूष का पति–पत्नी के रूप में एक अलौकिक, न टूटने वाला और शाश्वत (सदा रहने वाला) सम्बन्ध है। यह एक धार्मिक संस्कार होने के कारण इस पवित्र–बन्धन को तोड़ना अधार्मिक कार्य के समान माना जाता है।

1.3 हिन्दू–विवाह के उद्देश्य

पी0एन0 प्रभु ने हिन्दू विवाह के निम्न उद्देश्य बताये हैं –

i- धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन– प्रभु के अनुसार हिन्दू विवाह के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं –(4) धर्म, (2) प्रजा और (3) रति। अर्थात् धर्म, विवाह का मुख्य उद्देश्य है। विवाह को अपरिहार्य और जरूरी मानते हैं। क्योंकि, पुरूष को जीवन में कुछ धार्मिक कर्त्तव्यों को निभाने के लिए पत्नी की आवश्यकता होती है। अतः व्यक्ति को अनेक यज्ञों तथा उनसे जुड़ी धार्मिक क्रियाओं (कन्यादान, होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी) को पूरा करने के योग्य बनाना ही विवाह का सबसे पहला लक्ष्य है। पत्नी के आभाव में अविवाहित व्यक्ति यज्ञों की पूर्ति नही कर सकता। विवाह ही एकमात्र ऐसा माध्यम है, जिसकी सहायता से व्यक्ति देवों, ऋषियों, माता–पिता, अतिथियों तथा जीव–मात्र के प्रति अपने दायित्वों को पूरा कर सकता है। स्पष्ट है कि धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करना आवश्यक है। समाज में व्यवस्था बनाए रखने और नैतिकता की रक्षा के लिए विवाह के इस उद्देश्य का अत्यन्त महत्व है।

ii- पुत्र–प्राप्ति – विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है और पुत्र प्राप्ति को विशेष महत्व दिया गष है। क्योंकि इसका कारण है कि पुत्र द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है पुत्र जब तक अपने पितरों को तर्पण तथा पिण्डदान प्रदान नही करता तब तक उन्हे मोक्ष प्राप्त नही होता। इस प्रकार पितृ यज्ञ को सम्पन्न करने और पितृ–ऋण से मुक्त होने के लिए पुत्र की उत्पत्ति आवश्यक मानी गई है। मनु–संहिता में यह कहा गया है कि, पुत्र द्वारा पिण्डदान देने पर ही पिता को पुनर्जन्म से मुक्ति मिल सकती है। इसीलिए हिन्दू–विवाह में यशस्वी और पुत्रों की प्राप्ति पर बल दिया गया है। क्योंकि, पुत्र द्वारा विभिन्न संस्कारों और धार्मिक कार्यों को पूरा किया जाता है। साथ ही पारिग्रहण संस्कार के अवसर पर मन्त्रों के माध्यम से वर वधू को कहता है– मैं उत्तम संतांन प्राप्त करने हेतु तुमसे वैवाहिक संबंध स्थापित कर रहा हूँ।

यशस्वी और दीर्घायु पुत्रों की उत्पत्ति पर विवाह में विवाह में विशेष जोर दिया गया है क्योंकि इन गुणों वाली सन्तान ही इस धरती और परलोक दोनों में सुख देने वाली होती है। संतान (पुत्र) के पैदा होने पर ही वंश और समाज का लगातार चलना टिका होता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों में पुत्रों की कामना की गयी है। परिवार और समाज की निरन्तरता को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः हिन्दू शास्त्रकारों ने विवाह के इस लक्ष्य को इतनी महत्ता प्रदान की है।

iii- रति – विवाह का अन्तिम उद्देश्य काम–वासना को पूरा करना है, जिसे शास्त्रकारों ने अन्य से कम महत्त्वपूर्ण माना है। रति का तात्पर्य समाज द्वारा स्वीकृत तरीके से अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति करना है। यौन सुख की प्राप्ति को उपनिषदों में सबसे बड़े आनन्द के रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में जहां यौन इच्छाओं की तृप्ति को मनुष्य के लिए आवश्यक माना है वही यह भी प्रतिबन्ध लगाया है कि उसे केवल अपनी पत्नी के साथ ही सहवास करना चाहिए और वह भी उत्तम संतान उत्पत्ति के लिए। अतः विवाह में यौन–सम्बन्धों का उद्देश्य सुयोग्य सन्तानों को प्राप्त करना है, यह इन उद्देश्यों में तीसरे स्थान पर आता है।

iv- पारिवारिक उत्तरदायित्व – हिन्दू विवाह का चौथा मुख्य उद्देश्य है, विवाह के द्वारा अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों का जितना हो सके उतना पालन करना। परिवार ही वह इकाई है जिसके द्वारा व्यक्तियों का समाजीकरण और व्यक्तित्व का विकास परिवार के ही अन्तर्गत होता है।

मरडॉक ने बहुत से समाजों का अध्ययन करने के पर यह स्पष्ट किया कि विवाह से संबंधित पक्षों के बीच आर्थिक सहयोग का बढाना तथा सन्तानों के पालन पोषण की समुचित व्यवस्था करना है। वर्तमान में विवाह के धार्मिक उद्देश्यों की महत्ता काफी कम होती जा रही है यौन इच्छाओं की पूर्ति तथा सन्तानोत्पत्ति ही विवाह के मुख्य उद्देश्य रह गए हैं। साथ ही विवाह के आदर्शों और नियम भी क्षीण होते जा रहे हैं।

बोध–प्रश्न 4

(i) हिन्दू समाज में पुत्र प्राप्ति विवाह के उद्देश्य में क्यों सम्मिलित किया गया हैं? अपना उत्तर उक्त पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.4 विवाह के स्वरूप

विवाह के स्वरूप का अर्थ वैवाहिक बन्धन में बँधने की अनेक विधियों से है। मनु और अनेक शास्त्रकारों ने हिन्दू विवाह के आठ प्रकार के स्वरूपों को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उनका उल्लेख किया है। हिन्दू शास्त्रकार स्त्री सम्मान तथा शील–रक्षा को विशेष महत्व दिया है तथा उसके

जीवन को नष्ट होने से बचाने की दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं। यहाँ हम शास्त्रकारों द्वारा बताए हिन्दू विवाह के सभी स्वरूपों का वर्णन करेंगे –

4– ब्राह्म विवाह – हिन्दू विवाह में इस प्रकार के विवाह को सबसे अच्छा और सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शास्त्रों के अनुसार इस विवाह में एक पुत्री का पिता वर को बुलाकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार अलंकारों से सजा–धजा कर कन्यादान दिया जाता है। मनु ने ब्राह्य विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर, वस्त्र, आभूषण आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्यादान करना ही ब्राह्य विवाह है।'' इस प्रकार के विवाह के बाद पैदा पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है, ऐसा माना गया है।

2– दैव विवाह – दैव विवाह में अच्छे कार्यो में लगे पुरोहित को अलंकृत करके कन्या दी जाती है। अर्थात एंसे विवाह में पिता वस्त्र तथा अंलकारों से सुसज्जित अपनी कन्या को दान के रूप में उस व्यक्ति को देता है जो यज्ञ–कार्य को पुरोतिह के रूप में सफलतापूर्वक सम्पन्न करता है। सद्कर्म में लगे पुरोहित को दान के रूप में कन्या देना ही दैव विवाह है। कुछ स्मृतिकारों ने दैव विवाह की आलोचना की और कहा की इस प्रकार के विवाह में वर तथा कन्या के मध्य आयु का अन्तर अत्यधिक रहने की सम्भावना रहती है। इस विवाह का यज्ञ के साथ सरोकार होता है और यज्ञों की लुप्तता के साथ ही आज के समाज में दैव विवाह का रिवाज़ ख़त्म हो चुका है।

3– आर्ष विवाह – आर्ष विवाह में विवाह की इच्छा रखने वाला वर कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े देकर विवाह करता था। गाय ओर बैल की यह भेंट उस व्यक्ति के प्रति आदर भाव और कृतज्ञता व्यक्त करने का प्रतीक है, जिसमें गृहस्थ धर्म से सम्बन्धित दायित्वों को पूर्ण करने के लिए अपनी कन्या दी है। वास्तव में आर्ष शब्द का अर्थ 'ऋषि' है। यज्ञ तथा साधना में तल्लीन ऋषि मोक्ष प्राप्ति के लिए विवाह करते थे क्योंकि बिना गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के वह अन्य आश्रमों में प्रवेश नही कर सकते थे। तब वह कन्या के पिता को एक जोड़ा गाय और बैल का भेंट करता था तो कन्या का पिता समझ जाता था कि अब उसने विवाह करने का निर्णय ले लिया है। आजकल यह विवाह चलन में नहीं है।

4– प्रजापत्य विवाह – इस प्रकार के विवाह में पिता सम्मानपूर्वक एक व्यक्ति को अपनी पुत्री उपहार में देकर दम्पत्ति को धर्म का पालन करने का उपदेश देता है। यह विवाह ब्राह्य विवाह के समान है बस इतना ही अन्तर है कि कि लड़की का पिता वर–वधू को सम्बोधित करते हुए आदेश देता है कि तुम दोनों आजीवन धर्म का आचरण करों। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान पीढ़ियों को पवित्र करने वाली होती है। यह प्रकार भी आजकल प्रचलित नहीं है।

5– असुर विवाह – यह एक प्रकार का क्रय विवाह है अर्थात कन्या मूल्य चुकाया जाता है। इस विवाह में व्यक्ति द्वारा कन्या और कन्या के परिवार के लोगों को शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या का ग्रहण किया जाता है। सम्भवतः इस प्रकार के विवाहों का प्रचलन का मुख्य कारण यह है कि विवाह में बिना कुछ लिए लड़की देना परिवार के लिए अपमानजनक समझा जाता था क्योंकि विवाह के पश्चात् लड़की की उपयोगिता से माता–पिता को वंचित होना पड़ता था, इस क्षतिपूर्ति कें लिए कन्या मूल्य मिलना आवश्यक माना जाता था। निम्न जातियों में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन था लेकिन उच्च जातियों में ऐसे विवाह को हीनता की दृष्टि से देखा जाता था। इस प्रकार के विवाह को अब अच्छा नहीं समझा जाता है।

6– गान्धर्व विवाह – गार्न्धव विवाह का तात्पर्य यह है कि वधू का स्वयं अपने लिए चुनाव करना। पुराणों में कहा गया है कि, सुन्दर गान्धर्वों तथा कामुक किन्नरियों के बीच माता–पिता से पूछे बिना ही विवाह का सम्बन्ध बन जाता था। आधुनिक समाज में गान्धर्व विवाह 'प्रेम–विवाह' का रूप लेकर बहुत प्रचलित हो गया है। इस विवाह में अपना जीवन साथी स्वयं चुनने की व्यवस्था है। दुष्यंत तथा शकुन्तला का विवाह गार्न्धव श्रेणी के अन्तर्गत आता है। यह एक निन्दनीय विवाह के रूप में हिन्दू समाज में स्थापित है। आजकल इस प्रकार के विवाह को प्रेम विवाह के नाम से जाना जाता है।

7– राक्षस विवाह – राक्षस विवाह में छल–कपट, युद्ध करके, छीनकर आदि गलत तरीकों से कन्या से विवाह कर लिया जाना राक्षस विवाह कहलाता है। प्राचीन –काल में राजा, महाराजा युद्ध में जीतने पर जीते हुए राज्य की नारियों को भी साथ ले जाते थे और उनसे जबरदस्ती विवाह कर लेते थे। ऐसे विवाह में वर–पक्ष के लोग कन्या पक्ष वालों को मारपीट कर, उनका घर तोड़कर, छीन–झपट कर अथवा कपट से रोती बिलखती हुई कन्या को अपने घर ले जाते हैं और फिर उसके साथ विवाह कर लिया जाता है। क्षत्रियों में इस प्रकार के विवाह प्रचलित होने के कारण इसे 'क्षात्र विवाह' भी कहा जाता है। वर्तमान में ऐसे विवाह मुश्किल से ही दिखते हैं। क्योंकि, आजकल न तो इस तरह के युद्ध होते हैं और न ही इस प्रकार के विवाह।

8– पैशाच विवाह – सबसे निकृष्ट कोटि का माना गया पैशाच विवाह ऐसा विवाह है ,जिसमें निद्रारत, उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरापान से प्रभावित या रास्ते में जाती हुई कन्या के साथ बल का प्रयोग करके यौन–सम्बन्ध स्थपित करने के उपरान्त उससे विवाह किया जाता है। बलपूर्वक कुकृत्य कर लेने के बाद भी विवाह से संबंधित विधियों को पूर्ण कर लेने पर ऐसे विवाहों को मान्यता दे दी जाती थी। क्योंकि स्त्रियों के कौमार्य भंग होने के बाद समाज से बहिष्कार से बचाना तथा स्त्री सम्मान की रक्षा करना इसका मुख्य कारण था।

अगर हम आज के अपने समाज को देखें, तो हिन्दू समाज में इन आठ प्रकार के विवाहों में से ब्राह्य, असुर, गान्धर्व और पैशाच विवाह चलन में हैं। डॉ0 मजूमदार के कथनानुसार हिन्दू समाज अब केवल दो स्वरूपों को मान्यता देता है –ब्राह्य तथा असुर, उच्च जातियों में पहले का और निम्न जातियों में दूसरे प्रकार का विवाह प्रचलित है। हालांकि कुछ मामलों में यह देखा गया है कि, उच्च जातियों में असुर प्रथा अभी पूरी तरह से ख़त्म नहीं हुई है।

बोध–प्रश्न 2

(i) ऐसे कौन से विवाह में एक जोड़ी गाय और बैल को भेंट के रूप में दिया जाता है ?

1. ब्रह्म विवाह
2. पवित्र विवाह
3. दैव विवाह
4. आर्ष विवाह

(ii) हिन्दू परम्परागत विश्वास के अनुसार ,विवाह एक–

1. समझौता है
2. बन्धन है
3. संस्कार है
4. औपचारिकता है

1.5 हिन्दू विवाह के नियम

प्रत्येक हिन्दू जाति में विवाह हेतु कुछ नियमों को निर्धारित किया गया है, जिनको मानना आवश्यक है। साधारणतया भारतीय समाजों में हिन्दू विवाह के नियमों और मान्यताओं को चार भागों में विभाजित किया जाता है।

1–अन्तर्विवाह

2–बहिर्विवाह

3–अनुलोम विवाह

4–प्रतिलोम विवाह

1–अन्तर्विवाह–अन्तर्विवाह का तात्पर्य अपनी जाति के अन्दर ही विवाह करने से है, इससे बाहर नहीं। अन्तर्विवाह के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने जीवनसाथी का चुनाव स्वजाति, जनजाति, समूह अथवा समुदाय या कभी कभी गोत्र में करने का अधिकार है। भारत में जाति अन्तर्विवाह की प्रथा पाई जाती है अर्थात प्रत्येक हिन्दू अपनी ही जाति में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। गोत्र अन्तर्विवाह के उदाहरण कम ही मिलते है। वास्तव में हिन्दुओं में जाति केवल कुछ उपजातियों में नही वरन् प्रत्येक उपजाति भी अनेक छोटे–छोटे समूहों में बंटी हुई है और ये छोटे–छोटे समूह ही विवाह की इकाई हैं। उदाहरणस्वरूप कपाड़िया ने वैश्यों की एक जाति बनिया को कई उपशाखाओं जैसे लाड़, मोढ़, पोरवाड़, श्रीमाली में बाँट कर उल्लिखित किया है। लाड़ भी बीसा और दस्सा इन दो उपभागों में बँटी है, और लाड़ के अन्तर्गत आई बीसा भी अहमदाबादी, खम्बाती आदि स्थानीय खण्डों में विभाजित है। यह प्रत्येक भाग/उपविभाग अन्तःविवाही है। अन्तर्विवाह की विशेषता इस बात में है कि, इसका प्रत्येक समूह अपने समूह की पहचान को बनाये रखकर इसकी शुद्धता को अविभाज्य और अखण्ड बनाए रखना चाहता है।

अन्तर्विवाह के कारण

अन्तर्विवाह के अनेक प्रजातीय और सांस्कृतिक कारण है।

1– भारत में समय–समय पर अनेक प्रजातीय समूह आए तथा उन्हे किसी न किसी वर्ण की सदस्यता प्राप्त हो गई। तब ऐसी दशा में प्रजातीय मिश्रण को रोकने के लिए अन्तर्वण विवाह के प्रतिबन्ध लगाये गये और अन्तर्विवाह के नियम अपनाये गये।

2– सर्वप्रथम कर्म के आधार पर व्यक्ति की श्रेष्ठता का आंकलन किया जाता था बाद में कर्म के स्थान पर जन्म को महत्ता प्रदान हुई। अर्थात कर्म का स्थान जन्म ने ले लिया। रक्त की शुद्धता के नियम के कारण अन्तर्विवाह के नियमों को लागू किया गया।

3– जैन तथा बौद्ध धर्म के वर्चस्व को विकसित होने से रोकने के लिए अन्तर्विवाह के नियमों को लागू करने के लिए प्रेरित किया। इन धर्मो के प्रसार के कारण ब्राह्मणों की शक्ति को ठेस पहुचाई, उनकी शक्ति को पहले से काफी कम हो गई थी। ब्राह्मणों ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में उन्होनें जाति से संबंधित नियम और अधिक कठोर बना दिए और अन्तर्विवाह की नीति को दृढ़ता से पालन किया।

4– मुसलमानों के आक्रमण हिन्दम समाज और धर्म के लिए घातक सिद्ध हुआ। मुसलमानों ने हिन्दुओ का न केवल धर्म परिवर्तन करने और उनकी सुसंस्कृति को चोट पहुचांने का प्रयास किया बल्कि हिन्दू लड़कियों के साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित करने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि इस स्थिति से बचने के लिए जातीय प्रतिबंध तथा विशेषतः वैवाहिक प्रतिबंध अधिक कठोर होते गये।

जाति अन्तर्विवाह के नियमों का वर्तमान में कई क्षेत्रों में भी कठोरता से पालन किया जा रहा है। अपनी जाति से बाहर विवाह करने वालों को अभी तक जाति से बहिष्कृत किया जाता है। वर्तमान में शिक्षा, स्त्री शिक्षा, औद्योगिकरण, नगरीकरण की तीव्र प्रक्रिया, आवागमन तथा संचार के साधनों का तीव्र विकास, एकल परिवारों की स्थापना के फलस्वरूप अन्तर्विवाह के नियम कमजोर होते जा रहे हैं तथा लोगों द्वारा अन्तर्जातीय विवाह की ओर झुकाव बढ़ता जा रहा है साथ ही अधिनियमों के द्वारा इनको दूर किया जा रहा है। परन्तु व्यवहारिक रूप में आज भी ये अधिनियम जाति–अन्तर्विवाह की प्रथा को बहुत कम प्रभावित कर पाये हैं।

2–बहिर्विवाह–बहिर्विवाह एक ऐसा नियम है जिसमें व्यक्ति अपने समूह के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे अपने समूह में विवाह करने की आज्ञा नहीं दी जाती है। हिन्दू समाज में बहिर्विवाह के लिए निश्चित नियमों के अनुसार व्यक्ति द्वारा अपने गोत्र, पिण्ड तथा प्रवर के बीच विवाह न करके वाह्य समूहों में विवाह किया जाए। यह अन्तर्विवाह की प्रथा के ठीक विपरीत चलन है। भारतवर्ष की जनजातियों में टोटम बहिर्विवाह को नियम पाया जाता है। अर्थात जिन व्यक्तियों का एक टोटम है वे आपस में विवाह नही कर सकते। भारत में इस नियम के अनुसार एक व्यक्ति को अपने वंश अथवा गोत्र समूह में विवाह करना निषिद्ध एवं अनुचित माना जाता है। अब हम हिन्दुओं में प्रचलित बहिर्विवाह के नियमों का संक्षेप में परिचय देंगे।

i बर्हिगोत्र विवाह –यह वास्तव में बहिर्विवाह ही है, इसका तात्पर्य अपने गोत्र से बाहर विवाह करना है। हिन्दू समाज में सगोत्र विवाह वर्जित है। अर्थात व्यक्ति अपने ही गोत्र के लोगों के साथ विवाह संबंध स्थापित नहीं कर सकता। गोत्र से अभिप्राय एक ही ऋषि–पूर्वज से उत्पन्न व्यक्तियों के समूह से है। विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नाम के आठ ऋषियों की संतानों को गोत्र के नाम से पुकारा जाता है। पी0एन0 प्रभु ने गोत्र का अर्थ गायों के समूह से लिया है। गोत्र शब्द के ऋग्वेद में तीन या चार अर्थ लगाए जाते हैं जैसे गोशाला, गायों का समूह किला तथा पर्वत आदि। इन अर्थों के आधार पर एक घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगो को एक गोत्र का सदस्य माना जाता है। शाब्दिक अर्थ में गोत्र गो+त्र अर्थात गायों के पालने वाले समूह से या गायों को बांधने के स्थान से लगाया जाता है। इस अर्थ की दृष्टि से जिन लोगों की गायें एक ही स्थान पर बंधती थी उनमें नैतिक संबंध स्थापित हो जाता था तथा उनमें विवाह संबंध नही होता था, क्योंकि, एक ही गोत्र के सभी सदस्य एक ही पूर्वज के वंशज माने जाते हैं अतः वह आपस में भाई–बहन हो जाते हैं। इसी कारण इनके बीच वैवाहिक सम्बन्ध होना मना होता है। उदाहरण के रूप में व्यक्ति अपने पिता के गोत्र, माता के गोत्र, दादी के गोत्र तथा नानी के गोत्र की किसी भी लडकी से विवाह नही कर सकता है। विज्ञानवेश्र ने कहा कि वास्तविक गोत्र केवल ब्राह्मणों के ही होते हैं। क्षत्रियों तथा वैश्यों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों पर ही आधारित होते हैं और शूद्रों के कोई गोत्र नहीं होते। हिन्दू जातियों के अपने–अपने गोत्र पाये जाते हैं और समान गोत्र वाले आपस में वैवाहिक संबंध स्थापित नही करते।

ii बर्हिसपिण्ड विवाह –सपिण्ड का तात्पर्य है स+पिण्ड अर्थात् मृत व्यक्ति को पिण्ड–दान दान देने वाले या उससे रक्त–कणों द्वारा सम्बन्धित लोग। सपिण्ड में वह लोग हैं जो समान दिवंगत पूर्वजों को पिण्ड या पके हुए चावलों के गोलों (पिण्ड) का अर्पण करते हैं। विज्ञानेश्वर के अनुसार सपिण्ड का अर्थ है एक ही पिण्ड या देह रखने वालों में एक शरीर के अवयव होने के कारण सपिण्डता का संबंध होता है। पिता और पुत्र सपिण्ड है क्यांकि पिता के शरीर के अवयव पुत्र में आते हैं। इसी प्रकार दादा के शरीर के अवयव पिता द्वारा पोते में आने से वे सपिण्ड हैं,

माता के शरीर का अंश पुत्र में आने से पुत्र की माता के साथ सपिण्डता होती है। इस प्रकार सपिण्ड बहिर्विवाह में उन लोगों में वैवाहिक संबंध नहीं हो सकता जो एक दूसरे के सपिण्ड हों। जहां सगोत्र एवं सप्रवर बहिर्विवाह के प्रतिबन्ध पितृपक्ष के सम्बन्धियों को आपस में विवाह करने की आज्ञा नही देतें वहां सपिण्ड बहिर्विवाह के निषेध मनु के अनुसार मातृ पक्ष की लड़कियों के साथ भी वैवाहिक सम्बन्धों की आज्ञा नहीं देते। यद्यपि इस बात में मतभेद है कि, कितनी पीढ़ियों के लोग सपिण्डी माने जायें? वशिष्ठ ने पिता की ओर से सात व माता की ओर से पाँच, गौतम ने पिता की ओर से आठ व माता की ओर से छः पीढ़ियों तक के लोगों से विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगाया है। **हिन्दू विवाह अधिनियम (1955)** में पिता पक्ष की पाँच पीढ़ियों और माता पक्ष की तीन पीढ़ियों में विवाह की अनुमति प्रदान नहीं की गई है।

iii सप्रवर बहिर्विवाह –प्रवर शब्द गोत्र से सम्बन्धित है, जिसका वैदिक इण्डेक्स के अनुसार शाब्दिक अर्थ है 'आह्वान करना' या बुलाना। प्रवर का एक दूसरा अर्थ भी है 'महान्'। प्राचीन समय में ब्राह्मण यज्ञ, हवन आदि के समय गोत्र, वंशकार के नाम को उच्चरित करते थे। इस अर्थ में प्रवर श्रेष्ठ के अर्थ में ही प्रयोग होता था। एक प्रवर व्यक्ति आपस में विवाह नहीं करते हैं। क्योंकि, वह स्वयं को एक ही ऋषि–पूर्वजों से संस्कारबद्ध और आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित मानते हैं। सप्रवर विवाह विभिन्न शताब्दियों में प्रचलित रहा और इसके नियम कठोर होते गए। प्राचीन काल में यज्ञ के लिए अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने श्रेष्ठ ऋषि–पूर्वजों का आहवान करता था। यजमान भी अपने पुरोहित से इन्हीं ऋषि–पूर्वजों से अपने को सम्बोधित मानता था और जिन–जिन लोगों के इस प्रकार के सामान्य ऋषि–पूर्वज थे, वे अपने आपको एक–दूसरे से आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित मानने लगे। ऐसे व्यक्तियों का समूह प्रवर कहलाने लगा और एक प्रवर के लोगों को आपस में वैवाहिक संबंध स्थापित करने की आज्ञा नही दी जाती थी। आधुनिक–काल में यज्ञों का प्रचलन और महत्त्व पहले जैसा नहीं रहने के कारण प्रवर के समान कोई संस्था अब प्रचलित नहीं है। हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारण अधिनियम द्वारा सप्रवर विवाह द्वारा निर्धारित निषेधों को समाप्त कर दिया गया।

3 अनुलोम विवाह – जब एक उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल और गोत्र के लड़के का विवाह उससे निम्न वर्ण, जाति, उपजाति, कुल और वंश की कन्या से होता है तब यह अनुलोम विवाह कहलाता हैं। अर्थात् इसमें पति अपनी पत्नी से उच्च कुल या समूह का होता है। इस प्रथा के अनुसार उच्च सामाजिक प्रस्थिति वाले लोग अपनी पुत्री का विवाह निम्न प्रस्थिति वाले परिवार में करना पसन्द नहीं करते है, किन्तु वे ऐसे परिवारों से कन्या अवश्य ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार के विवाह में साधारणतः स्त्री की तुलना में पुरूष का वर्ण उच्च होता है। याज्ञवक्लय के अनुसार ब्राह्मण चार विवाह कर सकता है– एक अपने वर्ण की लड़की से और एक–एक शेष तीन वर्णों की लड़कियों से। क्षत्रिय तीन विवाह कर सकता है– एक अपने वर्ण की लड़की से और एक–एक एक–एक वैश्य तथा शूद्र वर्ण की लड़कियों से। वैश्य दो विवाह कर सकता है–एक तो अपने वर्ण की लड़की से और एक शूद्र वर्ण की लड़की से। शूद्र केवल अपने वर्ण की लड़की से वैवाहिक संबंध स्थापित कर सकता है। उदाहरण के तौर पर एक ब्राह्मण अपनी जाति की कन्या के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता है । वर्तमान में विवाह हेतु उपरोक्त नियम देश के कई भागों और जातियों में प्रचार में हैं।

अनुलोम विवाह की हानियां

अनुलोम विवाह के अनेक सामाजिक दुष्परिणाम हुए है, जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं–

1. **स्त्री की सामाजिक स्थिति में ह्रास–** ऐसे विवाहों में लड़कियों का कोई महत्व नही होता उनका विवाह करना उच्च कुलीन लड़कों की कृपा पर निर्भर करता है। इसमें दहेज को मान्यता होने के परिणामस्वरूप लड़की के परिवार पर आर्थिक बोझ पड़ता है।

2. वर मूल्य प्रथा को प्रोत्साहन– अनुलोम विवाह के अंतर्गत लड़की के माता पिता अपनी लड़की का विवाह ऊँचे से ऊँचे कुल या वर्ण में करना चाहते है जिस कारण उच्च वर्ण के लड़को माँग में बढोत्तरी होती है तब उनके माता–पिता भारी दहेज की मांग करते हैं जिस कारण वर मूल्य प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है।

3. बहु पत्नी विवाह का प्रचलन–उच्च वर्ण में लड़कों की कमी तथा उनसे विवाह करने वाली लड़कियों की अधिकता के कारण बहु पत्नी विवाह प्रचलित होती है। पश्चिम बंगाल में बहुपत्नी प्रथा का मुख्य कारण यही है।

4. लिंग अनुपात में असमानता– अनुलोम विवाह लिंग अनुपात में असमानता के लिए उत्तरदायी होता है क्योंकि उच्च वर्ण के लड़कों के लिए लड़कियों की अधिकता रहती है और निम्न वर्णों के लिए लड़कियों की कमी। जिस कारण उच्च वर्ण की कुछ लड़कियां तथा निम्न वर्ण की कुछ लड़कियां अविवाहित रह जाते हैं। इस स्थिति के कारण निम्न वर्ण के लोग उच्च वर्ण के लडके से अपनी लड़की का विवाह करना चाहते है जिस कारण कन्या मूल्य का प्रचलन होता है।

5. बाल विवाह में बढोत्तरी– अनुलोम विवाहों के कारण उच्च वर्ण के लड़को की कमी तथा वर मूल्य की अधिकता के कारण प्रत्येक माता पिता अपनी लड़की का विवाह शीघ्र अति शीघ्र करने का प्रयत्न करते हैं और इस कारण बाल विवाह का प्रचलन होता है।

6. विधवाओं की संख्या में बढोत्तरी– उच्च वर्णों में में अपनी लड़की का विवाह करने की इच्छा के कारण जब वह वर मूल्य या दहेज की रकम नही जुटा पाते तो वह विवश होकर उच्च कुल के वृद्ध व्यक्तियों से अपनी लड़कियों का विवाह कर देते हैं इस प्रकार के बेमेल विवाह तथा बाल विवाह के कारण यह परिणाम दृष्टिगत होता है कि विधवाओं की संख्या में बढोत्तरी होती है।

6 **प्रतिलोम विवाह** –जब एक निम्न वर्ण, जाति, उपजाति, कुल या वंश के लड़के का विवाह उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल या वंश की कन्या के साथ हो तो तब यह प्रतिलोम विवाह कहलाता है अर्थात जब पत्नी अपने पति से उच्च कुल की होती है। वह विवाह अनुलोम विवाह का ठीक विपरीत है। ऐसे विवाहों के बाद स्त्री की स्थिति निम्न हो जाती है और पुरूष की स्थिति में कोई अन्तर नही आता। इस प्रकार का विवाह समाज द्वारा अनुमोदित और मान्य नहीं है। खासकर ब्राह्मण लड़की का शूद्र पुरूष को अति निकृष्ट बताया जाता है। उदाहरण स्वरूप हिन्दू जाति–प्रथा के अर्न्तगत किसी शूद्र पुरूष द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य कन्या से किया गया विवाह इसी श्रेणी में आता है। हालांकि शिक्षा के प्रभाव से इस विवाह के प्रचलन में आजकल वृद्धि देखी जा रही है।

बोध–प्रश्न **(3)**

(i) गोत्र बहिर्विवाह को दो पंक्तियों में समझाइये ?

.....

.....

.....

(ii) अनुलोम विवाह किसे कहते हैं? अपना उत्तर दो पंक्तियों में दें।

.....

.....

1.6 हिन्दू विवाह के प्रकार

पति और पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के प्रकारों को निश्चित किया गया है। साधारणतया विश्व के समाजों में मुख्यतः विवाह के दो प्रकार प्रचलित हैं :–

विवाह के प्रकार

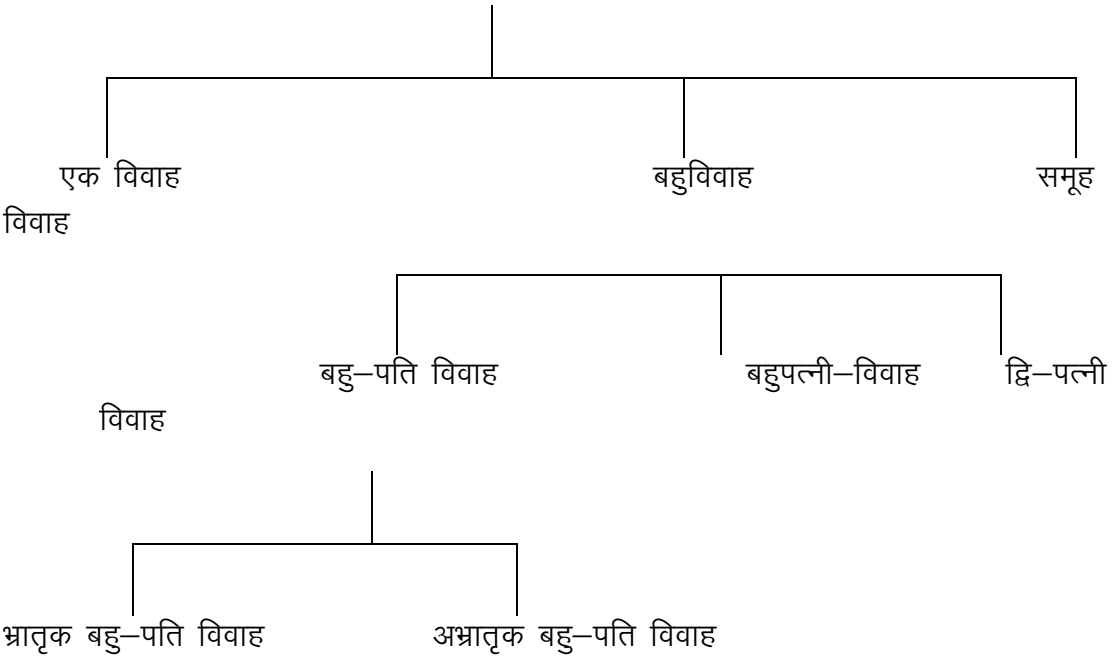

1– एक विवाह –एक विवाह से अभिप्राय है कि, एक व्यक्ति एक समय में एक ही स्त्री से विवाह करे तब वह एक विवाह है। इसके अन्तर्गत एक पत्नी की मृत्यु के बाद या सम्बन्ध–विच्छेद होने पर दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया जाता है। जिन समाजों में स्त्री और पुरूषों का संख्यात्मक अनुपात लगभग समान होता है, वहाँ एक विवाह प्रचलित होता है। साधारणतः स्त्री पर तो पति की मृत्यु के पश्चात पुनः विवाह न करने पर नियंत्रण लगा दिया जाता है परन्तु पुरूष स्वयं दूसरा विवाह कर लेता है। वास्तव में एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं करना ही एक विवाह कहलाता है। ऋग्वेद में एक विवाह को ही श्रेष्ठ माना है। धर्मशास्त्रों के अनुसार पुरूष को पत्नीव्रत का पालन करना चाहिए और एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह अथवा अनैतिक संबंध स्थापित नहीं करने चाहिए।

2– बहु विवाह –बहुविवाह के अन्तर्गत एक पुरूष या स्त्री के एक समय में दो या दो से अधिक जीवन साथी का होना मान्य होता है।

बहुविवाह के दो भेद हैं –

1 बहु–पति विवाह

2 बहुपत्नी–विवाह

3 द्वि–पत्नी विवाह

उपरोक्त दोनों प्रकार के विवाहों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है –

क. बहुपति विवाह –बहुविवाह का अन्य रूप बहुपति विवाह है। इस प्रकार के विवाह में एक स्त्री एक ही समय में एक से अधिक पुरूषों से विवाह करती है। माइकेल के अनुसार '' एक स्त्री का एक पति के जीवित होते हुए अन्य पुरूषों से भी विवाह करना या एक समय पर ही दो ष दो से अधिक पुरूषों से विवाह करना बहुपति विवाह है।'' अतः बहुपति विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक स्त्री एक से अधिक पुरूषों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करती है। कई बार एक स्त्री से विवाह करने वाले पुरूष आपस में भाई होते हैं और कभी– कभी विवाह करने वाले इन पुरूषों में आपस में कोई संबंध नहीं होता। मातृसत्तात्मक व्यवस्था वाले समाजों में स्त्री स्वयं अपने पतियों का चुनाव कर बारी– बारी से निश्चित अवधि तक उनके साथ रहती हैं। बहुपति विवाह का मुख्य कारण पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या में कमी होना होता हैं। महाभारत काल में इसका उदाहरण द्रौपदी के पाँच पतियों के रूप में देखा जा सकता है। आज भी भारत की कुछ जनजातियों में बहुपति विवाह सामान्य रूप से प्रचार में है । यथा नीलगिरी पर्वत की टोडा जनजाति ,हिमाचल प्रदेश की खस जनजाति तथा दक्षिण की कोटा जनजाति में बहुपति प्रथा पाई जाती है। केरल के मातृ व्यवस्था वाले नायर लोगों में भी बहुपतित्व प्रथा पाई जाती है। बहुपत्नी प्रथा की अपेक्षा बहुपति प्रथा कम प्रचलित है।

(i) भ्रातृक बहुपति विवाह–जिसमें एक स्त्री से विवाह करने वाले सभी व्यक्ति आपस में भाई होते हैं अथवा सबसे बड़ा भाई किसी एक स्त्री से विवाह करता है और अन्य भाई स्वतः ही उस स्त्री के पति माने जाते हैं। यह प्रथा दक्षिण भारत में मालाबार के नायरों में पायी जाती है।

(ii) अभ्रातृक बहुपति विवाह–इस प्रकार के विवाह में पतियों के बीच निकट सम्बन्ध नहीं होता है और पत्नी थोड़े–थोड़े समय के लिए सभी पतियों के यहाँ जाकर रहती है। जब पत्नी किसी एक पति के साथ रहती है तब उस अवधि में अन्य पतियों का उस पर कोई अधिकार नहीं रहता है। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के अनुसार कोई भी हिन्दू पहली पत्नी या पति के जीवित होते हुए दूसरा विवाह नही कर सकता है। अभ्रातृक बहुपति विवाह प्रथा भारत में नीलगिरी के टोडा लोगो में पाई जाती है।

ख–बहुपत्नी विवाह –बहुपत्नी विवाह में पुरूष द्वारा एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह किया जाता है। है। ऐसे विवाह में एक पुरूष के एक ही समय में एक से अधिक पत्नियां होती हैं। यद्यपि यहां मुख्यतः एक विवाह को प्रधानता दी जाती हैं तथापि बहुपत्नी विवाह का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। समाज के उच्च और राजसी घरानों में राजाओं के मध्य बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन था। बड़े भाई की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी से विवाह

करने की प्रथा ने हिन्दू समाज में बहुपत्नीत्व को प्रोत्साहन दिया। निम्न जातियों में इस प्रथा का प्रचलन आज भी व्याप्त है। एक स्त्री के सन्तानहीन होने की स्थिति में दूसरी स्त्री से विवाह की आज्ञा दी गई है। बंगाल में कुलीनता का अधिक महत्व दिया जाता था और इसी कारण वहां बहुपत्नी विवाह का प्रचलित हुई। दक्षिण भारत के मालाबार में रहने वाले नम्बूद्री ब्राह्मणों में इसी प्रकार का विवाह प्रथा का प्रचलन हुआ। उन लोगों में अपनी जाति में विवाह करने का अधिकार केवल बड़े भाई का तथा अन्य छोटे भाईयों को अपने से निम्न या नायर और क्षत्रिय कन्याओं से विवाह करना पड़ता है। शनैः–शनैः इस प्रथा का भी अन्त हो गया। मुस्लिम धर्म में एक ही समय में चार पत्नियां रखने का रिवाज़ है। वर्तमान में समूचे विश्व में बहुपत्नी विवाह लुप्त होने के कगार पर आ गया है। भारत में भी जिन आदिवासी समाजों में इस प्रथा को सामान्य माना जाता था, वहाँ भी यह प्रायः अब समाप्त है।

ग–द्वि–पत्नी विवाह– जब एक पुरूष साथ दो पत्नियां रखता है तो विवाह को द्वि–पत्नी विवाह कहते हैं। साधारणतः पहली पत्नी के अस्वस्थ्य रहने के स्थिति में दूसरे विवाह की आज्ञा प्रदान की जाती है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में पहली पत्नी से संतान नहीं होने की दशा में दूसरे विवाह को उचित माना गया है। वर्तमान में ऐसे विवाहो को अमान्य घोषित किया जा चुका है।

3– **समूह विवाह–**इस विवाह के अंर्तगत जब लड़कों के एक समूह का विवाह लड़कियों के किसी समूह से होता है और सब एक–दूसरे के पति पत्नी होते हैं तो ऐसे विवाह को समूह विवाह कहते हैं। इसमें किसी पुरूष का किसी एक स्त्री के साथ संबंध नही पाया जाता। सभी स्त्रियां सभी पुरूषों की सामूहिक पत्नियां होती है।

बोध–प्रश्न **(4)**

(i) बहुपति विवाह के दो प्रकारों को दो पंक्तियों में समझाइये ?

.....

.....

.....

1.7 हिन्दू विवाह में आधुनिक परिवर्तन

हिन्दू विवाह पद्धति में परिवर्तन का सात क्षेत्रों में विश्लेषण किया जा सकता है–

1. विवाह के उद्देश्य में परिवर्तन
2. विवाह के स्वरूप में परिवर्तन
3. साथी चुनाव की प्रक्रिया में परिवर्तन
4. विवाह की आयु में परिवर्तन
5. विवाह के स्थायित्व में परिवर्तन
6. विवाह के आर्थिक पहलू में परिवर्तन
7. विधवा पुनर्विवाह

आधुनिक भारत में आए परिवर्तनों में सो एक है विवाह के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन, इसलिए विवाह के विविध पक्षों पर कानूनो की आवश्यकता हुई जिस कारण आज विवाह का वह पुराने नियम दृष्टिगत नही होते जो कई वर्षों पूर्व दिखायी देता था। आज विवाह संस्था मे अनेक परिवर्तन देखने को मिलते है जिसका मुख्य कारण यह है कि समय समय

पर वैधानिक नियम और कानूनों द्वारा विवाह के नियमों में परिवर्तन करना। जैसे विवाह की आयु, साथी का चुनाव, विवाह में पति पत्नी की संख्या, पुनर्विवाह, दहेज लेना व देना और विवाह विच्छेद। इन छह पक्षों से सम्बद्ध विविधि विधान इस प्रकार हैं।

बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929

यह अधिनियम अप्रैल 1930 में लागू हुआ। जो बाल विवाह को रोकता है। तदनुसार 18 वर्ष से कम लड़के की तथा 14 वर्ष से कम लड़की का विवाह तय करना तथा सम्पन्न कराना आदि कानूनी अपराध था। बाद में लड़की की आयु बढ़ाकर 15 वर्ष कर दी गई थी। जिसे 1978 के संशोधन के पश्चात लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष कर दी गई। अधिनियम का उल्लंघन करने पर दण्ड का प्रावधान है लेकिन विवाह स्वयं में वैध रहता है। इसके अंतर्गत अपराध संज्ञय है और माता पिता, पंड़ित, वर और संरक्षक तक के लिए तीन वर्ष कारावास और 1000 का जुर्माने का प्रावधान है। महिला को कारावास के दण्ड का प्रावधान नही है। इस अधिनियम के अंतर्गत ऐसे अपराध के लिए आरोपित पर कोई कार्यवाही नही की जा सकती यदि विवाह को एक वर्ष का समय व्यतीत हो चुका हो।

हिन्दू विवाह निर्योयता निवारक अधिनियम, 1946

हिन्दुओं में कोई विवाह यदि निषेधों की सीमा में आपस में संबंधित व्यक्तियो के मध्य हुआ हो तो वह वैध नही कहलाता है जब तक ऐसा विवाह रिवाजो द्वारा मान्यता प्राप्त न हो। इस अधिनियम के अंतर्गत प्रवर तथा गोत्र विवाह को वैध करार दिया गया है लेकिन हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के पारित होने के पश्चात यह अधिनियम निरस्त कर दिया गया।

हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949

1940 तक हिन्दुओं में प्रतिलोम विवाह अवैध तथा अनुलोम विवाह अनुलोम विवाह अनुमान्य था। 1949 के अधिनियम ने वे सभी विवाह वैध घोषित कर दिये जो भिन्न जातियों, धर्मों, उपजातियों, एव विश्वासों के लोगों के बीच सम्पन्न होते थे। लेकिन एक हिन्दू व मुसलमान के बीच विवाह को वैध नहीं माना गया। 1955 के अधिनियम के पश्चात यह नियम निरस्त हो गया।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

सन 1955 में हिन्दू विवाह अधिनियम पारित हुआ और 18 मई 1955 से जम्मू कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया। इस अधिनियम द्वारा विशेष विवाह अधिनियम 1954 को छोड़कर हिन्दू विवाह से संबंधित अन्य सभी अधिनियम रद्द कर दिये गए। हिन्दू शब्द के अंतर्गत जैन, बौद्ध, सिक्ख, ब्रह्म समाजी, आर्य समाजी तथा हरिजनों को सम्मिलित किया गया। यह कानून केवल अनुसूचित जातियों के लोगों पर केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना लागू नही होगा। इस अधिनियम में हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न विवाह विधियों को मान्यता प्रदान की गयी हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 से संबद्ध प्रावधान इस प्रकार है।

1. विवाह करने वाले दोनो में से किसी का भी पहला जीवन साथी जीवित न हो।
2. वर की आयु 18 तथा वधू की आयु 15 वर्ष पूरी होनी चाहिए। 1978 के संशोधन के पश्चात लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष कर दी गई।

3. वर–वधू दोनो पक्ष निषेधात्मक संबंधों की श्रेणी में न आते हो। बशर्ते हो कि कोई प्रथा जिसके द्वारा वे नियंत्रित होते हो इस प्रकार के विवाह की आज्ञा न देती हो।
4. वर वधू एक दूसरे के सपिण्ड न हो। जब तक कि रिवाज अनुमति न दे।
5. दोनों पक्ष में से कोई पक्ष मानसिक असंतुलन या पागलपन के कारण विवाह के लिए सहमति देने योग्य न हो।
6. जहां वधू की 18 से कम और वर 21 वर्ष से कम हो उनके विवाह में माता–पिता की सहमति होना आवश्यक है।

अधिनियम न्यायिक पृथक्करण तथा विवाह निरस्त करने की प्रक्रिया की अनुमति देता है। कोई भी पक्ष चार आधारों पर न्यायिक पृथक्करण ले सकता है

1. दो वर्ष तक निरन्तर त्याग
2. निर्दयी व्यवहार
3. कोढ़
4. व्यभिचार

निम्न आधारों पर किसी पक्ष द्वारा विवाह समाप्ति की मांग की जा सकती है–

1. यदि विवाह के समय कोई पक्ष नपुंसक हो और मुकदमा चलने के समय तक भी वही स्थिति हो।
2. यदि विवाह के समय कोई भी पागल या बुद्धि रहित हो।
3. यदि विवाह के एक वर्ष की अवधि में यह सिद्ध हो जाये कि विवाह के लिए प्रार्थी या उसके अभिभावक की स्वीकृति जबरन या धोखे से ली गयी हो।
4. यदि विवाह के भीतर यह सत्यापित हो जाए कि विवाह के समय पत्नी किसी अन्य पुरूष से गर्भवती थी और प्रार्थी को इस संबंध में कोई जानकारी नही थी।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 43 के अनुसार विवाह विच्छेद पति पत्नी में से कोई भी पक्ष व्यभिचार, क्रूरतापूर्ण व्यवहार, सात वर्ष तक परित्याग, धर्म परिवर्तन, असाध्य पागलपन, असाध्य कोढ़ या यौन रोग, सन्यास, न्यायिक पृथक्करण के बाद दो वर्ष तक समागम नही, विगत सात वर्षों तक जीवित न रहने की खबर आदि के आधार पर हो सकता है। पत्नी भी तलाक के लिए प्रार्थना कर सकती है। यदि उसका पति पहले भी एक स्त्री रखता हो।

सन् 1986 का संशोधन परस्पर सहमति तथा असंगतता के आधार पर विवाह विच्छेद की अनुमति देता है। न्यायालय में विवाह विच्छेद के लिए प्रार्थना पत्र विवाह के तीन वर्ष पूर्ण हो जाने के पश्चात् स्वीकार्य होते है। अधिनियम में पृथक्करण के पश्चात गुजारा भत्ता तथा विच्छेद के बाद निर्वाह व्यय का प्रावधान है। न केवल पत्नी बल्कि पति भी गुजारा भत्ता के लिए दावा कर सकता है।

विशेष विवाह अधिनियम 1954

सन 1954 में पारित विशेष विवाह अधिनियम के द्वारा 1972 में पारित विधान को समाप्त कर दिया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत दो भारतीयों को, चाहे वे किसी भी धर्म अथवा जाति के क्यों न हो, न्यायालय की सहायता से विवाह करने का अधिकार प्रदान किया गया। अब उनके लिए घोषित करना आवश्यक नही था कि वे किसी भी धर्म को नहीं मानते है।

यह विवाह की निम्नलिखित शर्तों के पूरा होने पर वैध होगा।

1. दोनों में से किसी का भी पति या पत्नी जीवित न हो।
2. विवाह के समय वर की आयु 21 तथा वधू की आयु कम से कम 18 वर्ष हो।
3. दोनों में से कोई बुद्धि रहित या पागल न हो।
4. वर–वधू एक दूसरे के वर्जित संबंधों की श्रेणी में न आते हो।
5. यदि विवाह कानून के क्षेत्र से बाहर किसी अन्य स्थान पर हो तो वर–वधू का भारतीय नागरिक एवं निवासी होना आवश्यक है।

इस अधिनियम के अंतर्गत विवाह करने वाले व्यक्ति, कानून की दृष्टि से अपने संयुक्त परिवार से पृथक माने जाएंगे। संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में उनके उत्तराधिकारी का निर्धारण भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम 1925 के आधार पर होगा। इस अधिनियम में विवाह निरस्त करने, विवाह विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण तथा निर्वाह व्यय आदि प्रावधान है। इनके आधार वहीं हैं जो हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में दिए गए हैं।

हिन्दू विवाह पुनर्विवाह अधिनियम 1856

प्राचीन काल में विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान नहीं थी। 1856 के अधिनियम ने हिन्दु विधवाओं के विवाह में आने वाली सभी कानूनी अड़चनों को दूर कर दिया। इस अधिनियम का उद्देश्य था कि जन कल्याण तथा उच्च आदर्शों को प्रोत्साहन देना। इसके अंर्तगत ऐसी विधवा जिसका पति उसके दूसरे विवाह के समय से ही स्वर्गवासी हो गया हो, का पुनर्विवाह वैध है और ऐसे विवाह की कोई भी संतान अवैध नही है। अगर पुनर्विवाह करने वाली विधवा अल्पव्यस्क हो तो उसके माता–पिता या संरक्षक या भाई की सहमति अनिवार्य है। सहमति प्राप्त न होने पर विवाह निष्प्रभावी होगा। अधिनियम विधवा को प्रथम पति की सम्पत्ति में से निर्वाह अधिकार प्राप्त करने से वंचित करता है।

दहेज निषेध अधिनियम, 1961

इस अधिनियम 20 मई 1961 को पारित हुआ और इस अधिनियम में संशोधन कर इसे 2 अक्टूबर 1985 से नए रूप में लागू किया गया।

1. दहेज लेन देन व दहेज की मांग करने वालों के लिए सजा की अवधि 6 माह से बढाकर 2 वर्ष कर दी गयी। कम से कम 6 माह की जैल की सजा का प्रावधान किया गया है।
2. दहेज देने, लेने या दहेज की मांग करने वाले लोगों के लिए जुर्माना राशि 5 हजार से बढाकर 40 हजार रूपये कर किया गया है।
3. विवाह के समय वर वधू को कोई बिना मांग किए भेंट में दी गयी वस्तु को दहेज नहीं माना जाएगा अगर उन उपहारों की सूची में सम्मिलित किया गया हो।
4. संशोधित कानून के द्वारा अब मान्यता प्राप्त जन कल्याण संस्थाएं या संगठन दहेज संबंधी अपराधों के बारे में शिकायत दर्ज करा सकेगें न्यायालयों को इन शिकायतों की सुनवाई करनी होगी।
5. यह कानून सभी धर्मो के लोगों में लागू होगा।
6. दहेज निरोधक कानून में विवाह के अवसर पर जो दहेज या भेंट मिलती है उस पर वधू का स्वामित्व माना गया है और नवीन संशोधन में पूर्व के एक वर्ष के स्थान पर तीन माह में दहेज की राशि व सामग्री वधू के नाम स्थान्तरित कर दिए जाने का प्रावधान

है। यह प्रावधान विवाहिता को अपने बचाव एवं परिवार वालों के दुर्व्यवहार तथा अत्याचार के विरूद्ध सुरक्षा देने वाला है।

7. विवाह के एक वर्ष के बाद कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। अधिनियम के उल्लंघन पर पुलिस स्वयं कोई कार्यवाही नहीं कर सकती जब तक कोई शिकायत दर्ज न हो।

1.8 सारांश

विवाह की प्रस्तुत इकाई में विवाह का अर्थ समझाते हुए उसके उद्देश्य बताते हुए विवाह का स्वरूप, विवाह करने के नियम और प्रकारों को बताया गया है। विवाह के प्रचलित आठ स्वरूपों में से आजकल केवल दो ही स्वरूप मुख्यतया चलन में हैं जिसमें से गान्धर्व विवाह कुछ परिवर्तन के साथ प्रेम–विवाह के रूप में और ब्रह्म विवाह अधिकतर हिन्दू समाजों में दहेज की कुरीति के साथ प्रचलित है। विवाह संस्था में आए इन परिवर्तनों का कारण शिक्षा का प्रचार, नगरीकरण और औद्योगिकरण तथा समाज में स्त्री के अधिकारों और उसके हित के लिए बनने वाले कानूनों का समाज पर व्यापक प्रभाव है। सामाजिक विधानों ने हिन्दू विवाह के स्वरूप में भले ही अमूल चूल परिवर्तन किए हैं किन्तु आज भी हिन्दुओं के लिए विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

1.9 परिभाषिक शब्दावली

गोत्र– गोत्र शब्द का प्रयोग कई वंशजों के ऐसे व्यापक समूह से लिया जाता है जिसके सदस्य अपने को किसी दूरस्थ अथवा वास्तविक या कल्पित पूर्वज की सन्तान मानते हैं। यह पूर्वज किसी पुरावृत पर आधारित मानव, पशु, पौधा अथवा कोई निर्जीव पदार्थ हो सकता है।

अन्तर्विवाह– अपने ही समूह के अन्दर विवाह करने को अन्तर्विवाह कहते है।

बहिर्विवाह– अपने सामाजिक समूह से बाहर विवाह करने को बहिर्विवाह कहते है।

रति– रति का तात्पर्य समाज द्वारा स्वीकृत तरीके से अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति करना है।

1.10 बोध–प्रश्नों के उत्तर

बोध–प्रश्न 1

(I) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर विवाह के उद्देश्य के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

(II) लैटिन शब्द 'फैम्यूलस' से

बोध–प्रश्न 2

I) आर्ष विवाह

II) एक संस्कार है।

बोध–प्रश्न 3

I) विद्यार्थी को इस प्रश्न का विवाह के नियम शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये बहिर्विवाह के विवरण में से लिखना है।

II) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर विवाह के नियम शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये अनुलोम विवाह के विवरण में से लिखना है।

बोध– प्रश्न 4

विद्यार्थी को इस प्रश्न का विवाह के प्रकार शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध– प्रश्न 5

विद्यार्थी को इस प्रश्न का हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

दोषी व जैन, 2009, **भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन.** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
जैन, शोभिता, 1996, **भारत में परिवार, विवाह, नातेदारी,** रावत, जयपुर।
दोषी व जैन, 2009, **समाजशास्त्रः नई दिशाएँ,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
सिंह जे. पी., 2010. **समाजशास्त्रः अवधारणाएँ एवं सिद्धांत.** पी.एच.आई लर्निंग प्राईवेट लि. नई दिल्ली।
अग्रवाल जी. के. **भारतीय सामाजिक संस्थाएं,** आगरा बुक स्टोर, आगरा।

1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

कपाड़िया, के. एम. **मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया.** ऑक्सफोर्ड. यूनिवर्सिटी प्रेस बम्बई।

मदान, टी. एन., 1965, **फैमिली एण्ड किनशिपः ए स्टडी ऑफ द पंडित ऑफ रूरल कश्मीर,** एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

देवरे सुधीर राजाराम, समाजशास्त्र **की अवधारणा एवं विकास,** अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

वाधवा एस. समाजशास्त्र, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. हिन्दू विवाह के पमुख स्वरूपों का वर्णन कीजिए।

2. बहिर्विवाह और अन्तर्विवाह कार अन्तर बताइये। हिन्दू बहिर्विवाह के प्रमुख आधार क्या हैं?

3. अनुलोम और प्रतिलोम विवाह पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

4. गोत्र और प्रवर में भेद समझाइये।

इकाई 2 परिवार और नातेदारी
Family & Kinship

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 परिवार का अर्थ और परिभाषा
10.2.1 परिवार की विशेषताऐं
10.2.2 परिवार का उद्विकास
10.2.3 परिवार के प्रकार्य
2.3 परिवार के प्रकार
2.4 परिवार में आधुनिक परिवर्तन
2.5 नातेदारी
10.5.1 नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषाएं
10.5.2 वंशानुक्रम तथा नातेदारी
10.5.3 नातेदारी के प्रकार
10.5.4 नातेदारी की श्रेणियां
2.6 नातेदारी की रीतियां
2.7 सारांश
2.8 परिभाषिक शब्दावली
2.9 बोध–प्रश्नों के उत्तर
2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
2.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 उद्देश्य–

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप को समझना संभव होगाः

- परिवार का अर्थ तथा परिभाषा को स्पष्ट करना;
- परिवार के प्रकारों को बताना;
- परिवार के प्रकार्य को बताना;
- वर्तमान समय में परिवार में हुए परिर्वतनों को बताना;
- नातेदारी के अर्थ तथा वंशावली को बताना;
- नातेदारी के प्रकार, श्रेणियां तथा रीतियों को बताना।

2.1 प्रस्तावना

प्राथमिक समूहों में परिवार का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक संरचना में परिवार की केन्द्रीय स्थिति है। परिवार समाज की आधारभूत संरचना है। परिवार जहाँ मनुष्य जन्म लेता है, चलना सीखता है, परिवार की भाषा, सांस्कृतिक परम्परायें सीखता है, अपनी बाल्यावस्था का अधिकांश समय बिताता है। समाज चाहे पुराना हो या नया, आदिम हो या सभ्य, आकार में बड़ा हो या छोटा, सभी में परिवार की आवश्यकता प्रजनन और बच्चों के समुचित पालन–पोषण के

लिए रही है। परिवार के द्वारा ही वह बाहरी दुनिया से परिचित होता है, सभी सांसारिक क्रियाओं और उनसे सम्बन्धित व्यवहार के प्रतिमानों को सीखता है। वास्तविक अर्थो में परिवार व्यक्ति के लिए सार्वभौम समूह का कार्य करता है। वह परिवार ही है जो विश्व के हर एक धर्म, संस्कृति या क्षेत्र–विशेष से सम्बन्धित व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाता है। परिवार सभी जगह विद्यमान है जैसे जनजाति, समाज, ग्रामीण समुदाय, नगर, महानगर सभी तरह की सामाजिक व्यवस्था में परिवार अपना विशेष अस्तित्व रखता है। हालांकि यह ज़रूरी नहीं है कि, पारिवारिक संरचना का स्वरूप हमेशा एक जैसा ही हो बल्कि यह विविध स्वरूप एवं आकार में पाया जाता है। उदाहरण स्वरूप पश्चिमी देशों के समाज में परिवार का स्वरूप अधिकांशतः मूल या दाम्पत्य परिवार का, भारतीय नगरों में लघु परिवार तथा भारतीय गांवों में संयुक्त या विस्तृत परिवार का मिलता है। कुछ समाज वैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति ही समाज की आधारभूत इकाई है, जिससे समाज का निर्माण हुआ है। परन्तु यह व्यक्तियों का एक समूह मात्र न होकर, अनेक प्रकार के छोटे–बड़े समूहों से बना एक विशाल समूह है। परिवार के बिना समाज की कल्पना करना सम्भव नहीं है और परिवार, विवाह तथा नातेदारी एक–दूसरे से जुडी हुई हैं। नातेदारी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है जिनसे हमारा संबंध वंशावली के आधार पर होता है और वंशावली सम्बन्ध परिवार से पैदा होता है एवं परिवार पर निर्भर होते हैं।

2.2 परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

परिवार अंग्रेजी भाषा के Family का पर्याय है। Family शब्द लैटिन भाषा के Famulus से उत्पन्न हुआ है। जिसका प्रयोग माता–पिता, बच्चे, नौकर–दास युक्त समूह के अर्थ में किया गया है। सामान्यतया विवाहित युगल को परिवार कह दिया जाता है जोकि, समाजशास्त्रीय और जैविकीय दृष्टिकोण से सही प्रतीत नहीं होता है। जैविकीय दृष्टि से परिवार को ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसके अन्तर्गत स्त्री एवं पुरूष को यौन–सम्बन्ध और सन्तान उत्पन्न करने के लिए सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार स्त्री–पुरूष के योग से बना ऐसा समूह है जिसका निर्माण वैवाहिक सम्बन्ध, रक्त सम्बन्ध या गोद लेने की प्रक्रिया से होता है। इस प्रकार के समूह में भूमिकाओं का निर्वहन, साधारण या आयु, लिंग और अन्य सम्बन्धों के आधार पर किया जाता है और समाज में इसकी पहचान एक घर या उपघर के रूप में होती है।

जार्ज पीटर मुरडॉक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशियल स्ट्रक्चर' में विभिन्न समाजों में परिवार का गहरा अध्ययन कर उसकी एक सर्वमान्य परिभाषा दी है –

"परिवार एक सामाजिक समूह है जिसकी विशेषता सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और प्रजनन है। इसमें वयस्क पुरूष और स्त्री, जिनमें से कम–से–कम दो के बीच में समाज द्वारा वैध यौन सम्बन्ध होते हैं और एक या अधिक बच्चे स्वयं को या दत्तक सम्मिलित करते हैं।"

हेरी एम0 जानसन "उन दो या दो से अधिक व्यक्तियों का ऐसा समूह जो रक्त, विवाह या गोद लिये जाने से सम्बन्धित हों और जिसमें यह सभी साथ–साथ रहते हों, ऐसे सभी व्यक्ति एक परिवार के सदस्य माने जाते हैं।"

जुकरमेन ने लिखा है " एक परिवार समूह पुयष स्वामी, उसकी स्त्री या स्त्रियों और उनके बच्चों से मिलकर बनता है और कभी–कभी इसमें एक या अधिक अविवाहित पुरूष भी सम्मिलित होते हैं।''

बिन्सेज और बिन्सेज के अनुसार, " परिवार की परिभाषा एक दृष्टिकोण से यह की जा सकती है कि एक स्त्री बच्चों के सहित और एक पुरूष उनकी देख रेख करने हेतु।''

मैकाइवर एवं पेज "परिवार एक ऐसा समूह है जो स्त्री–पुरूष के यौन–सम्बन्ध पर आधारित है और यह समूह इतना सुनिश्चित और टिकाऊ होता है कि, इसके माध्यम से प्रजनन–क्रिया और बच्चों के पालन–पोषण की समुचित व्यवस्था होती है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से कहा जा सकता है कि परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसे स्थाई निवास, आर्थिक सहयोग एवं प्रजनन के आधार पर अन्य समूहो से अलग किया जा सकता है और हम परिवार को जैविकीय सम्बन्धों पर आधारित एक सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित कर सकते हैं ,जिसमें माता–पिता और बच्चे होते हैं।

2.2.1 परिवार की विशेषता

1– सार्वभौमिक –सभी सामाजिक संस्थाओं की तुलना में परिवार एक ऐसी संस्था है जो सबसे अधिक सार्वभौमिक और व्यापक है। अर्थात् समाज के विकास का सबसे पहला चरण हो या आधुनिक खण्ड, सभी में परिवार की किसी–न–किसी रूप में अनिवार्य उपस्थिति होती है। अर्थात परिवार रूपी संस्था सभी कालों और सभी स्थानों पर पायी जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में कभी न कभी, किसी न किसी परिवार का सदस्य अवश्य रहा है। और भविष्य में भी रहेगा।

2– यौन–सम्बन्ध –परिवार के अंतर्गत कम से कम एक पुरूष और एक स्त्री के बीच विवाह–प्रथा के दायरे में यौन– सम्बन्ध स्थापित होते हैं। कभी–कभी पति या पत्नी में से किसी

एक की मृत्यु हो जाने के कारण या विवाह में संबंध–विच्छेद हो जाते हैं तब ऐसी स्थिति में यौन सम्बन्ध नहीं होते और केवल माता या पिता के द्वारा ही परिवार बनता है। सार रूप में हम यह भी कह सकते हैं कि, परिवार में विवाह का स्वरूप चाहे जो भी हो, यह एक संस्था के रूप में अवश्य होता है और यह समाज में यौन–सम्बन्ध को केवल विवाह के द्वारा ही मान्यता प्रदान करता है।

3– सीमित आकार –प्राणीशास्त्रीय दशाओं के कारण परिवार का आकार सीमित होता है। साधारणतया पति–पत्नी और बच्चों को एक परिवार की संज्ञा दी जाती है। जब इन सदस्यों के अलावा कुछ अन्य पारिवारिक सदस्य भी होते हैं, तब यह विस्तारित परिवार कहलाता है। आधुनिक समय में परिवार का आकार काफी संकुचित होने लगा है। परिवार की सदस्यता जैविक होने के कारण परिवार के सदस्यों की संख्या सीमित होती है, अन्य किसी समुदाय या किसी बड़ी समिति की तरह असीमित नहीं होती है।

4– भावनात्मक आधार– एक परिवार के सदस्यों के बीच विशेष प्रकार का भावनात्मक सम्बन्ध भी विकसित हो जाता है जो एक मजबूत बन्धन में सभी सदस्यों को एक–दूसरे से जोड़े रखता है। यह बन्धन इतना अधिक शक्तिशाली और स्नेहपूर्ण होता है कि, परिवार के सदस्य एक–दूसरे के हितों की जी–जान से रक्षा करने, उनके लिए त्याग करने से पीछे नहीं हटते, यह सब उनके मध्य विद्यमान प्रेम, स्नेह और सहयोग के कारण ही सम्भव है। परिवार के संगठन को बनाये रखने में इन भावनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।

5– सामान्य निवास – प्रत्येक परिवार के सदस्य एक स्थान में साथ–साथ निवास करते हैं। परिवार को 'परिवार' की संज्ञा देने हेतु कम–से–कम पति–पत्नी का उसमें रहना आवश्यक है। अस्थायी रूप से अलग रहने पर भी परिवार का स्वरूप बना हुआ माना जाता है। यह निवास मातृस्थानिक भी हो सकता है जैसे नायर। एस सी दुबे ने ऐसे परिवारो का नव स्थानिक कहा जो विवाह के पश्चात नवदम्पत्ति एक दूसरे के मूल परिवार में जाकर निवास नही करते बल्कि अपना नया निवास बनाकर रहते है।

6– अर्थव्यवस्था –यौन–सम्बन्धों की स्वीकृति मिलने–मात्र से ही परिवार को नहीं बनाया जा सकता है, बल्कि कई अन्य कारक भी इस हेतु बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं जिनमें से एक प्रमुख प्रेरक है आर्थिक–बन्धन। प्रत्येक परिवार में अपने सदस्यों के भरण–पोषण के लिए कोई–न–कोई आर्थिक क्रिया अवश्य सम्पन्न की जाती है। इस सम्बन्ध में लेवी स्ट्राडम के विचारों को यहाँ पर उद्धृत किया जा सकता है, उन्होंने आदिम समाजों का मुख्य आधार आर्थिक–सम्बन्धों को माना।

7– सामाजिक नियमन – परिवार के कुछ विशेष सामाजिक नियम और परम्परायें होती हैं, जिनका ज्ञान वह समस्त पारिवारिक सदस्यों को करवाता है। जैसे धार्मिक संस्कार,

विवाह–सम्बन्धी नियम, खान–पान सम्बन्धी नियम, सामाजिक व्यवहार इत्यादि। परिवार यह भी सुनिश्चित करता है कि, सभी सदस्य नियम के अनुसार आचरण करें और पारिवारिक परम्पराओं को सही तरीके से निभाएँ। प्रथाओं और परम्पराओं द्वारा प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखता है और सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में सहयोग देता है।

8– **रचनात्मक प्रभाव**– बच्चा परिवार में ही अच्छी और बुरी बातें सीखता है। परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है जहाँ उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास होता है। मानव का व्यवहार, मनोवृत्तियों, आदतों आदि का निर्माण पारिवारिक वातावरण में होता है।

बोध–प्रश्न 1

(i) परिवार की मुख्य दो विशेषताओं का वर्णन कीजिए ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

(ii) परिवार प्रत्यय की व्युत्पत्ति हुई है?

1.ग्रीक शब्द 'फेमिलियरेटी' से
2. रोमन शब्द 'फेमिलाइन' से
3. लैटिन शब्द 'फैम्यूलस' से
4.उपरोक्त में से कोई नहीं

2.2.2 परिवार का उद्विकास

परिवार की उत्पत्ति का उद्विकासीय सिद्धांत सर्वप्रथम अमेरिकन मानवशास्त्री मॉर्गन ने प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि समाज की आरंभिक अवस्था में परिवार और विवाह नाम की कोई संस्था नहीं थी। उन्होनें यौन साम्यवाद को समाज की आरंभिक अवस्था में परिवार और विवाह की स्थिति बताया है। मॉर्गन ने उद्विकास के आधार पर परिवार के पाँच प्रकार बताये–

1. समरक्त परिवार– परिवार के उद्विकास का प्रथम चरण माना जाता है। इस स्तर में भाई–बहन के बीच यौन–सम्बन्ध होते थे। इस व्यवस्था में विवाह के कोई सामाजिक नियम या प्रतिबन्ध नहीं थे।

2. समूह विवाह परिवार– मॉर्गन के अनुसार पूनालुअन परिवार को उद्विकास का दूसरा चरण माना जाता था। पूनालुअन परिवार का तात्पर्य ऐसे परिवार से था जिसमें सामूहिक विवाह का प्रचलन था। इस स्तर में एक परिवार के सभी भाई–बहन की शादी दूसरे परिवार के सभी बहन–भाई से होती थी।

3. सिण्डियास्मियन परिवार– यह परिवार के विकास का तीसरा स्तर माना जाता था। इस परिवार के अर्न्तगत एक पुरूष का विवाह एक स्त्री से होता था लेकिन, परिवार के सभी पुरूष विवाहित स्त्रियों के साथ समान रूप से यौन–सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे।

4. पितृसत्तात्मक परिवार– पितृसत्तात्मक परिवार में प्रमुख अधिकार पुरूषों में केन्द्रित होता है। वह एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता है।

5. एक विवाही परिवार – एक विवाही परिवार, परिवार के उद्विकास का अन्तिम और आधुनिक स्तर है। इसमें एक पुरूष किसी एक ही स्त्री से विवाह करता है और उसी से यौन–सम्बन्ध स्थापित रखता है।

2.2.3 परिवार के प्रकार्य

परिवार समाज की मौलिक एवं सार्वभौमिक संस्था है। परिवार के अनेक कार्य होते है। परिवार के प्रकार्यों का निर्धारण पारिवारिक संरचना और समाज की प्रकृति द्वारा किया जाता है। प्रत्येक काल और समाज में परिवार का भिन्न स्वरूप दिखता है जिस कारण स्वाभाविक रूप से प्रकार्यो में भी भिन्नता दिखाई देती है। अनेक विद्वानों द्वारा परिवार के प्रकार्यो पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है, जिनका हम संक्षेप में उल्लेख इस प्रकार करेंगे –

गुडे ने परिवार के जिन प्रकार्यों का उल्लेख किया है उनमें प्रमुख हैं –

1– बच्चों का प्रजनन
2– पारिवारिक सदस्यों का भौतिक अनुरक्षण
3– बच्चों और वयस्कों के सामाजिक स्थान का निर्धारण
4– समाजीकरण तथा भावनात्मक सहारा और
5– सामाजिक नियंत्रण

हॉटर्न एवं हण्ट ने परिवार के प्रमुख प्रकार्यों की चर्चा इस प्रकार की है –

1– यौन–नियंत्रण प्रकार्य
2– प्रजनन प्रकार्य
3– समाजीकरण प्रकार्य
4– स्नेहात्मक प्रकार्य
5– सामाजिक स्थिति निर्धारण सम्बन्धी प्रकार्य
6– सुरक्षात्मक प्रकार्य
7– आर्थिक प्रकार्य।

1– जैविकीय प्रकार्य – परिवार के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यो में से एक है, यौन–सन्तुष्टि प्रदान करना। यौन इच्छा वास्तव में मनुष्य की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है। इस इच्छा की पूर्ति परिवार में स्थाई रूप से हो सकती है। इसके अलावा प्रजनन–क्रिया जैविकीय प्रकार्य का महत्त्वपूर्ण कारक है जो कि, मनुष्य के अस्तित्व और मानव–समाज में निरन्तरता बनाये रखने के लिए बहुत आवश्यक है। जब सभ्यता अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में थी, तब मानव ने उन्मुक्त यौन–व्यवहार और अव्यवस्थित प्रजनन के गलत परिणामों को अनुभव कर यौन–सम्बन्ध और प्रजनन–क्रिया को 'परिवार' की संकल्पना द्वारा सामाजिक नियमों में बाँध कर सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। प्रजनन एक ऐसी क्रिया है, जिसमें मानव की अनेक मनोवृत्तियाँ अनेक रूपों में शरण लेती हैं। सन्तान के रूप में वंशज–प्राप्ति का संतोष इसका प्रमुख उदाहरण है। वंशज हेतु वह सम्पत्ति का संग्रह करता है और वंशज के ही रूप में अपनी स्मृति और विरासत की सुरक्षा भी करता है। वास्तव में परिवार यौन इच्छाओं की पूर्ति का सर्वोत्तम स्थान है।

2–सन्तानोत्पत्ति– परिवार का सन्तानोत्पत्ति का कार्य पमुख है जो प्रत्येक काल और समाज में इसके द्वारा किया जाता रहा है। सभी स्त्री पुरूषें में माता– पिता बनने की मूल प्रवृत्ति साधारणतः पाई जाती है, जिसकी संतुष्टि परिवार में ही होती है। परिवार से वाहर सन्तानोत्पत्ति का सामाजिक दृष्टि से सम्भव नही है यदि ऐसा होता है तो ऐसी संतान को अवैध सन्तानों की मान्यता प्रदान होती है। अतः परिवार का कार्य मानव समाज के अस्तित्व और निरन्तरता को बनाये रखने में योग देता है।

3–आर्थिक प्रकार्य– आर्थिक नियोजन परिवार का सबसे मजबूत आधार है। समाज में परिवार के सदस्यों का सही तरीके से पालन–पोषण करने के लिये आर्थिक साधनों का प्रबन्धन परिवार ही करता है। जिन समाजों में अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित होती है, वहाँ उत्पादन की एकमात्र इकाई 'परिवार' होती है। मानव समाज की आदिम अवस्थाओं में जैसे दस्तकारी, गृह–उद्योग, पशुपालन, शिकार इत्यादि में परिवार द्वारा उत्पादन होता था। वर्तमान में भी औद्योगिक अवस्था वाले समाज में निर्माण का कार्य परिवार के स्त्री–पुरूषों तथा बच्चों द्वारा किया जाता है। पारिवारिक व्यवस्था में कार्य का विभाजन परिवार के सभी सदस्यों में आयु और लिंग के आधार पर किया जाता है। पुरूष बाहरी कार्य करते हैं तो स्त्री गृह कार्य तथा बच्चे छोटे–मोटे कार्य करते हैं। अतः परिवार के सदस्यों में श्रम–विभाजन आर्थिक सहयोग का प्रमुख कारक है। संक्षेप में परिवार को ऐसी आर्थिक इकाई कहा जा सकता है जो कि, आर्थिक सुरक्षा, सम्पत्ति को जमा करने और प्राप्त करने का माध्यम है।

4–सामाजिक प्रकार्य – परिवार के जैविकीय और आर्थिक प्रकार्यों के अतिरिक्त सामाजिक प्रकार्य भी हैं, जिनके अन्तर्गत बच्चों की देखभाल करना, उनको सामाजिक व्यवहार और उठने–बैठने की शिक्षा प्रदान करना आदि महत्त्वपूर्ण कार्य आते हैं जो परिवार द्वारा संचालित किये जाते हैं। परिवार में रहकर ही व्यक्ति भाषा, रीति–रिवाज, परम्परा, आचार–विचार का सही तरीका और व्यवहार–सम्बन्धी अन्य कार्य सीखता है। पारिवारिक सदस्यों के समाजीकरण, सामाजिक–नियंत्रण और उनके व्यवहारों के नियमन हेतु परिवार अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

5–मनोवैज्ञानिक प्रकार्य – मनुष्य के मन में ऐसी इच्छा होती है कि, उसे प्रेम–स्नेह, करूणा–सहानुभूति और भावनात्मक सुरक्षा मिले। मनुष्य एक संवेदनशील प्राणी होने के कारण उसकी भावनाओं, संवेगों और संवेदनाओं को समुचित रूप से विकसित करने का मनोवैज्ञानिक प्रकार्य परिवार द्वारा सबसे अधिक कुशलतापूर्वक किया जाता है। परिवार ही मनुष्य के सामाजिक व्यवहारों के साथ मानसिक व्यवहारों का भी पर्याप्त पोषण, नियमन और नियंत्रण करता है। बालको को वात्सल्य और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा परिवार में ही माता–पिता, भाई–बहन तथा अन्य सदस्यों के साथ रहते हुय प्राप्त होती है। परिवार का मानसिक सुरक्षा प्रदान करने वाला प्र्यावरण बालक में आत्म विश्वास जाग्रत करता है। वह उसके स्वस्थ्य विकास में योग देने के साथ ही व्यक्तित्व विकास के निमाग्ण में अपूर्व सहायता करता है। इलियट और मैरिल पे परिवार के इस कार्य के सबंध में लिखा है कि स्नेह कार्य की सुरक्षात्मक तथा उपयोगितावादी विशेषता भी है। विविाहित पुरूष अविवाहित पुरूषों की तुलना में अधिक स्वस्थ प्रतीत होता है। बर्गेस और लॉक ने इस कार्य की महत्ता के संबंध में लिखा है '' पारस्परिक स्नेह, विवाह और परिवार का अनिवार्य आधार बनता जा रहा है।

5– सुरक्षात्मक प्रकार्य –परिवार अपने सदस्यों को जीवन के प्रत्येक स्तर पर शारीरिक सुरक्षा प्रदान करने का काम करता है। वृद्धावस्था, बीमारी, दुर्घटना, असहाय–अवस्था, विकलांगता,

आदि अवस्था में परिवार ही अपने सदस्यों की देख–रेख और सेवा करता है। परिवार न केवल शारीरिक सुरक्षा प्रदान करता है बल्कि अपने सदस्यों के लिए भोजन, वस्त्र तथा निवास की व्यवस्था भी करता है। परिवार अपने सदस्यों के दुःख ,तनाव, संघर्ष, आदि विभिन्न परिस्थितियों में सुरक्षा प्रदान कर इनसे निपटने में मदद करता है।

बोध–प्रश्न 2

(i) परिवार के सामाजिक व मनोवैज्ञानिक प्रकार्यों को संक्षिप्त रूप में उल्लेख कीजिए ?

.....

.....

.....

.....

22.3 परिवार के प्रकार

संसार के विभिन्न क्षेत्रों में परिवार के स्वरूपों में भिन्नता दिखाई पड़ती है। इसका कारण प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का अलग–अलग होना है। मानव समाज के विकसित होने के साथ–साथ विविध प्रकार की पारिवारिक व्यवस्थाओं का अस्तित्व सामने आया है। परिवार के इन विभिन्न प्रकारों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

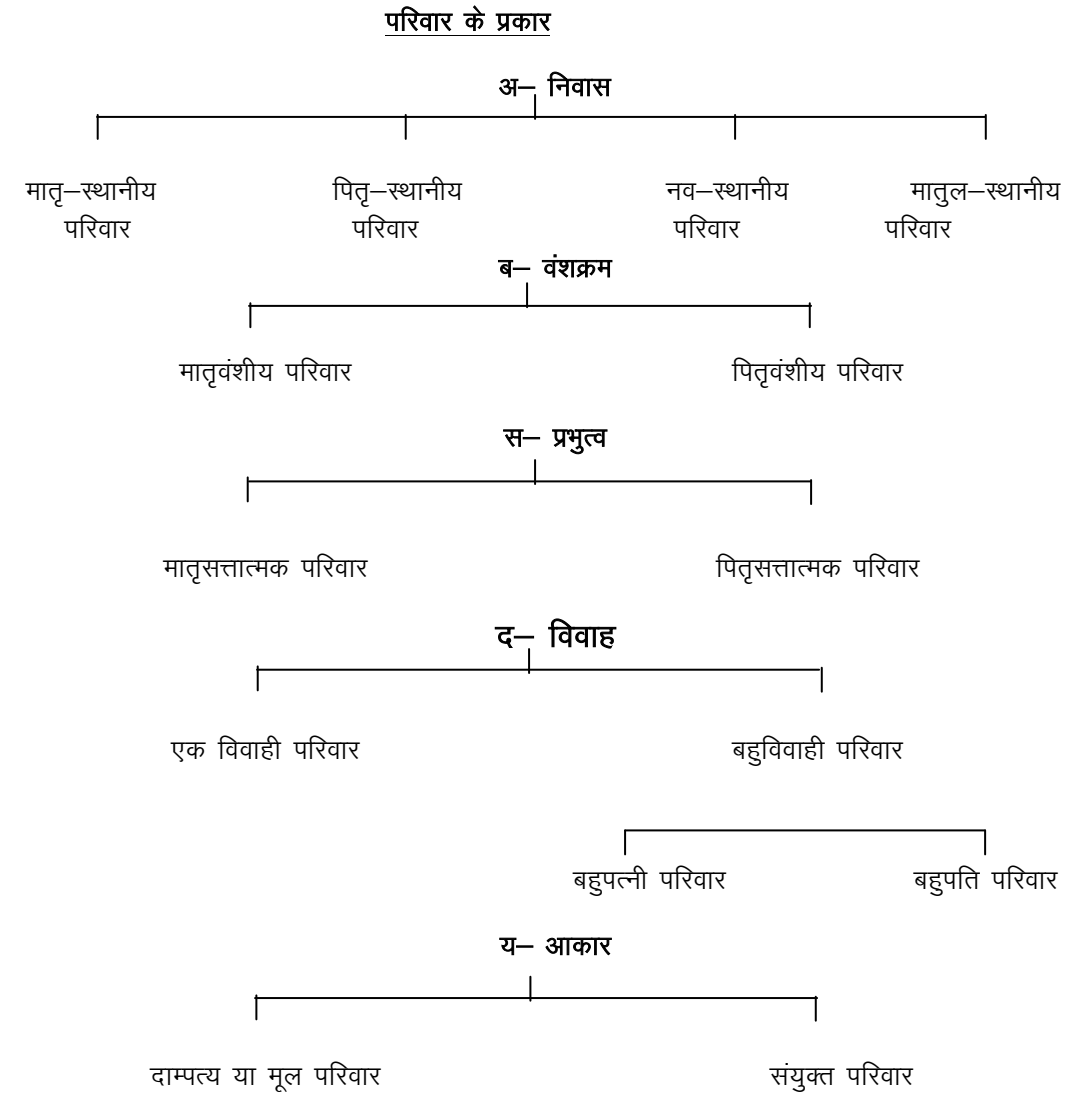

अ– <u>निवास के आधार पर परिवार के चार प्रकार होते हैं</u>–

1– मातृस्थानीय परिवार – ऐसी पारिवारिक व्यवस्था जिसमें विवाह के बाद नवदम्पत्ति पत्नी के माता–पिता के निवास–स्थान पर रहते हैं, मातृस्थानीय परिवार कहलाता है। मातृस्थानीय परिवार स्वाभाविक रूप से मातृसत्तात्मक होता है। ऐसे परिवार तमें बच्चे भी अपने पिता के परिवार में न रहकर माता के परिवार में ही रहते हैं। अधिकतर ऐसे परिवार मालाबार के नायरों तथा खासी आदि जातियों में पाए जाते हैं।

2– पितृस्थानीय परिवार – अनेक विद्वानों के विचारानुसार जब पत्नी विवाह के बाद अपने पति के घर पर रहती है, तो यह पितृस्थानीय परिवार कहलाता है। जॉनसन के मतानुसार पितृस्थानीय का सीधा अर्थ यह होता है कि, विवाह के बाद पत्नी अपने पति के पुराने घर के आस–पास या उसके समुदाय में एक नयी सदस्या के रूप में रहती है। इसके लिए पत्नी का पति के माता–पिता के साथ रहना जरूरी नहीं है। पितृस्थानीय परिवार पितृ–सत्तात्मक भी होता है। क्योंकि, इसमें नये परिवार के निवास की परम्परा का पुरूष की ओर से निर्धारण होता है।

3– नवस्थानीय परिवार – यह पारिवारिक व्यवस्था आधुनिक समाज की देन है। इसमें नव–दम्पत्ति दोनों ही एक दूसरे के पिता के घर में जाकर निवास नहीं करते और अपना नया घर बसा कर रहते हैं तारे ऐसे परिवार को नवस्थानीय परिवार कहते हैं। वर्तमान में बदली हुई परिस्थितियों में ऐसे परिवार बनने लगे हैं।

4– मातुल–स्थानीय – इस व्यवस्था में नवदम्पत्ति का घर पति के मामा के भाई (मामा) का निवास–स्थान होता है। ट्रोब्रियण्ड द्वीपवासी इस तरह के आवास प्रतिमान के लिए प्रसिद्ध हैं।

(ब)– <u>वंशक्रम के आधार पर परिवार दो प्रकार के होते हैं</u> –

1– मातृवंशीय परिवार – जिस परिवार व्यवस्था में वंश–परम्परा माता के नाम से चलती है और माता से पुत्रियों को वंशनाम मिलता है वह मातृवंशीय परिवार कहा जाता है। यहाँ बच्चों का वंश माता के वंश द्वारा पहचाना जाता है।

2– पितवंशीय परिवार – जिस परिवार व्यवस्था में वंश परम्परा पिता के नाम से चलती है और पत्नी विवाह के बाद अपने पति का उपनाम लगाती है, वह पितृवंशीय परिवार कहलाता है। इस व्यवस्था में बच्चों का वंश पिता के वंशनाम के अनुसार चलता है। हिन्दुओं में पितृवंशीय पारिवारिक व्यवस्था का निर्वाह किया जाता है।

(स)– <u>प्रभुत्व के आधार पर परिवार दो प्रकार के होते हैं</u> –

1– पितृसत्तात्मक परिवार – जिन परिवारों में सत्ता, अधिकार एवं नियंत्रण पिता और पुरूषों के हाथ में होता है जहां महत्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं, जहां वही परिवार का केन्द्र होता है, जहां उसी का प्रभुत्व होता है, वह पितृसत्तात्मक परिवार होते हैं। विश्व के अधिकतर समाजों में पितृसत्तात्मक परिवार ही सबसे अधिक प्रचलित हैं। ऐसे परिवारों में पुरूष की स्थिति माता से उच्च होती है।वही परिवार का कर्ता–धर्ता होता है और सब सदस्यों पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है।

2– मातृसत्तात्मक परिवार – मातृसत्तात्मक परिवार में माता ही परिवार का केन्द्र होती है। ऐसे परिवार में स्त्री को ही मूल पर्वज माना जाता है। जब सत्ता तथा अधिकार स्त्री के हाथ में होते हैं तथा पारिवारिक नियंत्रण बनाए रखने का कार्य भी उसी के द्वारा होता है ,तब यह मातृसत्तात्मक परिवार होता है। कभी–कभी कोई पुरूष भी उसकी ओर से यह कार्य कर सकता है। बच्चों का पालन पोषण तथा शिक्षा आदि का प्रबंध लड़की के माता पिता या भाई करता है। ऐसे परिवार में स्त्री की स्थिति पुरूष से उच्च होती है और वही परिवार का संचालन करती है। ऐसे परिवार में पुत्र को सम्पत्ति का अधिकार नहीं होता बल्कि माता का भाई अथवा बहन का लड़का सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। वर्तमान में मालाबार तथा असम में ऐसे परिवार पाए जाते है। भारत में नायर, खासी आदि लोगों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। नायर लोगो में ऐसे मातृसत्तात्मक परिवार को तारवाड कहते है।

(द)– <u>विवाह के आधार पर परिवार के दो प्रकार होते हैं</u> –

विवाह संबंध के आधार पर परिवार के मुख्यतः दो प्रकार पाए जाते हैं–

1– एक विवाही परिवार – एक विवाही परिवार एक पुरूष और एक स्त्री के वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा बनता है। इस प्रकार के परिवार में पुरूष या स्त्री के अविवाहित और आश्रित बच्चे भी साथ में रह सकते हैं या नहीं भी रह सकते हैं। एक विवाही परिवार में पुरूष एक समय में एक स्त्री से विवाह कर सकता है, किन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद पुरूष व पुरूष की मृत्यु के बाद पत्नी या विवाह–विच्छेद होने पर वह पुर्नविवाह कर सकते हैं। वर्तमान में एक विवाही परिवार को परिवार का आदर्श रू‍प माना जाता है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में ऐसे परिवार अधिक पाए जाते हैं।

2– बहुविवाही परिवार – ऐसे परिवारों में एक समय में एक से अधिक जीवनसाथी स्वीकृत होते हैं। इनके अनेक रूप हैं जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है–

(1)–बहुपत्नी परिवार– बहुविवाह के अन्तर्गत बहुपत्नी विवाह प्रथा सबसे ज़्यादा प्रचलित रही है। बहुपत्नी–परिवार में एक पुरूष कई स्त्रियों से विवाह कर सभी को एक ही पारिवारिक इकाई के रूप में रखता है। ऐसे परिवार में एक पुरूष की एक से अधिक पत्नियां होती हैं। हिन्दुओं में प्रायः इस प्रकार के परिवार नही पाए जाते हैं परन्तु मुसलमानों में एक पुरूष को चार तक पत्नियाँ रखने की स्वीकृति मिली हुई है।

(2)–बहुपति परिवार – जहाँ एक स्त्री एक समय में एक से अधिक पुरूषों से विवाह करती हो तो उसे बहुपति विवाह परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार में सभी पतियों का पत्नी नर समान अधिकार होता है। इसके भी दो रूप हैं–

(क) भ्रातृबहुपति परिवार– ऐसे परिवारों में एक स्त्री के कई पति होते हैं जो आपस में भाई–भाई होते हैं।

(ख) अभ्रातृबहुपतिक परिवार– इस प्रकार के परिवारों में पति एक–दूसरे के भाई न होकर अन्य रिश्तेदार भी हो सकते हैं। इसका प्रचलन बहुत कम है।

बहुविवाह के अन्तर्गत सम्मिलित परिवार की अवधारणा को समझना महत्त्वपूर्ण है। जिस समाज में बहुविवाह की प्रथा को माना जाता है वहाँ सम्मिलित परिवार पाया जाता है। इसका

निर्माण तभी होता है जब एक पति और उसकी एक से अधिक पत्नियाँ अथवा एक पत्नी और एक से अधिक पति होते हैं।

(य)– <u>आकार के आधार पर परिवार दो प्रकार के होते हैं</u> –

1– मूल या दाम्पत्य परिवार – मूल परिवार आकार और संगठन की दृष्टि से सबसे छोटा होता है। यह पति–पत्नी और उन पर आश्रित बच्चों के योग से बनता है। इस प्रकार के परिवारों का होना आधुनिक औद्योगिक समाजों की मुख्य देन है। दाम्पत्य परिवार में मात्र दो ही प्रकार के लोग होते हैं, पति–पत्नी और अविवाहित बच्चे साथ ही इसमें अधिकतम दो पीढ़ी तक के लोग होते हैं। मूल परिवार, परिवार का सबसे छोटा और प्रचलित रूप है।

मूल परिवार को वार्नर ने दो भागों में विभक्त किया है –

1– प्रभव परिवार

2– प्रजनन परिवार

1– प्रभव परिवार – यह वह परिवार है जिसमें व्यक्ति का जन्म और शिक्षा– दीक्षा होती है। सामान्यतः व्यक्ति के संस्कारों का बीजारोपण इसी परिवार में होता है। बच्चों के लिए उनके माता–पिता का परिवार प्रभव परिवार कहा जाएगा।

2– प्रजनन परिवार – जिस परिवार को युवक और युवतियाँ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर बनाते है तथा सन्तानोत्पत्ति करते है, उसे प्रजनन परिवार कहा जाता है।

मूल परिवार का स्वरूप समय के साथ प्रभव परिवार से प्रजनन परिवार में बदलता है और फिर प्रजनन परिवार उसके बच्चों के लिए प्रभव परिवार का रूप ले लेता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकार के समाज में परिवार विघटन की प्रक्रिया इसी प्रकार चलती रहती है।

2– संयुक्त परिवार – एक संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का एक विशेष समूह ह, जो सामान्यतया एक निवास स्थान में रहते हैं, एक रसोई में पका हुआ भोजन करते हैं, सामान्य सम्पत्ति के स्वामी होते हैं तथा किसी–न–किसी रूप में एक दूसरे के रक्त–सम्बन्धी होते हैं। भारतीय समाज में इस प्रकार के संयुक्त परिवारों का प्रचलन व्यापक रूप से है। इस प्रकार के परिवारों में दादा–दादी, चाचा–चाची तथा चचेरे भाई–बहनों आदि के रूप में कई पीढ़ियों के लोग एक साथ मिल–जुलकर रहते हैं।

बोध–प्रश्न 3

(i) आकार के आधार पर परिवार को कितने भागों में विभक्त किया जाता है? अपना उत्तर पांच पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2.4 परिवार में आधुनिक परिवर्तन

1–परिवार के आकार में कमी : वर्तमान समय में परिवार का आकार छोटा हो गया है। भारत में संयुक्त परिवार में विघटन स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। क्योंकि, उसमें दायित्वों में कमी तथा स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है। वर्तमान समय में परिवार नियोजन, महंगाई, शिक्षा का प्रसार, उच्च जीवन स्तर व्यतीत करने की लालसा आदि के कारण परिवार का आकार छोटा होता जा रहा है। औद्योगिकरण और नगरीकरण के चलते आधुनिक समाज में मूल परिवार और घर–बार की प्रधानता बढ़ती जा रही है साथ ही आधुनिक दम्पत्ति संतान के पक्ष में नहीं हैं और न ही वह परिवार के अन्य रिश्तेदारों को साथ में रखना पसन्द करते हैं।

2– व्यक्तिगत स्वास्थ्य की भावना में वृद्धि : पहले संयुक्त परिवार में सदस्यों के बीच परस्पर सहयोग, सहानुभूति और प्रेम की भावना अधिक होती थी। परन्तु आज परिवार का सदस्य अन्य सदस्यों की तुलना में स्वयं के बारे में अधिक सोचने लगा है। यही कारण है कि, परिवार के भाई–भाई अलग होकर स्वतंत्र रूप से अपना–अपना परिवार स्थापित कर रहें हैं। व्यक्ति अपने सगे–संबन्धियों से दूर हो रहा है और हमस ब में व्यक्तिवादिता का समावेश हो रहा है।

3– वैकल्पिक संस्थाओं का विकास : परिवार के कार्यों में बदलाव आये हैं। पहले परिवार उत्पादन और उपभोग की इकाई था। आधुनिक समाज में बहुत सारी ऐसी संस्थाओं का उदय हुआ जो परिवार के परम्परागत कार्यों को पूरा करने का प्रयास करती हैं। जहाँ पहले बच्चों का पालन–पोषण, शिक्षा–दीक्षा, बिमारी और बुढ़ापे में सेवा आदि परिवार के द्वारा होता था, वहीं अब इन कार्यों को अन्य संस्थाओं द्वारा ग्रहण कर लिया गया है।

4–परिवार के मुखिया के प्रभुत्व में कमी : परिवार के मुखिया के अधिकारों में भी आज कमी आई है। आमतौर से परिवार में मुखिया की सलाह या विचार से परिवार के सभी लोग विभिन्न कार्यों को करते हैं। परिवार का मुखिया एक बुजुर्ग आदमी हुआ करता था जो परिवार के विविध कार्यों के संचालन हेतु अपनी राय परिवार के सभी सदस्यों को दिया करता था। पारिवारिक मुद्दों पर उसका निर्णय अन्तिम होता था। परन्तु वर्तमान में परिवार के सभी सदस्य परिवार से जुड़े सभी मामलों पर आपस में मिल–जुलकर सब की सलाह सुनकर निर्णय लेते हैं। आज फैसला लेने की प्रक्रिया व्यक्तिवादी न होकर सामूहिक हो गई है। आज यह बात आम हो गई है कि परिवार का जो सदस्य सबसे ज्यादा कमाता है वह परिवार में कुछ ज्यादा अधिकार जताने की स्थिति में हो गया है।

5–विवाह के रूप में परिवर्तन : आधुनिक समाज में हिन्दू विवाह को एक धार्मिक–संस्कार की जगह एक प्रकार का समझौता मानने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसके फलस्वरूप परम्परागत समाज की तुलना में आधुनिक समाज में तलाक और परित्याग की समस्या दिन–ब–दिन समाज में बढ़ती जा रही है। जनगणना की वैवाहिक स्थिति के आँकड़ों के अनुसार भारत में तलाक की प्रक्रिया तेजी से बढ़ रही है। आज प्रेम विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन अधिक हुआ है । पाश्चात्य देशों में लोग बिना शादी किए पति–पत्नी की तरह जीवन बिताते हैं और उनसे बच्चे भी उत्पन्न होते हैं। वर्तमान में भारतीय समाज में भी ''लिव इन रिलेशनशिप'' यानि शादी से पहले पति–पत्नी के रूप में एक–दूसरे के साथ रहने का प्रचलन बढ़ रहा है।

6– स्त्रियों की दशा में परिवर्तन :– परम्परागत परिवारों में स्त्रियों की दशा दयनीय थी। उनका जीवन घर की चहारदीवारी तक ही सीमित था, लेकिन वर्तमान में स्त्री शिक्षा के समुचित प्रसार

और स्त्री–सुरक्षा तथा अधिकारों के लिए किये गए वैधानिक उपायों का सकारात्मक प्रभाव समाज में स्त्रियों की दशा पर पड़ा है। आज महिलाओं को भी पिता की सम्पत्ति में अपना भाग मिला है और वह भी नौकरी करके घर की जिम्मेदारियों में हाथ बँटा रही है, जिसके कारण परिवार में महिलाओं की बात को भी महत्त्व मिलने लगा है और परिवार में उसकी स्थिति पहले की तुलना में बहुत मजबूत हुई है।

7– अस्थायित्व :– परम्परागत परिवारों की तुलना में आधुनिक परिवार में अस्थिरता में कमी आयी है। वर्तमान में औद्योगिकरण, यातायात व संचार के साधनों, शिक्षा, नगरीकरण तथा आर्थिक–व्यवस्था के कारण लागों की गतिशीलता में वृद्धि हुई है। लोग धन कमाने और शिक्षा प्राप्त करने के लिए दूर–दूर स्थानों पर जाने लगे हैं। पति–पत्नी के बीच सामंजस्य का अभाव होने के कारण तलाक की संख्या में वृद्धि हुई है। आज व्यक्ति अपनी प्रस्थिति ऊँची करने के लिए परिवार की सम्पत्ति का बँटवारा तक कर रहा है।

परिवार की उत्पत्ति समझाते हुए परिवार की उसकी परिभाषा और विशेषताओं को समझाते हुए परिवार के प्रकार्य बताए हैं। परिवार के प्रकारों को निवास, वंशक्रम, प्रभुत्व, विवाह और आकार के आधार पर जिन उपप्रकारों में बाँटा गया है, उसके द्वारा परिवार का महत्त्व समझा जा सकता है और वर्तमान समय में इसके बदले हुए स्वरूप को माता–पिता और उनके बच्चों तक सीमित एकाकी परिवारों के रूप में देखा जा सकता है।

2.5 नातेदारी का अर्थ व परिभाषाएं

नातेदारी का एक अर्थ जैविक है दूसरा अर्थ व्यवहार संबंधी है और तीसरा भाषा संबंधी। ऐसे व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों की व्यवस्थाएं है जोकि प्रजनन एवं वास्तविक वंशावली के आधार पर परस्पर सम्बन्धित है अर्थात रक्त सम्बन्धी तथा विवाह सम्बन्धों के आधार पर परस्पर एक दूसरे से जुड़े व्यक्ति नातेदारी व्यवस्था का निर्माण करती है। थियोडरसन और थियोडरसन ने नातेदारी समूह पर लिखा है कि ''प्रस्थितियों व भूमिकाओं की प्रथागत व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो विवाह द्वारा अथवा एक ही पूर्वज की संततियां होने के कारण परस्पर संबद्ध लोगों के व्यवहार को नियमित, नियंत्रित और निर्धारित करता है।'' थियोडरसन और थियोडरसन के अनुसार ''वह सामाजिक सम्बन्ध जो पारिवारिक सम्बद्धता पर आधारित हो।'' मरडॉक के अनुसार ''सम्बन्धों की ऐसी संरचनात्मक व्यवस्था जिसे नातेदार एक–दूसरे से बड़े जटिल अन्तः गठबन्धनों से बंधे हो।'' सरल शब्दों में नातेदारी समूह एक ऐसा समूह है जिसक सदस्य रक्त अथवा विवाह के बंधन के आधार पर परस्पर जुड़े होते हैं।

2.5.1 नातेदारी के प्रकार

नातेदारी का आधार संबंध और सामाजिक अन्तःक्रिया है। नातेदारी दो प्रकार की होती है।

1 समरक्तीय नातेदारी– नातेदारी का निर्धारण जन्म से होता है जिस परिवार में व्यक्ति जन्म लेता है उसके सदस्यों के साथ उसका रक्त संबंध होता है।। माता पिता के साथ सन्तान में और सहोदर में रक्त संबंध होता है। अर्थात रक्त संबंधी नातेदारी में वे लोग आते है जोकि समान रक्त के आधार पर एक दूसरे से सम्बन्धित होते है। माता पिता और उनके बच्चों के बीच अथवा दो भाइयों या दो भाई–बहन के बीच रक्त संबंध पाए जाते है। रक्त संबंधों का आधार केवल जैविक न होकर समाजशास्त्रीय भी है क्योंकि जिन समाजों में बहुपति प्रथा का प्रचलन होता है। प्राणीशास्त्रीय आधार पर निश्चित करना असम्भव होता है कि कौन सी संतान

किस की है। यद्यपि प्राणीशास्त्रीय आधार पर गौण मानकर समाजशास्त्रीय आधार अर्थात पितृत्व को अधिक मान्यता प्रदान की जाती है।

2. वैवाहिक नातेदारी– विवाह के बंधन पर आधारित संबंधों को वैवाहिक नातेदारी कहते है। विवाह के माध्यम से न केवल वर–वधू में संबंध स्थापित होता है वरन् दोनों परिवारों के अन्य सदस्यों के मध्य संबंध स्थापित होते हैं। जैसे बहनोई, जीजा साढू भाई आदि।

बोध प्रश्न–4

(i) नातेदारी को कितने भागों में विभक्त किया जाता है? अपना उत्तर पांच पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.5.2 वंशावली तथा नातेदारी–

यह सिद्धांत या सिद्धातों की वह समष्टि जिसके आधार पर किसी के रिश्तेदारों का निर्धारण होता है। तकनीकि रूप से उत्तराधिकारी के नियम कहलाते हैं। वंशानुक्रम शब्द का अर्थ उन मान्यता प्राप्त सामाजिक संबंधों से है जिन्हे एक व्यक्ति अपने पूर्वजों के साथ जोड़ता है और पूर्वज वह है जिसकी वह संतान है। किसी भी व्यक्ति के वंशानुक्रम को या तो उसके पिता के परिवार से या माता के परिवार से या दोनों से गिना जाता है। वंशानुक्रम के मूलतः तीन नियम है।

1. पितृवंशीय
2. मातृवंशीय
3. उभयवंशी

पितृवंशीय वंशानुक्रम के नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक रूप यसे अपने पिता के समरक्त नातेदारी समूह का सदस्य बन जाता है परन्तु वह माता के समरक्त नातेदारी समूह के समरक्त नातेदारी समूह के सदस्य नही होतें। मातृवंशीय वंशानुक्रम के नियम के अनुसार एक व्यक्ति अपनी मां के समरक्त नातेदारी समूह की ओर से गिना जाता है पर पिता के समरक्त समूह का सदस्य नही बन पाता। द्विवंशीय या उभयवंशीय प्रणाली में व्यक्ति अपने पिता के वंश के कुछ रक्त संबंधियों का उत्तराधिकारी होता है पर सभी का नही और इसी प्रकार अपनी मां के रक्त संबंधियों का भी उत्तराधिकार प्राप्त करता है।

पति पत्नी से जसे संतान उत्पन्न होती है उस संतान का अपने माता–पिता से जो संबंध है उसे वंशानुक्रम कहते है। इस परिवार में जब दूसरी संतान का जन्म होता है तो एक नये प्रकार का वंशानुक्रम संबंध पैदा होता है। अब ये दोनों बच्चें अपनी उत्पत्ति अपने माता–पिता से मानते है। अतः इन बच्चों का अपने माता पिता के साथ जो संबंध है उसे नातेदारी व्यवस्था में वंशानुक्रम संबंध कहा जाता है। अर्थात वे नातेदार जो एक दूसरे से वंशानुक्रम से सीधे जुड़े होतजे हैं

घनिष्ठ संबंधी /लीनियल किन कहलाते है और वे शाखा के रूप में होते हैं एक खानदान (चाचा, भतीजा) संबंधी या समपार्श्व (कौलेट्रल किन) कहलायेगें पर घनिष्ठ संबंधी नही कहलायेगें। अतः वंशानुक्रम नातेदार वे हैं जिनकी इस समूह में सदस्यता स्वतः जन्म से प्राप्त होती है।

2.5.3 नातेदारी की श्रेणियां–

आत्मीयता की अथवा निकटता की मात्रा के आधार पर श्रेणियों का निर्माण होता है। अर्थात् कुछ रिश्तेदारों से हमारे अत्यन्त निकट और आत्मीयता के संबंध होते हैं। हम अपने समस्त रिश्तेदारों के साथ समान रूप से निकटता नहीं रखते है इसलिए निकटता के आधार पर इन्हे चार श्रेणियों में विभाजित किया जाता है।

1. प्राथमिक नातेदार– वैवाहिक तथा रक्त संबंधी आधारों पर नातेदासरी प्रत्यक्ष, घनिष्ठ तथा निकट की होती है। पति पत्नी, पिता–पुत्र, भाई–बहन, बहन–बहन, माता–पुत्री, माता–पुत्र, भाई–भाई से संबंध प्राथमिक नातेदारी के संबंध कहलाते हैं क्योंकि इनमें परस्पर प्रत्यक्ष संबंध होता है।

2. द्वितीयक नातेदारी– इसके अन्तर्गत वे संबंधीगण आते हैं जो उपरोक्त अर्थात प्राथमिक नातेदार या संबंधियों के प्राथमिक संबंधी होते है। अर्थात प्राथमिक संबंधियों द्वारा सम्बन्धित होते है। इस द्वितीय श्रेणी के संबंधियों से हमारा प्रत्यक्ष संबंध नही होता परन्तु हमारे प्राथमिक श्रेणी के संबंधियों से उनका प्रत्यक्ष संबंध होता है। मानवशास्त्रियों पे कुल मिलाकर 33 द्वितीयक नातेदारी की पहचान की। बहन के पति व्यक्ति का द्वितीयक नातेदार है क्योंकि बहन से व्यक्ति का प्रत्यक्ष संबंध होता है। अतः बहन प्राथमिक श्रेणी के अन्तर्गत है। बहन का अपने पति के साथ भी प्रत्यक्ष संबंध या प्राथमिक संबंध है पर बहन व्यक्ति का बहन के पति के साथ प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। उसके साथ बहनोई का संबंध है। इसी प्रकार पत्नी का भाई पिता का भाई भी द्वितीयक नातेदार है।

3. तृतीयक नातेदारी– वे संबंधीगण है जो कि हमारे द्वितीयक नातेदार के प्राथमिक संबंधी होते हैं तृतीयक नातेदारी कहलाती है। मानवशास्त्रियों ने 151 तृतीयक नातेदारों की खोज की है; उदाहरण व्यक्ति के पत्नी का भाई/साला उस व्यक्ति का द्वितीयक नातेदार होता है। इस द्वितीयक संबंधी साले की पत्नी उसकी (साले) की प्राथमिक संबंधी होती है। इस प्रकार एक व्यक्ति के साले की पत्नी को उस व्यक्ति के द्वितीयक संबंधी होने के नाते तृतीयक संबंधी कहा जायेगा।

4. दूरस्थ नातेदार– वे संबंधीगण है जो कि हमारे तृतीयक नातेदार के प्राथमिक संबंधी होते हैं दूरस्थ नातेदारी कहलाती है। उदाहरण जैसे पिता के पिता के पिता का पिता; पिता की माता के पिता के पिता आदि। इनकी संख्या बहुत बड़ी होती है।

बोध प्रश्न–5

(i) प्राथमिक नातेदारी को उदाहरण सहित समझाइए ? अपना उत्तर पांच पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.6 नातेदारी की रीतियां–

नातेदारी व्यवस्था के अन्तर्गत दो संबंधियों के बीच का व्यवहार या संबंध किस प्रकार का होगा इसके विषय में कुछ नियम या रितियां होती है इसी को नातेदारी की रीतियां कहते है। ये नियम विभिन्न उपकोटियों में विभाजित किये जा सकते है।

1. **परिहार के नियम–** ये नियम प्रायः स्त्री– पुरूष के बीच संभावित मधुर संबंध और खासकर यौन संबंध की अभिव्यक्ति पर रोक लगाने के लिए है अर्थात कुछ ऐसे रिश्ते है जोकि दो व्यक्तियों के बीच एक निश्चित संबंध तो स्थापित करते हैं पर साथ ही इस बात का निर्देश देते हैं कि वे एक दूसरें से दूर रहे और पारस्परिक अन्तःक्रिया में यथासम्भव प्रत्यक्ष या आमने सामने रहते हुए सक्रिय भाग लें। उहाहरण के लिए एक बहु अपने ससुर से परिहार का पालन करती है। बहु से यह आशा की जाती है कि अपने ससुर से दूरी बनाए रखें। वह अपने ससुर या सास के भाइयों से भी इसी प्रकार की दूरी बनाए रखें। नातेदारी व्यवस्था में परिहार के नियमों के विषय में नातेदारी व्यवस्था की दो प्रकार्यवादी व्याख्याएं दी जाती है।

पहली प्रकार्यवादी दृष्टिकोण में रेडक्लिफ ब्राउन ने तर्क दिया है कि परिहार करने वाले व्यवहार में जो सम्मान प्रदर्शित किया जाता है और परिहास में जो अनौपचारिक अभद्रता है, दरअसल सामाजिक गठबंधन सहजीविता की अभिव्यक्ति है दूसरी प्रकार्यवादी व्याख्या जी0 जी0 मर्डोक ने दी उनके अनुसार परिहार पालन इसलिए किया जाता है कि उनके द्वारा निषिद्ध निकटाभिगमन पर बल दिया जाता है। उनके अनुसार समाजीकरण के दौरान अगर पर्याप्त आत्म नियंत्रण रखा जाता है।

2. **परिहास के नियम–** परिहार दो संबंधियों को एक दूसरे से दूर ले जाता है वहीं परिहास संबंध दो व्यक्तियों को अति निकट लाता है। अक्सर विषम लिंगी लोगों के बीच यह मजाक होता है। अर्थात यह दो व्यक्तियों को मधुर सम्पर्क या संबंध में बांधता है और दोनों को एक दूसरे के साथ हसी मजाक करने का अधिकार देता है। उदाहरण के तौर पर हम नाती–नातियों के साथ नाना–नानी के परिहास संबंध, देवर भाभियों के बीच मजाक, साले बहनोई के बीच मजाक भी इनके उदाहरण है। इसमें गाली– गलौच, यौन संबंधी अश्लील और भद्दे कथन, एक दूरे की सम्पत्ति को हानि पहुचाना आदि सम्मिलित होते हैं। रेडक्लिफ ब्राउन ने परिहास संबंधों की ऐसी मित्रता का प्रतीक मानते है जिसे शत्रुतापूर्ण व्यवहार के रूप में व्यक्त किया जाता है। डा0 रिवर्स के अनुसार, परिहास संबंध ममरे फुफेरे विवाह संबंधों के कारण पैदा हुए हैं। वेस्टरमार्क के अनुसार जिन व्यक्यिों में परिहास संबंध होते हैं उनमें पारस्परिक समानता और इतनी घनिष्ठता रही है कि वे कभी भी विवाह कर लेते थे, जैसे जीजा– साली, परिहास साली विवाह का एवं देवर–भाभी परिहास देवर विवाह का सूचक है।

3. **माध्यमिक सम्बोधन–** इस नियम के अनुसार नातेदार को सीधे नाम लेकर नही पुकारा जाता था बल्कि किसी दूसरे नातेदार के साथ जोड़कर या उसके संबंध को दर्शाते हुए बुलाया जाता है अर्थात एक संबंधी को सम्बोधित करने के लिएउ किसी दूसरे व्यक्ति को माध्यम बनाया जाता है क्योंकि उस संबंधी को उसके नाम से पुकारना वर्जित होता है। कहीं तो संबोधन में व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत नाम से संबोधित किया जाता है। कहीं नातेदारी शब्द से कही उस शब्द

जिसे टायलर ने टेक्नोनिमी कहा। भरतीय समाज में प्रायः स्त्री अपने पति को संबोधित करने हेतु बच्चों क नाम को माध्यम बनाती है। यानि व्यक्तिगत और नातेदारी शब्द का मिश्रण जैसे राजू के पिताजी, गंगा की माताजी आदि। उदाहरण के भारतीय समाज और कुछ जनजातियों में स्त्री अपनी सास को अमुक की दादी और ससुर को अमुक का दादा कहकर पुकारती है। इसी ढंग से पुरूष भी अपने सास–ससुर को सम्बोधित करते हैं।

4. मातुलेय– इस प्रथा में सभी पुरूष सम्बन्धियों की तुलना में मामा का भांजे एवं भांजियों के लिए सर्वप्रथम होता है, जिसे मातुलेय कहते है। इनका प्रचलन मातृसत्तात्मक परिवारों में होता है जहां कि माता के भाई का पारिवारिक मामले में अत्यधिक महत्व और नियंत्रण होता है। यदि पारिवारिक मामले में मामा का अधिकार और नियंत्रण प्रमुख है और लोगों से यह मांग की जाती है कि वे अपने पिता से अधिक सम्मान मामा को दे। सभी पुरूष सदस्यों में मामा का स्थान सर्वोपरि हो तो इस व्यवस्था को मातुलेय कहते हैं। मामा की ऐसी सत्ता को मातुल सत्तात्मक कहते हैं। उत्तरी पश्चिमी अमेरिका की हैडा जनजाति, ट्रोबियड जनजाति आदि में इस प्रथा का प्रचलन है।

5. पितृश्वश्रेय– जब पितृ सत्तात्मक परिवारों में भतीजे– भतीजियों के जीवन में बुआ का विशिष्ट स्थान होता है तो पितृश्वश्रेय कहते है। अर्थात इस प्रथा में पिता की बहन बुआ का अधिक महत्व होता है। टोडा जनजाति में बच्चें का नामकरण करने का अधिकार बुआ को प्राप्त हैं। डा0 रिवर्स के अनुसार बैक्स प्रायद्वीप में एक व्यक्ति अपनी बुआ का अपनी माता से कही अधिक सम्मान करता है।

6. सहकष्टी–इस प्रथा में जब पत्नी के संतान होने वाली हो तब उसका पति को उन समस्त निषेधों का पालन करना पड़ता है जिनका गर्भवती स्त्री पालन करती है। वह वही कष्टों को झेलता है जो कष्ट प्रसव को होते हैं। वह भी पथ्य भोजन करता है, उसे भी प्रसव के कमरे में रखा जाता है तथा उसे भी प्रसव की भांति अछूत माना जाता है। भारत की खासी व टोडा जनजाति में यह प्रथा प्रचलित है। डा0 एस0 सी0 दुबे के अनुसार इस प्रथा का प्रचलन सामाजिक पितृत्व निर्धारणकरने के लिए होगा। मैलिनोवस्की के अनुसार सह प्रसविता को वैवाहिक संबंधों को अधिक सुदृढ़ बनाने और पैतृक प्रेम प्राप्त करने का एक सामाजिक क्रिया मंत्र है।

बोध प्रश्न–6

(i) मातुलेय और पितृश्वश्रेय पर अपना उत्तर पांच पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.7 सारांशः

परिवार की उत्पत्ति समझाते हुए परिवार की उसकी परिभाषा और विशेषताओं को समझाते हुए परिवार के प्रकार्य बताए हैं। परिवार के प्रकारों को निवास, वंशक्रम, प्रभुत्व, विवाह और आकार के आधार पर जिन उपप्रकारों में बाँटा गया है, उसके द्वारा परिवार का महत्त्व समझा जा सकता है और वर्तमान समय में इसके बदले हुए स्वरूप को माता–पिता और उनके बच्चों तक सीमित एकाकी परिवारों के रूप में देखा जा सकता है। आज परिवार के अनेक कार्य अन्य समितियों द्वारा संपादित किए जा रहे हैं। फिर भी यह निश्चित आधार है कि परिवार व्यक्ति एवं समाज के निर्माण में अपनी भूमिका निभाता है। कार्यों एवं भूमिकाओं के स्थानांतरण से परिवार के अस्तित्व पर कोई संकट नही है। यह एक सार्वभौमिक संस्था है जो पुननिर्माण एवं व्यवस्थापन के दौर से गुजर रही है।

2.8 पारिभाषिक शब्दावली

मातुल स्थानिक परिवार–इस व्यवस्था में नवदम्पत्ति का आवास पति के माता के भाई (मामा)के निवास स्थान पर होता हैं।

मातृवंशी परिवार– इस प्रकार के परिवार में वंश माता के नाम पर चलता है।

मातृसत्ता– एक ऐसी पारिवारिक प्रणाली जिसमें सत्ता पत्नी व मां में निहित होती है।

मातुलेय– सभी पुरूष सदस्यों में मामा का स्थान सर्वोपरि हो तो इस व्यवस्था को मातुलेय कहते हैं।

अंतःक्रिया– जब लोग एक समूह में रहते है तो एक दूसरे के साथ अतःक्रिया करते है। इस तरह की अतःक्रिया सामाजिक जीवन का सारतत्व है। यह लगातार चलती रहने वाली प्रक्रिया है।

नाभिकीय परिवार– नाभिकीय परिवार एक ऐसा परिवार है जो परिवार पति, पत्नी और बच्चों के ईद गिर्द विकसित होता है।

2.9 बोध प्रश्नों का उत्तर

बोध–प्रश्न 1

(I) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर परिवार की विशेषताओं के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

(II) लैटिन शब्द 'फैम्यूलस' से

बोध–प्रश्न 2

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर परिवार के प्रकार्यों शीर्षक के अर्न्तगत दिये गय विवरण में से लिखना है।

बोध–प्रश्न 3

विद्यार्थी को इस प्रश्न का परिवार के प्रकार शीर्षक के अर्न्तगत दिये गय विवरण में से लिखना है।

बोध–प्रश्न 4

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर नातेदारी के प्रकार शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध– प्रश्न 5

विद्यार्थी को इस प्रश्न का नातेदारी की श्रेणियां शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध– प्रश्न 6

विद्यार्थी को इस प्रश्न का नातेदारी की रीतियां शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

दोषी व जैन, 2009, **समाजशास्त्रः नई दिशाएँ,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

सिंह जे. पी., 2010. **समाजशास्त्रः अवधारणाएँ एवं सिद्धांत.** पी.एच.आई लर्निंग प्राईवेट लि. नई दिल्ली।

दोषी व जैन, 2009, **भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन.** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

जैन, शोभिता, 1996, **भारत में परिवार, विवाह, नातेदारी,** रावत, जयपुर।

2.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गुडे, विलियम जे. 1975. **द फैमिली,** प्रेन्टिस हॉल ऑफ इंडिया. नई दिल्ली।
मरडॉक, जोर्ज पी. 1949. **सोशियल स्ट्रक्चर**. मैकमिलन. न्यू यॉर्क।
कपाड़िया, के. एम. **मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया.** ऑक्सफोर्ड. यूनिवर्सिटी प्रेस बम्बई।
मदान, टी. एन., 1965, **फैमिली एण्ड किनशिपः ए स्टडी ऑफ द पंडित ऑफ रूरल कश्मीर,** एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. परिवार की परिभाषा दीजिए तथा इसकी विशेषताओं एवं प्रकार्यों का विवेचन कीजिए।
2. भारत में पाये जाने वाले परिवारों के प्रमुख प्रकारें का विश्लेषण कीजिए।
3. परिवार के प्रमुख उद्देश्य बतलाते हुए इसकी परिभाषा दीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
4. नातेदारी को परिभाषित कीजिए। समाज में नातेदारी के संरचनात्मक नियमों की विवेचना कीजिए।

3. इकाई– धार्मिक संस्थाएं
Religious Institution

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्वाना

3.2 धर्म

3.2.1 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा

3.2.2 धर्म का वर्गीकरण

3.3 धर्म का प्रादुर्भाव

3.3.1 आत्मवाद

3.3.2 प्रकृतिवाद

3.4 टोटमवाद

3.5 धार्मिक व्यवहार

3.5.1 अनुष्ठान

3.5.2 आस्था

3.5.3 अनुभव

3.6 धर्म तथा सामाजिक नियंत्रण

3.7 धर्म तथा जादू टोना

3.8 धर्म और विज्ञान

3.9 धर्मनिरपेक्षता

3.10 धर्म तथा दुर्खीम

3.11 धर्म तथा मैक्स वेबर

3.12 सारांश

3.13 पारिभाषिक शब्दावली

3.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.16 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.17 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप को समझना संभव होगाः

- धर्म का अर्थ तथा परिभाषा को स्पष्ट करना;
- समाज में धर्म के प्रादुर्भाव को बताना;
- धार्मिक व्यवहारों को स्पष्ट करना;
- धर्म के साथ जादू तथा विज्ञान के सबंध को बताना;
- वर्तमान में धर्मनिरपेक्ष की अवधारणा को बताना ।

3.1 प्रस्तावना

मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों द्वारा धर्म को सामाजिक संरचना के अनिवार्य और महत्वपूर्ण तत्व के रूप में व्याख्यायित करते हुए धर्म का कार्य मानव के व्यवहार का निर्धारण करना बताया है। अलौकिक सत्ता के विषय में मनुष्य की धारणाओं को अभिव्यक्त करने की पद्धति और उसके प्रकार के समावेश का नाम धर्म है। धर्म की सामाजिक जीवन में प्रमुख भूमिका है और उनकी बौद्धिक, भावनात्मक और व्यावहारिक जीवन की समस्त गतिविधियों को प्रबल रूप से प्रभवित करने में धर्म का वृहत् योगदान है।

विश्वास, परम्परा, प्रथा और पवित्रता के सामाजिक–मूल्य धार्मिक–व्यवस्था में समाहित रहते हैं। धार्मिक विश्वास से युक्त व्यक्ति अतीनिद्रय, अलौकिक व आध्यात्मिक शक्तियों पर आस्था रखते हैं। धर्म व्यक्ति के समाजीकरण में प्रमुख भूमिका का निर्वहन करता है। धर्म सामाजिक व्यवस्था के मुख्य आधार के रूप में जहॉ एक ओर मानव के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालता है तो दूसरी ओर उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन को भी प्रभावित करता है। राधाकृष्णन के अनुसार जिन सिद्वान्तों के अनुसार हम अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते है जिसके द्वारा सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है वही धर्म है। यह जीवन का सत्य है। यह हमारी प्रवृत्ति को निर्धारित करने वाली एक शक्ति है। प्रत्येक युग और समाज में धर्म हमें एक मूलभूत संस्था के रूप में देखने को मिलता है।

3.2. धर्म का अर्थ

धर्म का अर्थ कर्तव्य, संस्कारों और गुण से होता है। शाब्दिक दृष्टि से धर्म शब्द 'धृ' धारणे अर्थात धृ धातु जिसका अर्थ धारण करना होता है। धर्म का अर्थ है किसी वस्तु की अस्तित्ववत्ता को धारण करना या सिद्ध करना। किसी वस्तु की अनिवार्य सत्ता को बनाये रखना धर्म का अनिवार्य गुण है। जैसे सूर्य का प्रकाश तथा शर्करा की मिठास। विश्व की सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने तथा सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था का निर्माण करने में और सामाजिक नियंत्रण के एक प्रमुख अभिकरण के रूप में धर्म का सर्वोच्च स्थान है। संकुचित अर्थ में धर्म का अर्थ अन्धविश्वास करना, माला जपना, मंदिर जाना, तिलक लगाना आदि क्रियाओं से लगाया जाता है। व्यापक अर्थों में धर्म का तात्पर्य हृदय को पवित्र बनाना, उत्तम चरित्र एवं नैतिकता प्राप्त करना, मन में आध्यात्मिक मूल्यों को स्थापित करना आदि क्रियाएं आती है। धर्म एस मौलिक शक्ति के रूप में जाना जा सकता है जो भौतिक और आध्यात्मिक व्यवस्था का आधार रूप है और जो उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यक है।

3.2.1 धर्म की परिभाषा

एडवर्ड टायलर के अनुसार धर्म आध्यात्मिक शक्ति का विश्वास है।

मैलिनोवस्की के अनुसार धर्म क्रिया की एक विधि है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी। धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ–साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।

हॉबल के अनुसार, धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है जिसमें आत्मवाद व मानववाद दोनों सम्मिलित हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते है कि धर्म किसी न किसी प्रकार की अतिमानवीय या अलौकिक शक्ति पर विश्वास है जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना आदि के रूप में की जाती

है। यह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार है, जीवन का शाश्वत सत्य है, जो श्रेष्ठ है। हिन्दू धर्म में त्याग और भोग का आर्दश समन्वय पाया जाता है। व्यक्ति को यहां सांसारिक सुखों का उपभोग और जीवन की वास्तविकता से परिचय प्राप्त करते हुए, अपने इहलोक और परलोक को उत्तम बनाने की ओर अग्रसर किया गया है। हिन्दू धर्म में कर्त्तव्य की भावना पर जोर दिया गया है।

3.2.2 धर्म का वर्गीकरण

1. वर्ण धर्म– सामाजिक संगठन के आधार पर वर्णों को चार भागों में विभक्त किया जाता है। ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। धार्मिक रूप से इन चारों वर्णों के पृथक–पृथक धर्म निर्धारित है जिससे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की तुलना में अपने दायित्वों का उचित रूप से निर्वाह कर सके। अर्थात् ब्राह्मण का धर्म है कि पढ़ाना, आत्मनियंत्रण तथा तप का अभ्यास करना तथा यज्ञ कराना। अध्ययन करना, लोगों की रक्षा करना, युद्व करना आदि क्षत्रियों का धर्म है। उसी प्रकार गाय–बैल आदि पशुओं की रक्षा करना, दान करना, उचित साधनों हेतु धन का उपार्जन करना, व्यापार करना आदि वैश्य का मुख्य कर्तव्य धर्म है। शूद्र की सृष्टि अन्य तीनों वर्णों के सेवक के रूप में बिना ईष्या के सेवा करना है।

2. आश्रम धर्म– समाज में प्रत्येक व्यक्ति के सभी कर्तव्यों को दूसरे व्यक्ति के प्रति, समाज के प्रति, स्वयं के प्रति पूरा करने के दृष्टिकोण से जीवन को चार भागों में विभाजित किया जाता है– ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा सन्यास आश्रम। प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति के कुछ विशेष कर्म निर्धारित है जिन्हे मानसिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का विकास करके अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की ओर बढता है।

3. वर्णाश्रम धर्म– चारों वर्णों के पृथक पृथक वर्ण धर्म में प्राविधान के साथ ही आश्रम धर्म के पालन का विधान किया गया था। प्रथम तीन वर्ण के व्यक्तियों द्वारा ही आश्रम धर्म का पालन किया जाता था। शूद्र वर्ण के लिए आश्रम धर्म नहीं था।

4. गुण धर्म– गुण धर्म का संबंध राजधर्म से था जिसका तात्पर्य केवल क्षत्रिय धर्म से नहीं वरन् जो प्रजा की रक्षा करें अर्थात् शासनकर्ता के धर्म से है। क्योकि पूजा समाज तथा धर्म का रक्षक है इसलिए सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को संतुलित बनाने के लिए राजा का कर्तव्य दूसरे व्यक्तियों के धर्मों से बहुत भिन्न है अर्थात् राजधर्म भी एक विशेष धर्म है।

5. निमित्त धर्म– वर्ण धर्म और आश्रम धर्म के निमित्त जो विधियां है उनको नैमित्तिक धर्म कहते है। उनके पालन में जो भी कुछ त्रुटियां हो जाती हैं उनको दूर करने के लिए प्रायश्चित विधि भी इसके अन्तर्गत आती है।

6. साधारण धर्म– सामान्य धर्म का अर्थ धर्म के उस रूप से है जो सभी द्वारा अनुसरणीय है। व्यक्ति चाहे किसी भी वर्ण, आयु, लिंग, वर्ग आदि का क्यों न हो सामान्य धर्म का पालन करना सभी का कर्त्तव्य है। यह धर्म व्यक्ति विशेष का न होकर समस्त मानव जाति का होता है। इसके नैतिक नियम समस्त मानव जाति के लिए समान होते हैं इसी कारण इसे 'मानव धर्म' के नाम से सम्बोधित किया जाता है।यदि इसका पालन किसी इच्छा की पूर्ति के लिए किया जाय तो इससे लौकिक कल्याण में वृद्धि होगी और निष्काम रूप से इसका पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस धर्म का मुख्य उद्देश्य यह है कि मानव में सद्गुणों का विकास करना तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति करना कि सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। इस प्रकार सामान्य

धर्म का उद्देश्य मनुष्य की इसी श्रेष्ठता को बनाये रखना और उसे सामान्य कल्याण की ओर प्रेरित करना है।

7. विशिष्ट धर्म– विशिष्ट धर्म को स्वधर्म भी कहा जाता है क्योकि यह विशेष व्यक्ति का अपना धर्म है। समय, परिस्थिति और स्थान के अनुसार सभी व्यक्तियों के लिए भिन्न भिन्न कर्तव्यों को पूरा करना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों के गुण, स्वभाव, व्यवहार, आयु और सामाजिक पद में भी भिन्नता होती है। ऐसी स्थिति में सभी व्यक्तियों का धर्म अथवा कर्त्तव्य एक दूारे से भिन्न होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के धर्म अपने अपने वर्ण के अनुसार है, स्त्री और पुरूष का धर्म अलग– अलग है, गुरू और शिष्य का एक–दूसरे से भिन्न होता है, सैनिक का धर्म एक तथा राजा का धर्म दूसरा होता है। इस प्रकार समाज में दूसरे व्यक्तियों की तुलना में एक व्यक्ति की जो स्थिति निर्धारित होती है। और उसके सामने जिस प्रकार की परिस्थितियां होती है, उसके अनुसार निर्धारित होने वाले कर्त्तव्यों को ही विशिष्ट धर्म कहते है। इस धर्म की विशेषता यह है कि व्यक्ति का विशिष्ट धर्म चाहे उसे नीची स्थिति प्रदान करता हो अथवा ऊँची लेकिन ऐसा विश्वास किया जाता है कि अपने धर्म का पालन करने से ही मोक्ष का अधिकारी होता है।

बोध प्रश्न–1 साधारण धर्म की संक्षिप्त व्याख्या चार पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3.3 धर्म का प्रादुर्भाव

उन्नीसवीं शताब्दी में धर्म का समाजशास्त्र दो मुख्य सवालों से जुड़ा रहा था। धर्म कैसे शुरू हुआ? और धर्म कैसे विकसित हुआ? यह विकासवादी चिन्तन डार्विन के विकासवाद सिद्धांत से प्रभावित था। कालांतर में इन सवालों ने दो मुख्य सिद्धांतों आत्मवाद और प्रकृतिवाद को जन्म दिया।

3.3.1 आत्मवाद– आत्मवाद के अनुसार आत्मा की धारणा धर्म के मूल में है अर्थात् आत्माओं में विश्वास। इसीलिए इसका नाम आत्मवाद है। टायलर के अनुसार आदिम आत्मा के विचार को गलती से अपनाता था। आत्मा का विचार मनुष्यों के सामान्य जीवन की जाग्रत और सुप्त दो अवस्थाओं के दृश्यों के विषय में भ्रामक ज्ञान उत्पन्न हुआ है। आदिम मनुष्य स्वप्न में दिखाई देने वाले दृश्यों को जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाले तथ्यों के समान ही सत्य और महत्वपूर्ण समझता है। अतः व्यक्ति को यह अनुभव होने लगा कि व्यक्ति के शरीर में दो आत्मा है। एक सोते समय शयन स्थान पर विद्यमान रहता है, और एक शरीर को छोड़कर बाहर विचरण करता है। शरीर से पृथक शून्य में स्वतन्त्र विचरण करने वाली यह आत्मा ही पूर्वात्मा या सामान्य शब्दों में ये प्रेतात्मा बन

जाती है। अतः आदिम मनुष्य प्रत्येक घटना की व्याख्या इन प्रेतात्माओं के आधार पर करता है। बीमारी, पागलपन इत्यादि सभी प्रेतात्माओं का फल मान लिया जाता है। इस प्रकार मनुष्य के द्वारा प्रेतात्माओं को प्रसन्न करने के लिए की पूजा करने लगे जबकि आत्मा अमूर्त होती है और मनुष्य के द्वारा आत्मा में शक्ति का विश्वास मानकर पूर्वजों की पूजा करना आरम्भ कर देते हैं।

आत्मवाद की विशेषताएं

1. आत्मवाद अपने आप में कर्म नहीं है। यह तो एक आदर्श प्रारूप है जिसे द्वारा धर्म के उद्विकास का अध्ययन किया जाता है।
2. आत्मवाद में जीवात्मा की अवधारणा है। जीवात्मा वह है जो जीवित व्यक्तियों के शरीर में निवास करती है। मृत्यु के पश्चात् या शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी जीवात्मा बनी रहती है।
3. प्रेतात्मा और जीवात्मा दोनों अलौकिक शक्ति के रूप है और इन्हे पेड़–पौधों, पत्थर इत्यादि में देखा जा सकता है।
4. मनुष्य प्रकृति के साथ होने वाले अपने संघर्ष में जीवात्मा की पूजा करके सुरक्षित रहना चाहता है।

3.3.2 प्रकृतिवादी एवं अनुभूतिपरक व्याख्या प्रस्तुत की मैक्समूलर के अनुसार धर्म को यदि हमारी चेतना के वैध तत्व के रूप में स्थान प्राप्त करना है, तो इसे अन्य समस्त ज्ञान की भांति इन्द्रियात्मक अनुभव के प्रारम्भ होना चाहिए। मैक्समूलर ने वेदों के आधार पर प्रकृतिवाद के सिद्धांत को प्रस्तुत किया। मैक्समूलर उन अनुभूतियों की व्याख्या करता है जिनके कारण धर्म की उत्पत्ति हुई। इनके आत्मवाद में प्राकृतिक शक्तियों के प्रति श्रद्धा और भय मिश्रित भावनाओं के कारण धर्म का विकास हुआ। मैक्समूलर ने प्रत्येक जड़ व चेतन पदार्थ में एक जीवित सत्ता का विश्वास किया है वे कहते है कि आदि मानवों ने विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, जल, पेड़– पौधों के प्रति पूजा और आराधना द्वारा अपनी श्रद्धा को दिखाते है जिससे वे प्राकृतिक के दुष्परिणामों से बचकर उसकी शक्ति से लाभ उठा सकें। इस प्रकार प्रकृतिवाद मानव की संवेदनाओं पर प्रकृति की शक्तियों व चमत्कारों के प्रभावों की प्रतिक्रिया है। उनके अनुसार देवताओं के नाम प्राकृतिक तथ्यों के नाम पर रखे गये हैं। मैक्समूलर ने जोर देकर कहा कि प्रकृति की वस्तुओं के प्रति भय या प्रेम व आदर का व्यवहार एक बीमार दिमाग की उपज था जिसने जीवनरहित चीजों में जीवन और वे सभी शक्तियां डाल दीं जो जीवन से संबंधित हैं। यह पुनः प्रारम्भिक मनुष्य की मूर्खता से उपजा जिसके मूल में उसका भाषिक अहापोह था ये भाषिक गड़बड़ियां जैसे सूरज उगता और डूबता है या आंधी बारिश भेजती है और पेड़ पत्तियां व फूल पैदा करते हैं इस धारणा को मजबूत बनाने में सफल रहीं कि सूरज, पेड़ तथा आंधी में कोई न कोई शक्ति अन्तनिर्हित है। इस प्रकार एक आत्मा को बीच में लाना जरूरी हो गया जो उनके नाम पर होने वाले अनुष्ठानों का आलबंन है। मैक्समूलर के विचारोनुसार मनुष्य के सामने सबसे पहली वास्तविकता प्रकृति के रूप में ही दृष्टिगोचर हुई, और उसने प्राकृतिक तथ्यों को देखकर आश्चर्य का, भय का, शोभा और सौन्दर्य का अनुभव किया। प्रकृति के तथ्य स्थायी और बार–बार प्रकट होने के कारण ही प्राकृतिक कहलाए। प्रकृति का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जो हमारे मन में एक अनन्त की यह अत्यधिक अनुभूति जगाने के योग्य नहीं है, जो हमारे चारों ओर व्याप्त है, हम पर शासन करता है।

बोध प्रश्न–2 आत्मवाद तथा प्रकृतिवाद में अंतर स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3.4 टोटमवाद–

यह उस सामाजिक व्यवहार का बोध कराता है जिसके अंतर्गत सांकेतिक रूप से मानवीय और गैर मानवीय वस्तुओं प्रायः जीव जंतु या बनस्पति के बीच तादात्म्य स्थापित किया जाता है। दुर्खीम के अनुसार आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में टोटमवाद सरलतम और सबसे बुनियादी धर्म–रूप है। इन लोगों के बीच टोटम की वस्तु न केवल धर्म से बल्कि कुल की सदस्यता से भी जुड़ी है। हर कुल का एक टोटम होता है जो प्रायः कोई जानवर या पौधा होता है।

दुर्खीम किसी गोत्र समूह की दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करता है।

1. गोत्र का सदस्य परस्पर नातेदारी के सम्बन्धों के आधार पर संगठित होता है।
2. गोत्र का नाम किसी भौतिक वस्तु के नाम पर होता हे जिसे टोटम कहते है।
   अतः टोटम की विवेचना में गोत्र की विवेचना अत्यन्त आवश्यक है।

टोटमवाद की विशेषताएं– टोटमवाद की निम्नलिखित विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. इसके साथ एक गोच के सदस्य अपना कई प्रकार का गूढ़, अलौकिक तथा पवित्र संबंध मानते है।
2. टोटम के साथ इस अलौकिक तथा पवित्र संबंध के आधार पर ही यह विश्वास किया जाता है कि टोटम उस शक्ति का अधिकारी है जो उस समूह की रक्षा करती है, सदस्यों को चेतावनी देती है और भविष्यवाणी करती है।
3. टोटम के प्रति भय, श्रृद्धा और भक्ति की भावना रखी जाती है। वह इस बात पर निर्भर नहीं होती कि कौन सी वस्तु टोटम है या वह कैसी है, क्योंकि टोटम तो प्रायः अहानिकारक पशु या पौधा होता है। टोटम सामुदायिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है तथा टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप में समाज के प्रति श्रद्धाभाव के कारण हुई। यही श्रद्धाभाव पवित्रता को जन्म देती है।
4. टोटम के प्रति भय, श्रृद्धा और भक्ति की भावना रखी जाती है। टोटम को खाना, मारना, हांनि पहुचाना वर्जित होता है। उसके चित्र रखे जाते हैं और उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को पवित्र माना जाता है।
5. टोटम के संबंध में जो निषेध होते हैं उनका कड़ाई से पालन किया जाता है और मर्यादा भंग करने पर दंड का प्रावधान होता है।
6. टोटम एक प्रकार की ऐसी रहस्यमयी सर्वशक्ति वस्तु समझी जाती है जो समूह के सम्पूर्ण जीवन को निर्देशित और नियंत्रित करती है।

11.5 धार्मिक व्यवहार

धार्मिक व्यवहारों के द्वारा समाज व धर्म के संबंध को रेखांकित होते हैं प्रत्येक धर्म में कुछ तत्व समान होने के साथ ही कुछ विशिष्ट तत्व पाए जाते हैं जिनसे व्यक्ति का व्यवहार प्रभावित होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं।

3.5.1 अनुष्ठान अथवा कर्मकाण्ड– अनुष्ठान, विशिष्ट संस्कारें के अवसरों पर बार– बार दोहराया जाने वाल वाला कार्य है जिसके माध्यम से हर समुदाय अपनी आस्था मूर्त रूप में अभिव्यक्त करता है।यह एक निश्चित विन्यास वाला क्रियाकलाप है जिसका उद्देश्य मानवीय परिस्थितियों को नियंत्रित करना होता है। प्रत्येक धर्म में भिन्न–भिन्न अनुष्ठान किये जाते है जैसे पूजा–पाठ, प्रार्थना, यज्ञ, हवन, नमाज आदि विभिन्न मानवीय समाजों में अनुष्ठानों के अलग–अलग रूप और प्रकार मिलते है। कुछ अनुष्ठान सरल होते है और कुछ जटिल। त्याग करना यह सभी धर्मों में पाया जाता है।

वालेस के अनुसार अलौकिक शक्ति को सक्रिय बनाने के लिए धर्म के मूलभूत घटक के रूप में अनुष्ठान को प्रयोग में लाया जाता है। यह परम्पराओं को स्थायित्व प्रदान करने का कार्य करता है।

हर अनुष्ठान में समूह के सदस्यों के बीच भावनात्मक एकता भी कायम करते है और इस तरह ऐसे अवसरों पर व्यक्ति और समूह दोनों के लिए एक नैतिक निर्देश/ नियम में विश्वास मजबूत होते हैं। इस प्रकार के नैतिक नियम अप्रत्यक्ष रूप में सामाजिक व्यवस्था के संगठन में सहायता करते है। लोगों या व्यक्तियों का विश्वास है कि त्याग करने में दैवीय शक्ति प्रसन्न होगी। इन दैवीय शक्ति की कृपा जीवन पर्यन्त बनी रहेगी। इसीलिए लोग दान करते हैं। उदाहरण सिक्ख धर्म में आय का कुछ प्रतिशत भाग दान या लंगर के रूप में लगाया जाता है। अनुष्ठान द्वारा किसी भी सामाजिक रीति से पवित्र बनाया जा सकता है और जो कुछ भी पवित्र होता है उसे अनुष्ठान का रूप दिया जा सकता है।

3.5.2 आस्था– डेविस के अनुसार आस्थाएं धर्म का ज्ञानात्मक पक्ष होता है। ये अनुभव पर आधरित न होकर विश्वास पर आधारित होती हैं। प्रत्येक धर्म में कुछ कथन होते है जिन्हे अनुयायी मानते है। प्रत्येक धर्म में ये कथन भिन्न भिन्न होते हैं। आस्थाएं मनुष्य या व्यक्तियों को अच्छा जीवन जीने का मार्गदर्शन देती है इस उद्देश्य के बिना आस्थाओं का कोई अस्तित्व नही होता तथा इन्हे नैतिक प्रभावी को मूल्यांकित करना चाहिए न संज्ञात्मक वैधता के लिए नही। इन्हे दो भागों में विभक्त किया जाता है।

1. **धार्मिक मूल्य–** ये वे धारणाएं है जो क्या अच्छा है , क्या वांछनीय है तथा क्या उचित है आदि से संबंधित होती हैं ये उस धर्म के मानने वाले समस्त लोग मान्य करते हैं ये मूल्य व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं तथा सामाजिक संस्थाओं में अमिट छाप छोड़ते हैं।
2. **ब्रह्मण्डिकी–** इसके अंतर्गत उन धारणाओं का समावेश होता है जिसमें स्वर्ग, नरक, जीवन मृन्यु आदि का वर्णन होता है। प्रत्येक धर्म इनका वर्णन भिन्न प्रकार से करता है तथा व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। उइाहरण व्यक्ति समाज में बुरे कार्य इसलिए नहीं करता कि उसे मरने के बाद नरक प्राप्त होगा।

3.5.3 अनुभव– धार्मिक अनुभव से तात्पर्य उस अनुभव से है जब व्यक्ति दैवी शक्ति से एक रूप में हो जाता है तथा इन अनुभवों द्वारा व्यक्ति शांति प्राप्त करता है। किसी विशिष्ट धर्म की आस्थाएं व अनुष्ठान धार्मिक अनुभवों के लिये सौहार्दपूर्ण अथवा प्रतिकूल वातावरण का निर्माण कर सकते हैं।

बोध प्रश्न–3 अनुष्ठान की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3.6 धर्म तथा सामाजिक नियंत्रण–

धर्म मनुष्य के जीवन का एक अनिवार्य तत्व है यह मानव जीवन के अनेक पक्षों एवं आयामों को प्रभावित करती है साथ ही मानव के व्यवहारों को नियंत्रित करता है। इसलिए धर्म सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण साधन है।

1. धर्म समाज द्वारा मान्य व्यवहार न करने पर समाज के साथ–साथ भगवान भी नाराज हो जायेगा। इस विचार से नियंत्रण में सहायता देते है।
2. धर्म की संस्थाएं और उनके संगठन मंदिर, मस्जिद, गुरूद्वारा और उनसे संलग्न धार्मिक व्यक्ति विभिन्न स्तर पर अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रण करते रहते हैं।
3. संस्कारों, समारोह, प्रार्थना, पुजारियों की सत्ता, धार्मिक प्रवचनों, उपदेशों के माध्यम से भी सदस्यों के व्यवहारों पर संस्थागत नियंत्रण रखते हैं।
4. प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में पाप और पुण्य की धारणा का समावेश होता है। पाप और पुण्य उचित और अनुचित, अच्छाई और बुराई तथा सद्कर्म और दुष्कर्म की धारणाएं शैशवकाल से ही व्यवहार के अंग बन जाती है जो जीवनपर्यन्त व्यक्ति का निर्देशन करती रहती है। धर्म व्यक्ति में पाप और पुण्य की भावना को विकसित कर व्यक्तियों में यह प्रेरणा भरता है कि धर्म के अनुसार आचरण करने से उसे पुण्य होगा और धर्म के विरूद्ध आचरण करने से उसे पाप होगा। इसलिए व्यक्ति धार्मिक आचरणों का उल्लघंन नही करते। अतः यह कहा जा सकता है कि धर्म के द्वारा भी समाजीकरण होता है।
5. धर्म व्यक्तियों में नैतिकता की भावना तथा आत्म नियंत्रण पैदा करता है क्योंकि धार्मिक नियमों का पालन करने से यह होता है। इसका फल उनको अच्छा मिलेगा।
6. धर्म एक ऐसा तरीका है जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ के स्थान पर सामूहिक स्वार्थ का महत्व हो जिस कारण सामाजिक एकीकरण को बढावा मिलता है। वे परस्पर सहयोग करते हैं, उनमें समान भावनाए, विश्वास एवं व्यवहार पाए जाते है। धर्म व्यक्ति को कर्तव्यों के पालन की प्रेरणा देता है। सभी व्यक्ति अपने कर्तव्यों कापालन करके सामाजिक संगठन एवं एकता को बनाये रखने में योग देते हैं।

3.7 धर्म तथा जादू टोना

धर्म और जादू टोने का संबंध अदृश्य जगत से है। जादू, जब मनुष्य अलौकिक तथा अतिमानवीय शक्ति को अपने नियंत्रण में करने या विजय पाने का प्रयास करता है और अपनी

मनोकामना को पूरा करने में सहारा लेता है एवं उसे आदेश देता है तो वह जादू के क्षेत्र में प्रवेश करता है। अर्थात् धर्म में मनुष्य अलौकिक तथा अतिमानवीय शक्तियों पर विश्वास करने लगता है जबकि जादू में मनुष्य इन अलौकिक शक्तियों को अपने नियंत्रण में कर उनसे अपनी इच्छानुसार कार्यों की पूर्ति करवाता है। फ्रजेर का मत था कि जादू टोने पर निर्भरता से शनैः–शनैः धर्म की ओर हमारी प्रवृत्ति होती है। और उसके बाद अंततः वैज्ञानिक चिंतन की ओर। फ्रेजर ने अलौकिक शक्तियों को समझने के लिए ओझाओं, पादरियों तथा पुजारियों जैसे धार्मिक विशेषज्ञों पर विशेष जोर दिया।

दुर्खीम ने धर्म और जादू के मध्य अन्तर करते हुए लिखा है कि जादू उन व्यक्तियों का आपस में नही बांधता जो उसका अनुसरण करते है। जादू एक संस्कार है जो मानवीय इच्छाओं की संतुष्टि के लिए विशेष पद्धति द्वारा प्रकृति की ओर मोड़ता है।

मोलिनोस्की ने धर्म को जादू टोने से अलग करने का प्रयास किया उसके अनुसार धार्मिक अनुष्ठानों को करने का कोई भविष्य से होने वाला निमित नही होता। इन अनुष्ठानों के उद्देश्य की पूर्ति धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पन्न होने की प्रक्रिया में ही हो जाती है।

फ्रेजर का मत है कि जादू मनुष्य के विश्वासों, व्यवहारों का वह संग्रह है जिन पर किसी प्रकार की आलोचना व पुनः निरीक्षण नही हो सकता। वे जादू को एक आभासी विज्ञान मानते है और आभासी कला भी। आदिम लोगों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले जादू के दो प्रकारों में अंतर किया।

1. **अनुकारी जादू**– यह समानता के नियम पर आधरित है।
2. **संक्रामंक जादू**– फ्रेजर के अनुसार कोई भी वस्तु जब किसी के संपर्क में आती है तो हमेशा उसके पास में ही रहेगी।

मोलिनोस्की ने जादू के दो भेद किए हैं।

1. **सफेद जादू**– वह जादू टोना जो आम लोगों की भलाई या रक्षा के लिए किया जाए तथा जिसका उद्देश्य किसी को हानि पहुचाना न हो। ऐसी जादुई क्रिया को सफेद जादू कहते हैं।
2. **काला जादू**– जिस जादुई क्रिया के माध्यम से दूसरों को हानि या कष्ट पहुचाने के लिए होता है या अपने स्वार्थ के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ सम्पत्ति नष्ट करना, उसे बीमार करना आदि यह सामान्यतः समाज द्वारा स्वीकृत नही होता।

3.8 धर्म और विज्ञान–

धर्म और विज्ञान का भी मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों ही संस्कृति के अभिन्न अंग है और दोनों का ही प्रयोग मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जाता है। धर्म और विज्ञान किसी अस्तित्व को देखने समझने और परखने की शैली है। विज्ञान परिस्थितियां की समीक्षा करता है जबकि धर्म जीवन जीने की कला सिखाता है। धर्म नाश्वान और श्रणिक वस्तुओं के प्रति उदासीन रहता है किन्तु विज्ञान उन्ही वस्तुओं का निरीक्षण, परीक्षण और सामान्यीकरण करता है। जहां धर्म ईश्वर और पारलौकिक शक्ति के सहारे मानवीय समस्याओं का समाधान खोजता है वहीं विज्ञान वास्तविकता के आधार पर कार्य एवं कारण के सहारे समस्याओं का तार्किक हल प्रस्तुत करता है वही धर्म का अतार्किक स्वरूप समाज तथा व्यक्ति दोनों के लिए महत्वपूर्ण हैं। रूढ़िवादी धर्म ने विज्ञान का विरोध किया है। गैलिलियों ने सिद्ध किया था कि पृथ्वी सूर्य के चारों और घूमती है यह धार्मिक विश्वास के विरूद्ध था उसी कारण गैलिलियों को फांसी पर लटकना पड़ा।

धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी होने के बावजूद एक–दूसरे से परस्पर सम्बन्धित है। विज्ञान जीवन में स्वतन्त्र चिन्तन, परिष्कृत विचार उत्पन्न करता है और धर्म जीवन में शुद्धता, प्रेम और त्याग की भावना उत्पन्न करता है। अतः दोनों एक–दूसरे पर निर्भर है इसलिए आंइसटीन ने कहा है कि विज्ञान धर्म के बिना लंगडा है और धर्म विज्ञान के बिना अंधा।

धर्म और विज्ञान के बीच द्वन्द्व तब तक उपस्थित होता है जब धर्म प्राकृतिक प्रघटनाओं को व्याख्यायित करने लगता है और ऐसी व्याख्यायें अर्थहीन होती हैं। विज्ञान जोर देता है कि कोई सिद्धांत केवल तभी जीवित रह सकता है जब वह अपनी अनुकूलता और भविष्य सूचक शक्ति की कठिन परीक्षाओं से गुजरे। इस प्रकार जब विज्ञान की परिधि व्यापक हो जाती है तब धर्म और विज्ञान के बीच द्वन्द्व होता है। विज्ञान उन्ही चीजों पर भरोसा करता है जो कार्यकारण संबंधों पर आधारित और अलौकिक है। विज्ञान ने व्यक्ति की सोच को यथार्थपरक बनकर स्वर्ग–नरक के चक्र से मुक्त कर दिया है। पहले लोग नरक के भय से बुरे कर्मों से दूर रहते थे, इससे जहां तक समाज में व्यवस्था बनी रहती है। इस प्रकार हम देखते है कि विज्ञान ने धर्म से अविभूत परंपरागत स्थिर भारतीय समाज को गतिशील समाज मे परिणत कर दिया है जिससे समाज का संगठित ढांचा विघटित हुआ है। मैक्स वेबर ने विज्ञान और धर्म की पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए आर्थिक व्यवस्था से जुड़े हुए तर्क का प्रयोग किया विज्ञान और टैक्नोलाजी का उन देशों में अधिक विकास नहीं हुआ जहां लोगों की आस्था धर्म पर आधारित थी। विकसित समाजों में धर्म की अपेक्षा विज्ञान का महत्व अधिक है।

3.9 धर्मनिरपेक्षता

धर्मनिरपेक्षता आधुनिक युग की एक पाश्चात्य धारणा है। जिसमें मानव हितों को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द सेक्युलम से हुई है जिसका अर्थ है कि वर्तमान युग । इसे मानववाद का अंग कह सकते है। इसमें पारलौकिक जगत का विरोध और लौकिक जगत को महत्व प्रदान किया जाता है। यह समाज के विरूद्ध नही है किन्तु यह अंधविश्वास, असहिष्णुता, धर्मान्धता एवं प्रगति विरोध का कट्टर विरोधी है। सर्वप्रथम मैकियावेली ने धर्म को राज्य से पृथक करने का परामर्श दिया और धर्म को राज्य के अधीन करने की मांग की। सामाजिक और धार्मिक अत्याचार के प्रति जो प्रतिक्रिया हुई धर्मनिरपेक्षवाद उसी का कारण है। धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना भी धर्मनिरपेक्षता के आन्दोलन का कारण है। जार्ज जैकब हेलीओक धर्मनिपेक्षता को संस्थापक कहते है। हेलिओक ने इस आंदोलन की शुरूआत 1849 में की। अनीश्वरवाद के स्थान पर इन्होने सेल्यूलरिज्म शब्द करा निर्माण किया। इनके सेल्यूलरिज्म शब्द का मुख्य उद्देश्य मानव जाति की उस स्थिति का सुधार करना जिसमें वह रह रहा है। सेल्यूलरिज्म ने न ही ईश्वरवाद और न ही अनीश्वरवाद को महत्व प्रदान किया गया। इस आन्दोलन ने इस बात पर बल दिया कि लौकिक जीवन की सुख–सुविधा को परम लक्ष्य मानना चाहिए। लौकिक की सुख–सुविधा की प्राप्ति हेतु दैवी सत्ता में विश्वास न करके मानव की बृद्धि और भौतिक साधनों पर ही निर्भर रहना चाहिए। यह दैवी सत्ता के प्रति तटस्थ और उदासीन है, इसे धर्मनिरपेक्षता इसलिए भी कहते है क्योंकि यह परंपरागत धर्मों का विरोध न करके उसके प्रति तटस्थ रहता है।

धर्म निरपेक्षता का अभिप्राय उन विचारों से है जो धार्मिक शिक्षा के विपरीत है। इसे धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से जोड़ा गया है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के विभिन्न वर्ग धार्मिक प्रतीकों और धार्मिक संस्थाओं के प्रभाव से मुक्त होते है। धर्मनिरपेक्षता का विचार पश्चिम में आधुनिक विज्ञान और प्रोटेस्टेंट धर्म की बोली से दक्षिण एशियाई समाजों में

आया है। मदन के अनुसार निम्नलिखित आयामों को शामिल किया गया है–

- धर्म से राज्य को अलग रखना
- राज्य के द्वारा सभी समुदायों के साथ समान और निष्पक्ष व्यवहार करना।
- तर्कपूर्ण उद्देश्य की भावना सहित धार्मिक विश्वासों का दृष्टिकोण रखना
- बिना किसी विशेष समुदाय का ध्यान रखे बिना किसी भेदभाव के सभी लोगों के जीवन स्तर को बनाने का विश्वास दिलाना

इन समाजों के सदस्यों के क्रियाकलापों पर नियन्त्रण रखने वाली शक्ति धर्म है। धर्मनिरपेक्षता की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. चर्च एवं राज्य के बीच अधिकारों का विभाजन
2. अन्य लोक के बजाय इस लोक इहलोक पर बल दिया
3. बौद्धिक तर्कवाद एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण

धर्मनिरपेक्षता की अवधारण इस विचार पर आधारित है कि राज्य पर चर्च, अर्थात् धर्म अधिकारियों– जैसे– पादरी, पण्डित, मुल्ला का नियंत्रण नही होगा। सामाजिक जड़ता जैसे– भाग्यवाद एवं दैवीय प्रतिशोध आदि का प्रतिपादन करने वाले सिद्धांतों की धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा में कोई जगह नहीं है। धर्मनिरपेक्षता की सबसे प्रमुख पहचान बुद्धिवाद है। धर्मनिरपेक्ष समाज धर्म के विरूद्ध नहीं है किन्तु यह अंधविश्वास, असहिष्णुता, धर्मान्धता एवं प्रगति विरोध का कट्टर विरोधी है।

अतः धर्मनिरपेक्षीकरण सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा धर्म एवं धार्मिक विचारों का जन प्रभाव घटता है तथा उसकी जगह वास्तविकता/सत्य की व्याख्या करने के अन्य माध्यम एवं सामाजिक जीवन नियंत्रित करने के अन्य उपाय ले लेते हैं।

धर्म निरपेक्षता के मूल सिद्धांत

1. मानव की वास्तविक स्थिति में सुधार और प्रगति भौतिक साधनों द्वारा लाना
2. धर्म निरपेक्षता जीवन के अनुभव पर आधारित है और अनुभव तर्क तथा कार्य के अनुभवों से पुष्ट तथा स्थिर किया जा सके
3. धर्म निरपेक्षता जीवन के कल्याण और मनुष्य के आचरण तथा व्यवहार के लिए निरपेक्षता के सिद्धांत को अपनाता है। धर्म निरपेक्षता विज्ञान की तरह तटस्थ होकर मानव कल्याण का कर्य करती है।
4. धर्म निरपेक्षता का संबंध लौकिक जगत से है।
5. धर्म निरपेक्षता में ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दोनों को स्थान नही है क्योंकि दोनों ही अनुभव से सिद्ध करने योग्य नहीं है।
6. धर्म निरपेक्षता नैतिकता के उन्हीं सिद्धांतों को मान्यता प्रदान करते हैं जो ईसाई धर्म में हैं
7. धर्म निरपेक्षता मनुष्य के जीवन में नैतिकता को महत्व देता है।

हमारे संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्षता का उल्लेख जनतंत्र के उल्लेख के साथ–साथ किया गया है। भारतीय संविधान में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपों में किसी भी धर्म को स्वीकार करने की स्वतंत्रता देता है। भारतीय संविधान के 42 वें संविधान संशोधन 1976 द्वारा संविधान में धर्मनिरपेक्षता शब्द जोड़ा गया। अनुच्छेद 15 व 16 धार्मिक अविभेदीकरण के सिंद्धांत

पर आधारित है। अनुच्छेद 25 के अनुसार व्यक्तिगत सामूहिक धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है। अनुच्छेद 27 में धार्मिक विषयों में व्यक्तिगत सहमति को महत्व दिया गया। अनुच्छेद 325, 350 और 352 में धर्म के आधार पर राजनीतिक क्षेत्रों के विभाजन का निषेध है। अतः भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, क्योंकि यह सभी धर्मों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। एक धर्म निरपेक्ष राज्य वह है जिसमें राज्य अपने नागरिकों में धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं करता है, सभी की धार्मिक स्वतंत्रता का सम्मान करता है तथा लोगों की स्वतंत्रता की भी रक्षा करता है जो किसी भी धर्म में विश्वास नहीं रखते। धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया तीन कारको के द्वारा कार्य करती है– शिक्षा, विधि निर्माण तथा सामाजिक सुधार। वैज्ञानिक एवं तार्किक आधार पर प्रदान की जाने वाली शिक्षा चिन्तन प्रक्रिया में तार्किकता को जन्म देती है। धर्म निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के दो गौण कारण औद्योगिकरण तथा नगरीकरण हैं। ये दोनों कह कारण प्रौद्योगिक अन्वेषणों से प्रभावित होती है। यह देखा गया है कि जैसे जैसे वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का क्षेत्र बढ़ता जाता है वैसे वैसे धर्म के दायरा संकुचित होता जाता है। नगरीकरण और औद्योगीकरण अंतःसमूह की भावना को कम करते हैं तथा मनुष्य के समक्ष नए विकल्प प्रस्तुत करते हैं। साथ ही तार्किक कार्य–कारण संबंध को विकसित करते हैं तथा फलस्वरूप जीवन के विभिन्न पक्षों पर धर्म का नियंत्रण घटता है।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में धर्म निरपेक्षता एक मौलिक तत्व है। वैसे धर्म निरपेक्षता हर समाज में भिन्न होती है। शायद भारत विविध संस्थानों को विकसित करने में असफल रहा है जो धर्म के परम्परागत कार्यो को अपना सके।

बोध प्रश्न–4 धर्मनिरपेक्षता के किन्ही चार मूल सिद्धांतों की चर्चा कीजिए

.....

.....

.....

.....

.....

3.10 धर्म तथा दुर्खीम

दुर्खीम के अनुसार धर्म एक सामाजिक वस्तु है। सामूहिक जीवन की समस्त वस्तुओं या घटनाओं को चाहे वे सरल हो या जटिल, वास्तविक हो या आदर्शात्मक, दो प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है।

1. साधारण
2. पवित्र

दुर्खीम दुनिया भर की वस्तुओं को दो भागों में रखते हैं। पहली वस्तुएं वे हैं जो मूर्त है

लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि इस भाग की सभी वस्तुएं भौतिक ही हो। दूसरे भाग में वे वस्तुएं हो जो पवित्र नहीं इन्हे दुर्खीम पार्थिव या प्रोफेन कहते है। दुर्खीम जब संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं को इस तरह द्विभागी रूप में रखते है तो इस तरह के विभाजन के पीछे वस्तुओं में कोई अन्तर्भूत अन्तर नही होता।

समस्त धर्मों का संबंध पवित्र पक्ष से होता है इसका अर्थ यह नही की कि सभी पवित्र वस्तुएं ईश्वरीय हों। यद्यपि समस्त ईश्वरीय घटनाएं तथा वस्तुएं पवित्र अवश्य होती हैं। ये पवित्र वस्तुएं समाज की प्रतीक या सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि होती है। दुर्खीम ने टोटमवाद में विश्वास के आधार पर धर्म की व्याख्या का प्रयास किया। दुर्खीम ने आस्ट्रेलिय की अरूण्टा जनजाति में अध्ययन के आधार पर बताया कि धार्मिक अनुभव एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना के कारण हैं। दुर्खीम के अनुसार जब व्यक्ति उत्तेजना की अवस्था में होता है तो वह अपने अस्तित्व को भूल जाता है। उस समय वह अपने को किसी बाहरी शक्ति के अधीन तथा उसके द्वारा संचालित अनुभव करता है तो उसे इस प्रकार सोचने और कार्य करने को बाध्य करती है। इस प्रकार उसके दिन प्रतिदिन के अनुभव से यह सामूहिक प्रभाव जनित अनुभव भिन्न होता है। इसमें पहला साधारण अनुभव है और दूसरा पवित्र अनुभव है।

दुर्खीम का कथन है कि टोटमवाद के आधार पर ही पवित्र एवं साधारण वस्तुओं में भेद करने की भावना का जन्म हुआ। अतः टोटमवाद की समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर है क्योंकि टोटमवाद नैतिक कर्तव्यों एवं मौलिक विश्वासों का वह समाष्टि है जिसके द्वारा समाज एवं पशु, पौधे या अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एवं पवित्र एवं अलौकिक संबंध स्थापित होता है।

दुर्खीम के अनुसार किसी भी धर्म की उत्पत्ति में उक्त सभी तत्वों का होना आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता ह कि टोटमवाद सब धर्मों का प्राथमिक रूप है क्योंकि टोटम एक समूह के नैतिक जीवन के सामूहिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है। अतः स्पष्ट है कि धर्म का मूल स्रोत स्वयं समाज ही है। इस प्रकार धर्म का संबंध किसी व्यक्ति में नहीं बल्कि उसके सामूहिक जीवन से है। ई कारण धर्म उस विश्वास करने वालों को नैतिक समुदाय में संयुक्त करता है।

दुर्खीम के धर्म के सामाजिक कार्यों के विश्लेषण में प्रतीकों तथा अनुष्ठानों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन प्रतीकों में क्रास या स्वास्तिक आदि को व्यक्तियों की आस्था का केन्द्र प्रस्तुत करते हैं। भिन्न–भिन्न भौगोलिक स्थानों में प्रतीकों या पवित्र वस्तुएं भी भिन्न–भिन्न होती हैं। इन पवित्र वस्तुओं की पूजा लोग करते हैं। समाज के सदस्य जिन्हे पवित्र समझते है उन्हे अपवित्र या साधारण से हमेशा दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विश्वासों, आचरणों, संस्कारों और उत्सवों को जन्म देते है।

दुर्खीम ने कहा है कि धर्म विश्वास पर ही आधारित नहीं है धर्म तो मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करता है इसलिए दुर्खीम के अनुसार धर्म व्यक्तिगत से सम्बन्धित न होकर सम्पूर्णता से सम्बन्धित है। धर्म व्यक्ति के विशेष के मोक्ष के लिए नही वरन् समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है। दुर्खीम सामूहिक पूजा की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहते है कि सामाजिक सुदृढ़ता बढ़ती है, लोग एकजुट होते हैं तो उनमें एकता की भावना आती है। इसीलिए दुर्खीम जब चर्च की व्याख्या करते है तो उनका कहना है कि चर्च में रविवार को धर्मावलम्बियों का प्रार्थना के लिए एकत्रित होना उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना है। इसी कारण धर्म एक नैतिक समुदाय के निर्माण में अपना निश्चित योगदान करते है।

बोध प्रश्न–5 धर्म पर दुर्खीम के योगदान की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3.11 धर्म तथा वेबर

मैक्स वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र का विश्लेषण किया है उनके अनुसार धर्म तथा आर्थिक संरचना के बीच स्पष्ट सम्बन्ध मौजूद है उन्होने यह भी स्पष्ट किया कि पूंजीवादी आर्थिक संरचना के विकास में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। मैक्स वेबर ने विश्व के पांच धर्मों का अध्ययन कर कहा कि धर्म केवल संवेग युक्ति मुलक है। यह केवल भावनाओं से सम्बन्धित न होकर व्यक्ति के अन्दर विवेकीकरण पैदा करता है। धार्मिक कारक को एक परिवर्तनीय तत्व के रूप में स्वीकार करते हुए वेबर आर्थिक संबंधी व्यवस्था का अपने अध्ययन का आधार मान लेते है और इसी आधार पर धर्म के आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों को खोजने का प्रयास करते हैं। धर्म की आर्थिक आचार व्यवस्था का अभिप्राय आचरण के उन व्यवहारिक तौर–तरीकों से है जो कि एक धर्म अपने सदस्यों के लिए समान रूप से निश्चित करता है।

मैक्स वेबर पे अपने अर्थव्यवस्था एवं धर्म के सिद्धांत में बताया कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म से प्रभावित नेताओं ने कुछ इस तरह का विचार प्रस्तुत किया जिसके कारण पूंजीवादी व्यवस्था उत्पन्न हुई। वेबर ने द प्रोटेस्टेण्ट इथिक एंड स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म में कहा है कि कर्म के विचार ही किसी समाज की आर्थिक उन्नति अथवा अवनति के लिए उत्तरदायी होते है। उन्होनें बताया कि ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेण्ट धर्म मानने वाले लोग यूरोप तथा अमेरिका में अधिक आर्थिक उन्नति कर सके, क्योंकि प्रोटेस्टेण्ट धर्म पूंजीवाद के विकास में समय ही धन, कार्य ही पूजा, शराब पीना पाप, पैसा बचाना आदि विचारों का मुख्य कारण बताया।

मैक्स वेबर ने धार्मिक घटनाओं को आर्थिक घटनाओं का निर्णायक नही माना, बल्कि उन्होनें यह विचार दिया कि धार्मिक तथा आर्थिक घटनाएं एक–दूसरे से संबंधित तथा एक दूसरे पर आधरित है। दोनों ही घटनाएं एक दूसरे को प्रभावित करती है। किन्तु उन्होनें बताया कि जितना अधिक धार्मिक घटनाएं आर्थिक घटनाओं को प्रभावित करती हैं उतना आर्थिक घटनाएं धार्मिक घटनाओं को प्रभावित नही करती। यही कारण है कि मैक्स वेबर ने पूंजीवाद के विकास का कारण प्रोटेस्टेण्ट धर्म बताया। पूंजीवाद व्यवस्था को उत्पन्न करने के लिये व्यवसाय के प्रति निष्ठा आवश्यक प्रतीत होती है। व्यवसाय के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने का श्रेय प्रोटेस्टेण्ट धर्म को है।

अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वेबर प्रोटेस्टेण्ट धर्म की आचार व्यवस्था के आदर्श प्रारूपों का चुनाव करता है जिनके अन्तर्गत कुछ विशिष्ट लक्षण निम्नलिखित है–

1. ईमानदारी को उच्च स्थान
2. शराबपोसी पर प्रतिबन्ध
3. कम से कम छुट्टी लेना
4. समय ही धन है
5. कार्य ही गुण है

6. जल्दी सोना, जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ्य तथा बुद्धिमान बनाता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मैक्स वेबर के धर्म के समाजशास्त्र की मूल विशेषता धर्म तथा आर्थिक व सामाजिक संगठन के बीच सम्बन्ध का सिद्धांत है।

3.12 सारांश

धार्मिक संस्थाएं की प्रस्तुत इकाई में धर्म का अर्थ समझाते हुए उसके उद्देश्य बताते हुए धर्म का वर्गीकरण और जीव सत्तावाद एवं आत्मवाद के सिद्वांतो के द्वारा धर्म के प्रादुर्भाव को बताया गया। धर्म का उचित विवेचन से स्पष्ट होता है कि किसी भी समाज को संगठित रखने और व्यक्तित्व का समुचित विकास करने के लिए धर्म एक आवश्यक संस्था है। धार्मिक संस्थाओं के आधार पर जब हम धार्मिक व्यवहारों को स्पष्ट करते हैं तब हमें धर्म के विभिन्न अनुष्ठानों, विश्वासों, आस्था तथा अनुभव को भी समझना पड़ता है। वर्तमान में धर्मनिरपेक्षता तथा विज्ञान ने ऐतिहासिक धर्म में उखाड़–पछाड़ फेका तथा आज लगभग सभी देशों में धर्मनिरपेक्षता स्थापित हो गयी है।

3.13 पारिभाषिक शब्दावली

धर्मनिरपेक्षता– यह वह सिद्धांत है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि सभी धार्मिक विश्वासों को आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक आदि अन्य क्षेत्रों से अलग किया जाए। ऐसा करने से यह आशा हो जाती है कि इससे सौहार्दपूर्ण और एकीकृत राष्ट्र राज्य बनेगा।
अनुष्ठान– अनुष्ठान करने की पूर्व निर्धारित पद्धति विशेषकर धार्मिक अनुष्ठानों को मानने की।
नैतिकता– मनुष्य के व्यवहार के लिए संहिता।
टोटम– किसी जानवर या पक्षी की लकडी अथवा पत्थर का प्रतिरूप जिसे समुदाय विशेष का पौराणिक पूर्वज माना जाता है।
जीववाद– वह सिद्धांत जिसमें अलौकिक तत्वों में विश्वास को धर्म माना जाता है।
प्रोटेस्टेंट– इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है वह जो प्रतिरोध करे। वे ईसाई जो कैथोलिक नहीं है व जो पोप को नहीं मानते। वे केवल बाइबिल को मान्यता देते हैं।

3.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

मजूमदार, डी. एन., और मदन टी. एन. 1986, **एन इंट्रोडक्शन टू सोशल एन्थरोपॉलाजी,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

दोषी व जैन, 2009, **समाजशास्त्रः नई दिशाएँ,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

सिंह जे. पी., 2010. **समाजशास्त्रः अवधारणाएँ एवं सिद्धांत.** पी.एच.आई लर्निंग प्राईवेट लि. नई दिल्ली।

दोषी व जैन, 2009, **भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन.** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

अग्रवाल जी. के. **भारतीय सामाजिक संस्थाएं,** आगरा बुक स्टोर, आगरा।

3.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध–प्रश्न 1
विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर धर्म के वर्गीकरण के अंतर्गत साधारण धर्म शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध–प्रश्न 2
विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर धर्म के प्रादुर्भाव के सिद्धांतों के विवरण में से लिखना है।

बोध–प्रश्न 3
विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर धार्मिक व्यवहार शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये अनुष्ठान के विवरण में से लिखना है।

बोध–प्रश्न 4

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर धर्मनिरपेक्षता शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध– प्रश्न 5

विद्यार्थी को इस प्रश्न का धर्म और दुर्खीम शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

3.16 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

श्रीनिवास एम. एन. , **रिलिजन एण्ड सोसाइटी अमंग द कुर्गस ऑफ साउथ इंडिया,** मीडिया प्रेस, मुम्बई।

मैक्स वेबर, **सोशियोलॉजी ऑफ रिलिजन**, दा फ्री प्रेस, बोस्टन।

दुखाईम, एमिल, **एलीमेट्री फॉम्स ऑफ रिलिजियस लाइफ**, जार्ज एलन एंड अनबिन लि0, लंदन।

हसनैन नदीम, **समकालीन भारतीय समाजः एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य,** भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

पाण्डे गणेश एवं पाण्डेय अरूणा**, सैद्धांतिक समाजशास्त्र,** राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली

3.17 निबंधात्मक प्रश्न

1. धर्म के अर्थ को समझाइये। धर्म के प्रादुर्भाव के सिद्धांतो की विवेचना कीजिए।
2. धर्म पर बेबर के विचारों की व्याख्या कीजिए।
3. धर्म पर दुर्खीम के विचारों की व्याख्या कीजिए।
4. धर्म में विज्ञान तथा जादू के संबंधों का व्याख्या कीजिए।

इकाई 4– राजनीतिक संस्थाएं
Political Institution

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 राजनीतिक दल

4.2.1 राजनीतिक दल की परिभाषा

4.2.2 राजनीतिक दल के प्रकार्य

4.2.3 राजनीतिक दल के प्रकार

4.3 राज्य की आवधारणा

4.3.1 राज्य तथा समाज में अन्तर

4.4 सरकार

4.4.1 सरकार के प्रकार

4.5 दबाव समूह

4.5.1 दबाव समूह की विशेषताएं

4.5.2 दबाव समूह के प्रकारः

4.6 सत्ता की अवधारणा–

4.7 शक्ति की अवधारणा

4.8 सारांश

4.9 पारिभाषिक शब्दावली

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.13 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के आप के लिए सम्भव होगा

- राजनीतिक संस्थाओं को समझ पाना
- राजनीतिक दल तथा प्रकार को समझना
- राज्य की अवधारणा तथा राज्य और समाज के बीच अंतर समझना
- सरकार तथा दबाव समूह को समझना
- सत्ता तथा शक्ति का अध्ययन करना।

4.1 प्रस्तावना

राजनीतिक संस्थाओं से तात्पर्य उन साधनों से हैं जिसे माध्यम से शक्ति को काम में लिया जाता है और जो सरकार की गतिविधियों को चलाती है। वर्तमान समय में राजनीतिक संस्थाएं बहुत तेजी से परिवर्तित हो रही है। सरकार राजनीति और शक्ति एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। ये तीनों समाज को बदलते है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे नियम होते हैं जिनका

उद्देश्य समाज के सदस्यों पर नियंत्रण रखना होता है। आदिम और कृषक समाजों में इन नियमों की अभिव्यक्ति जनरीतियों और परम्पराओं के रूप में दृष्टिगत होती है। आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में इनका स्थान कानून का रूप ले लिया है। प्रत्येक समाज में इन प्रतिबन्धात्मक नियमों को लागू करने के लिये कुछ निश्चित संगठन बनाये जाते है। आदिम समाजों में इन्हें जनजातीय सरकारों और पंचायतों के माध्यम से लागू कराया जाता था। औद्योगिक व्यवस्था में इस कार्य को आधुनिक राज्य करते हैं। आदिम समाजों में नियंत्रण की यह पद्धति अपनी आरम्भिक अवस्था में होने के कारण इसका रूप अनौपचारिक होता है। अधिक जटिल समाजों में नियंत्रण की पद्धति अनौपचारिक और औपचारिक दोनों प्रकार की होती है। समाज की प्रकृति जितनी जटिल होती है उसकी सामाजिक नियंत्रण की पद्धति भी उतनी ही औपचारिक होती है। सामान्यतया सामाजिक नियंत्रण और इसे लागू करने वाले संगठनों की नियम प्रणाली और कार्य पद्धति को राजनीतिक संस्था कहते है। औद्योगिक व्यवस्था में राज्य, सरकार और इसके विभिन्न अंग शक्ति, सत्ता तथा राजनीतिक दल मुख्य रूप से राजनीति संस्थाओं के अंर्तगत आते हैं।

4.2 राजनीतिक दल

विश्व भर में राजनीतिक दलों की भूमिका बढ़ती जा रही है। वर्तमान काल में देश के शासन संबंधी नीतियों के निर्धारण में राजनीतिक दलों का मुख्य हाथ होता है। राजनीतिक दल भी जनता को शासन तथा राजनीति के प्रति जागरूक बनाते है इन्ही के नेतृत्व में जनता अपने लक्ष्यों की पूर्ति करती है। यह वह संगठन है जो विशिष्ट राजनीतिक विचारों और कायक्रमों को बढ़ावा देने के लिए बनाया जाता है इसके सदस्य समाज की समस्त या विशिष्ट समस्याओं से सरोकार रखते है।

4.2.1 राजनीतिक दल की परिभाषा–

मैक्स वेबर के अनुसार राजनीतिक दल, दल में सम्मिलित लोगों द्वारा बनाया जाता गया वह संगठन है जो शासन सत्ता की शक्ति को अपने हाथों में लेना चाहते है तथा इस शासन सत्ता को अपने हाथों में लेकर या जो वो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते है या कुछ वस्तुनिष्ठ लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते है।

गिलक्राइस्ट के अनुसार राजनीतिक दल उन नागरिकों के संगठित समूह के रूप में की जा सकती है जो राजनीतिक रूप से एक विचार के हो और राजनीतिक इकाई के रूप में सरकार पर नियंत्रण करना चाहते है।

मैकाइवर के अनुसार राजनीतिक दल वह समुदाय है जिसका संगठन किसी विशेष सिद्धांत या नीति के समर्थन के लिए हुआ हो जो संवैधानिक उपायों का सहारा लेकर इन सिद्धांतों अथवा नीतियों को सरकार का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार राजनीतिक दल एक प्रकार का बृहद सामाजिक समूह है जिसके माध्यम से सामाजिक हितों की पूर्ति ज्यादा सरलतापूर्वक की जाती है। राजनीतिक दलों में समान विचारधारा वाले व्यक्ति स्वैच्छिक रूप से सदस्य होते है जो किन्ही विशेष उद्दश्यों, प्रायोजनों तथा हितों की पूर्ति के लिये संगठन का निर्माण करते है। यह संगठन स्थायी रह संकता है लेकिन सदस्यों में मतैक्य न होने की स्थिति पर किसी दूसरे दल में प्रवेश कर सकते हैं या दूसरे नये दल का निर्माण कर सकते है। राजनीतिक दल प्रजातन्त्रात्मक

समाज का अनिवार्य जरूरत है। राजनीतिक दल वे साधन होते हैं जिनके माध्यम से मानवीय एकता, सामाजिक एकता स्थापित की जाती है।

राजनीतिक दल के तीन अनिवार्य तत्व है।

1. दल उन व्यक्तियों का संगठन है जो न्याधिक रूप में सार्वजनिक नीति के महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर सहमत होते है।
2. जिसका लक्ष्य सत्ता के लिए संघर्ष में भाग लेता है।
3. ऐसा निकाय है जिसके सदस्य संवैधानिक साधनों से अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को लागू करने का सामूहिक प्रयास करते हैं।

बोध–प्रश्न 1

(i) राजनीतिक दल से आप क्या समझते हैं। अपना उत्तर उक्त पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.2.2 राजनीतिक दल के प्रकार्य

1. कार्ययोजना का निर्धारण– राजनीतिक दल अपने निर्धारित कार्यक्रमों के प्रति प्रत्याशियों को उसे तैयार करने हेतु प्रतिबद्ध रखतें है। निश्चित अवधि के पश्चात् अपनी कार्ययोजना को पुनः जनता के सामने आना पडता है अतः वे अपने कार्यक्रमों तथा ऐजण्डों को पूर्ण करने की भरसक प्रयास करते है वादे पूर्ण न होने की स्थिति में राजनीतिक दलों का महत्व घट जाता है।

2. सरकार का निर्माण– लोकतांत्रिक शासन में राजनीतिक दलों द्वारा सरकार का निर्माण का कार्य किया जाता है। जिस राजनीतिक दल को चुनावो में विजयी होकर बहुमत प्राप्त होता है वह दल अपनी सरकार का निर्माण करता है। अध्यक्षीय तथा व्यवस्थापिका शासन प्रणाली में सरकार का निर्माण का कार्य राजनीतिक दलों द्वारा ही किया जाता है

3. सत्ता का नियंत्रण एवं समन्वय– लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था में राजनीतिक दल शासन सत्ता को नियंत्रित करने का कार्य करते है। बहुमत प्राप्त रातनीतिक दल की सरकार को मर्यादित करने में अहम् भूमिका विपक्षी दल निभाता है।

4. राष्ट्रीय एकीकरण– राजनीतिक दल राष्ट्रीय विचारधारा से ओत–प्रोत होते है विशेष तौर पर धर्मनिरपेक्ष दल जो जाति तथा धर्म से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकीकरण के विकास में गति प्रदान करते हैं।

4.2.3 राजनीतिक दल के प्रकार

सिरसीकर के अनुसार दलीय व्यवस्था का उदय समाज के प्रकार पर निर्भर करेगा। उन्होने समाज को चार समूहो में विभाजित किया।

1. **समजातीय अविकसित समाज**–वह समाज कहलाता है जिनका एक धर्म, एक भाषा तथा एक प्रबल प्रजाति हो। इस प्रकार का समाज इटली में देखने को मिलता है।
2. **समजातीय विकसित समाज**– समाज कहलाता है जिसमें धर्म, भाषा, प्रजाति और जातियों आदि की विविधता हो। इस प्रकार के समाज का उदाहरण चीन तथा रूस है।
3. **विषमजातीय अविकसित समाज**– विषमजातीय अविकसित समाज वह समाज है जिसमें आर्थिक विकास का स्तर निम्न है, उद्देश्य में एकलता और लक्ष्य प्राप्ति में अत्यावश्यकता न हो। इस प्रकार का समाज अमेरिका में देखने को मिलता है।
4. **विषमजातीय विकसित समाज**– भारत और पाकिस्तान में चौथे प्रकार का उदाहरण है जिसमें विभिन्न विचारों वाले अनेक दल होते है।

राजनीतिक दलों के प्रकार विविध आधारों पर देखने को मिलते है। जो इस प्रकार हैं–

रूचि के आधार पर

1. धार्मिक
2. सांस्कृतिक

सिद्धांतों के आधार पर

1. साम्यवादी
2. समाजवादी

सदस्यता के आधार पर

1. जनआधारित
2. संवर्ग आधारित

कार्यशैली के आधार पर

1. मुक्त
2. अव्यक्त

कार्यकर्ताओं की भर्ता के आधाार पर

1. एकात्मक
2. संघयी

कार्यकलापों के आधार पर

1. सीमित विस्तार
2. असीमित विस्तार

कार्यस्तर के आधार पर

1. राष्ट्रीय स्तर पर जो कार्य करते हैं–(जैसे– भाजपा, कांग्रेस आदि)
2. जो कुछ ही राज्यों में कार्य करते हैं–(जैसे– बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी)
3. वे जो एक ही राज्य में कार्य करते हैं–(जैसे मणिपुर पीपुल्स पार्टी, ए0आई0 ए0 डी0 एम0 के0)

4.3 राज्य की आवधारणा–

राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली सत्ता है। राज्य से तात्पर्य उन व्यक्तियों के समूह से है जोकि किसी निश्चित भू–भाग पर कानून के माध्यम से एक सूत्र में बंधे निवास करते हैं जिनकी अपनी एक सरकार है तथा जो आन्तरिक वाह्य मामलों के निर्धारण में पूर्णतया स्वतन्त्र हो। अर्थात राज्य एक ऐसा समाज है एक निश्चित क्षेत्र में बसा हो और राजनीतिक दृष्टि से संगठित हो। राज्य का जन्म वास्तव में समाज में से ही होता है। मनुष्य राज्य के भीतर अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए नैतिक गुण अर्जित करते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों में कार्यों का विभाजन होने से सभी मनुष्य एक दूसरे को अपने अपने गुणों से लाभ पहुँचाते है। इससे व्यक्ति के मन में अपने सहचरों के प्रति दायित्व, स्नेह, ममता और सहयोग इत्यादि की भावना आती है। कार्ल मार्क्स के अनुसार समाज की आर्थिक उत्पादन प्रणाली इसका आधार है, राज्य इसके ऊपरी अधिरचना का हिस्सा है जिसका चरित्र आधार के चरित्र के अनुरूप ढल जाता है। अतः वे अधिरचना के अन्य हिस्सों की तरह राज्य को भी स्वाधीन विश्लेषण के योग्य नही मानते थे। उन्होने राजनीतिक शक्ति को आर्थिक शक्ति का कवच मानते हुए राज्य को केवल प्रभावशाली वर्ग के हाथ की कठपुतली के रूप में देखा।

वहीं मैक्स वेबर ने मार्क्स के इस आर्थिक नियतिवाद का खण्डन करते हुए राज्य शक्ति की स्वायत्तता का सिद्धांत प्रस्तुत किया। वेबर के अनुसार राज्य के पास अपने शक्तिशाली संसाधन होते है उसे विधि सम्मत बल प्रयोग का ऐसा अधिकार प्राप्त होता है जो निजी हितों की पहुंच के बाहर है इसके पास अधिकारीतंत्र का एक ऐसा शक्तिशाली संगठन है जो राज्य की नीतिया बनाता है उन्हे क्रियान्वित करता है और उनके क्रियान्वयन का निरीक्षण करता है।

वेबर राज्य को एक ऐसा तंत्र मानते है जिसके पास आन्तरिक और वाह्य सुरक्षा तथा कानून व्यवस्था बनाये रखने के लिये भौतिक शक्ति के प्रयोग का अधिकार होता है। राज्य का संरचनावादी दृष्टिकोण मुख्यतः इस मान्यता पर आधारित है कि मोटे तौर पर राज्य के कृत्य समाज की संरचनाओं से निर्धारित होते है। राज्य शक्ति का प्रयोग करने वाले लोगों के चरित्र से नही। ग्राम्शी को इस दृष्टिकोण का अग्रदूत मान सकते है। संरचनावाद के समर्थक यह तर्क देते है कि पूंजीवाद के अंतद्वंद्वों के मूल कारण को राज्य की संरचना में ढूढना चाहिए। शासक वर्ग के चरित्र में नही। राज्य के चार प्रमुख तत्व है।

1. **जनसंख्या–** किसी भी राज्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व जनसंख्या है। जनसंख्या के अभाव पर राज्य का निर्माण हो पाना सम्भव नही है। राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए इसके मत भिन्न भिन्न है किसी भी राज्य की जनसंख्या इतनी होनी चाहिए कि उसक सदस्यों का भरण पोषण सरलता से हो सके तथा शासन व्यवस्था सरलतापूर्वक हो सके। आज के संदर्भ में निश्चितता कुछ भी नही कहा जा सकता। आज चीन तथा भारत जैसे राज्यों में अरबों की जनसंख्या है दूसरी तरफ छोटे–छोटे राज्य है जिनकी जनसंख्या हजारों में ही है।
2. **निश्चित भू–भाग–** भू–भाग या क्षेत्र राज्य का एक महत्वपूर्ण व अनिवार्य भौतिक तत्व है। राज्य के पास एक निश्चित भू–भाग या क्षेत्र होना चाहिए। राज्य के भू–भाग से तात्पर्य मात्र जमीन से नही वरन् इसके क्षेत्रीय समुद्र और अंतरिक्ष से भी है। राज्य का क्षेत्र क्या हो यह निश्चित करना कठिन है। सामान्यतया यह मान्यता है कि राज्य की भूमि या क्षेत्र उतना ही होना चाहिए जितने में उसकी समुचित सुरक्षा हो सके और साथ ही उससे प्राप्त संसाधनों में राज्य के निवासियों का समुचित भरण–पोषण हो सके। भू–भाग का तात्पर्य मात्र जमीन के

क्षेत्रफल से ही नही लिया जाना चाहिए बल्कि इसकी गुणात्मक क्षमता को भी देखा जाना चाहिए।

3. **शासन या सरकार–** सरकार राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्व हैयह राज्य का संगठनात्मक तत्व कहलाता है। सरकार राज्य को पूर्णता प्रदान करती है तथा यह राज्य का संगठनात्मक तत्व है। सरकार वह इकाई है जिसके माध्यम से सामान्य नीतियों का निर्धारण सामान्य गतिविधियों का नियमन व सामान्य हितो की पूर्ति की जाती है। सरकार वस्तुतः राज्य का मूर्त स्वरूप है राज्य का ऐजेंट है जिसके माध्यम से राज्य अपनी इच्छाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है। प्रत्येक सरकार सत्ता में बने रहना चाहता है अतः वह जनसंचार के माध्यमों का प्रयोग कर अथवा नये नियम व कानूनो का निर्माण कर व्यक्तियों में ऐसे विचारो को फैलाती है जो उसके हित में हो।

4. **सम्प्रभुता–** सम्प्रभुता का तात्पर्य है कि राज्य अपने आन्तरिक एवं वाह्य क्षेत्र में स्वतन्त्र होता है। उस पर किसी वाह्य क्षेत्र का दबाव नही होता है और वह प्रत्येक निर्णय स्वयं से लेता है राज्य अन्य संघों से इसी अर्थ में भिन्न है कि केवल राज्य के पास ही सम्प्रभुता होती है और वह किसी के अधीन नही होता जबकि अन्य संघ व समीतियां राज्य के अधीन होती है। सम्प्रभुता आन्तरिक और वाह्य दोनो होती है। आन्तरिक सम्प्रभुता से यह तात्पर्य है कि राज्य की सीमा के भीतर रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति तथा संघ या समुदाय इसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य है तथा वाह्य सम्प्रभुता से आशय है कि राज्य किसी भी प्रकार के बाहरी नियंत्रण से मुक्त है।

बोध–प्रश्न 2

(i) राज्य की मुख्य तत्व कौन–कौन से है? अपना उत्तर उक्त पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.

4.3.1 राज्य तथा समाज में अन्तर

मैकाइवर का कथन है कि राज्य और समाज को समझना बहुत बड़ी भ्रांति है जिसकी वजह से न तो राज्य के सही रूप को समझा जा सकता है और न ही समाज को। राज्य का अस्तित्व समाज के अन्दर है किन्तु इसे समाज का आकार भी नही माना जा सकता। इसकी उपलब्धि व्यवस्था और नियंत्रण की प्रणाली की स्थापना है। अपने नियंत्रण के द्वारा सामाजिक जीवन को समर्थन देता है या उसका शोषण करता है, उस पर बन्धन लगाता है या उसे

स्वाधीन करता है, उसे विकसित करता है या नष्ट करता है। राज्य तथा समाज के अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है।

1. समाज सामाजिक सम्बन्धों का नाम है। ये सम्बन्ध आर्थिक, सांस्कृतिक इत्यादि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाए जाते है। राज्य एक ऐसा उपकरण या साधन है जो मनुष्य को सामाजिक सम्बन्ध कायम करने के लिए उपयुक्त परिस्थितियां तैयार करता है।
2. राज्य के पास बल प्रयोग करने के लिए शक्ति होती है ये शक्ति सेना, नौकरशाही के माध्यम से प्रयुक्त होती है। समाज साधरणतया जनमत के प्रभाव का उपयोग करके सदस्यों से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कराता है।
3. राज्य अपने आदेशों के उल्लंघन करने वाले को दण्ड दे सकता है। समाज के पास केवल आलोचना, निन्दा और सामाजिक बहिष्कार का अधिकार है।
4. राज्य के पास सम्प्रभुता है। राज्य के नागरिकों और समुदायों के लिए राज्य की आज्ञाओं के अनुसार कार्य करना वैधानिक रूप से आवश्यक है। समाज के पास सम्प्रभुता नही है। वह सामाजिक संगठनों और समुदायों के माध्यम से नागरिकों पर प्रभाव डाल सकता है।
5. सामाजिक व्यवस्था रूढ़ियों, परम्पराओं और रिवाजों पर आधारित है। इसके विपरीत राज्य कानूनों की सहायता से अपनी सत्ता कायम रखता है। परम्परा को कार्यान्वित करने के लिये कोई संगठित संस्था नही होती, जबकि कानूनों को कार्यान्वित करने के लिए नौकरशाही और अदालतों का संगठन किया गया है।
6. राज्य के लिए निश्चित भू–भाग और संगठन की आवश्यकता है। समाज के लिए निश्चित भू–भाग और संगठन अनिवार्य नहीं है।

4.4 सरकार

सरकार राज्य के निर्माण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक है। वास्तव में सरकार का दायित्व राज्य में जीवन निर्वाह की परिस्थितियों को उत्पन्न करता है। दूसरें शब्दों में सरकार राज्य में शान्ति व्यवस्था स्थापित करती है। यह सत्ता न केवल समाज पर नियंत्रण रखती है बल्कि अन्य राज्यों के साथ भी संबंध स्थापित करती है। यह उस संस्था का द्योतक है जो मूल्यों का आधिकारिक आवंटन करती है और व्यक्तियों तथा समूहों की मांगों व मतभेदों का समाधान करती है।

4.4.1 सरकार के प्रकार

प्रत्येक समाज अपने यहाँ एक राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करता है जिसके अनुसार वह शासित होता है। विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओं को पांच वर्गों में विभाजित कर सकते है जिनका विवरण इस प्रकार है–

1. **राजतंत्र**–राजतंत्र शासन के अंतर्गत एक परिवार पीढ़ी दर पीढ़ी शासन करता है अर्थात् आनुवांशिक शासक शासन करते रहते है और शासक दैविक अधिकार पर आधारित सत्ता पर एकाधिकार स्थापित करते है जैसे राजा तथा रानी। आज भी विश्व के कई स्थानों में इनके पास नाम मात्र की सत्ता रह चुकी है तथा कुछ राज्यों में आज भी राजा अपने लोगों पर नियंत्रण रखता है अर्थात सत्ता पूर्ण रूप से राजा के नियंत्रण पर रहती है तथा जनता राजा के आदेशों का पालन सहर्ष रूप में करती है।
2. **अल्पतंत्र–** यह शासन का वह स्वरूप है जिसमें कुछ व्यक्ति शासन करते हैं। वर्तमान में अल्पतंत्र ने सैनिक शासन का रूप ले लिया है। इसमें सत्ता शासक वर्ग के पास रहती है।
3. **अधिनायकवाद–** अधिनायकवाद या सत्तावाद को व्यक्तित्व अथवा शासन प्रणाली के एक ऐसे अतःसम्बन्धित लक्षणों के पुंज के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जिसमें प्रथानुगत मूल्यों के कठोरता से पालन, वाह्य समूहों के प्रति आक्रामक रूख अपनाने, राजनैतिक समस्याओं के जनतंत्र विरोधी समाधानों को स्वीकार करने की तत्परता तथा सत्ता एवं शक्ति के प्रति नरम या झुकने के भाव पर बल दिया जाता है। शासन के इस सिद्धांत में जनमत, व्यक्तिगत अधिकारों, वैध विरोध या अनुमति आधारित सरकार पर बहुत कम या बिल्कुल घ्यान नही दिया जाता है। सत्तावाद में व्यक्ति के आदेशों का पालन बिना किसी भय– वश होकर करता है। अधिनायकवादी स्वरूप में तानाशाही होती है तथा एक तानाशाह शासन का संचालन करता है। इसमें जनता के अधिकार पूर्ण रूप से सत्तावादी तानाशाह के हाथों में नियंत्रित होते है जिसमें लागों की राजनीतिक एवं नागरिक स्वतन्त्रता प्रायः समाप्त हो जाती है।
4. **सर्वसत्तावाद–** इसे प्रायः सत्तावाद से जोडकर देखा जाता है।इसमें सत्ता कुछ लोगों अथवा एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित होती है। कुछ सर्वसत्तावादी शासन लोगों की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं किन्तु अधिकांश लोगो को शासन की इच्छा के अनुरूप झुकाते है। इसकी विशेषताएं हैं– एक दलीय व्यवस्था, शस्त्रों पर नियंत्रण, आंतक, मीडिया पर नियंत्रण आदि हैं।
5. **लोकतंत्र**– लोकतंत्र अंग्रेजी शब्द democracy जो ग्रीक शब्द demokratia से बना है जो दो शब्दों से मिलकर बना है। लोक का अर्थ साधारण लोग तथा तंत्र का अर्थ शासन होता है। अर्थात प्रजातंत्र लोगों का शासन होता है। आधुनिक समाजों में प्रजातांत्रिक व्यवस्था को हम दो प्रकारों में बांट सकते है–

1. **सहभागी अथवा प्रत्यक्ष प्रजातंत्र–** सहभागी लोकतंत्र जिसे हम विशुद्ध लोकतंत्र भी कहते है। इसके अंर्तगत व्यक्ति स्वयं प्रतिनिधित्व करते हैं तथा स्वयं निर्णय लेते है। अर्थात राज्य की इच्छा प्रत्यक्ष रूप से एवं तत्काल जनता की सभा के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती है। इस प्रकार का लोकतंत्र केवल इतने छोटे से राज्यो में ही संभव है जहां की समस्त जनता एक ही छत के नीचे एकत्रित हो सके। आधुनिक समाजों में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का महत्व सीमित हो गया है क्योंकि सभी लोगों को उनको प्रभावित करने वाले सभी निर्णय लेने की प्रक्रिया में सहभागी होना संभव नही है।
2. **प्रतिनिधि या अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र–** प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित लोकतंत्र वह है जिसके अतंगर्त लोग प्रत्यक्ष रूप से शासन करते है। अर्थात जनता द्वारा चुने गए उनके प्रतिनिधियों के एक छोटे समूह द्वारा होती है। इन प्रतिनिधियों का चयन मतदान के माध्यम से होता है। अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र दो प्रकार का होता है

क. **संसदीय व्यवस्था**– इसके अंतर्गत शासन करने का अधिकार संसद में निहित होता है। संसद जनता के प्रतिनिधियों से मिलकर बनती है।

ख. अध्यक्षीय व्यवस्था– लोकतंत्र की अध्यक्षीय व्यवस्था के अंर्तगत वास्तविक शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है जो लोगों का अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधित्व करता है।

3. **प्रत्यायोगक प्रजातंत्र**– यह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष के बीच का रास्ता है। लोग अपने प्रतिनिधि चुनते है तथा उन्हें विशिष्ट आदेशों का पालन करनक हेतु निर्देशित करते हैं।

बोध–प्रश्न 3

(i) सहभागी प्रजातंत्र किसे कहते है, अपना उत्तर दो पक्तियों में दें।

.....

.....

.....

4.5 दबाव समूह–

वर्तमान काल में शासन संबंधी नीतियों को दबाव समूह ही सर्वाधिक प्रभावित करते हैं। इन दबाव समूहों में मुख्यतः विद्यार्थी संघ, श्रमिक संघ, ट्रैड यूनियन आदि होती है। दबाव समूह राजनीतिक समाजीकरण के महत्वपूर्ण अभिकरण है जिनके माध्यम से लोगो की मांगों तथा उन दावों को सरकार के सामने प्रस्तुत किया जाता है और साथ ही सरकार पर उसे मनाने का दबाव भी बनाया जाता है। यह एक ऐसा स्वतन्त्र संगठन है जो अपने सदस्यों के संकीर्ण हितों की रक्षा के लिए सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है साथ ही शासकीय अधिकारों की नियुक्ति, सार्वजनिक नीति निर्धारण उसके प्रशासन और समझौता व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।

ये राजनीतिक प्रक्रिया के ठोस अंग है एवं सरकार की नीति को आगे बढाने या उसकी दिशा परिवर्तित करने का प्रयास करते है लेकिन यह स्वयं सरकार नही बनाना चाहते। दबाव समूह संवैधानिक तथा गैर संवैधानिक मांगे अपनाकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। इन्हे वर्तमान काल में सभी समूहों एवं समाजों में राजनीतिक जीवन क्रियाकलापों का एक आवश्यक और स्वस्थ आधार माना जाता है। ओडीगार्ड के अनुसार दबाव समूह, ऐसे लोगो का औपचारिक संगठन है जिसके एक या अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करता है कि वे अपने हितों की रक्षा कर अपने और हितों की वृद्धि कर सकते हैं।

4.5.1 दबाव समूह की विशेषताएं

- दबाव समूह की प्रमुख विशेषता राजनीति के बाहर एवम् भीतर हस्तक्षेप करना है।वे राजनीति के क्षेत्र में अपनी संक्रिय भूमिका का निर्वाह करने से डरते है।

- कोई भी दबाव समूह शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग नही लेते है। रहकर अपनी गतिविधियां संचालित करते है।
- दबाव समूह विभिन्न माध्यमों से सरकार पर प्रभाव डालता है तथा अपने हितों की पूर्ति के लिए शासन की नीतियों को अपने पक्ष में कराने हेतु सरकार पर दबाव बनाने की कोशिश करते हैं। सरकार पर इनका दबाव न केवल नकारात्मक होता है बल्कि यह सकारात्मक भी हो सकता है।
- दबाव समूहों का प्रमुख लक्षण आर्थिक हितों को प्रधानता देना है। यह सभी प्रकार के राजनीतिक व्यवस्था वाले समाजों में कम अथवा अधिक मात्रा में पाया जाता है।

4.5.2 दबाव समूह के प्रकारः

आलमण्ड और पावेल ने भारतीय समाज के दबाव समूह को चार क्रियाशील दबाव समूह में वगीकृत किया।

1.संस्थागत हित समूह– वे दबाव समूह जो किसी न किसी संस्था अथवा निगम के तहत रहते हुए कार्य करते है। इस तरह के दबाव समूह राजनीतिक समूह, राजनीति दलों अथवा अन्य संगठनों के अर्न्तगत समूह के तौर पर कार्यशील रहते है। ये अधिक सुढ़ढ और स्थाई होते है। ये अपने हितों की अभिव्यक्ति करने के साथ–साथ सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते है। संस्थनात्मक दबाव समूह राजनीतिक दलों व्यवस्थापिका और नौकरशाही में सक्रिय रहते है।

2.प्रदर्शनात्मक हित समूह– ये हिंसक आंदोलनों में सीधा हिस्सा लेते है। इनकी कार्यप्रणाली नियोजित नही होती है। अपने उग्र रूप में से समूह प्रायः सीमाओं का उल्लघन कर देते है एवं कभी–कभी स्वयं कानून निर्माण और उसके पालन कराये जाने का कार्य अपने हाथों में ले लेते हैं।

3.समुदायात्मक दबाव समूह– समुदायात्मक दबाव समूह की विशेषता यह होती है कि विशिष्ट हितों की पूर्ति के प्रयासरत रहता है। ये औपचारिक रूप से संगठित होते है तथा इनके पास सतत प्रयत्नशील व्यवसायिक कर्मचारी होते है। इनमें प्रमुख है श्रमिक संगठन, विद्यार्थी संघ, शिक्षक संघ, कृषक संघ आदि। ये समूह सामान्यतः स्थाई प्रकृति के होते है और इनको औपचारिक रूप से मान्यता प्राप्त होती है।

4. असमुदायात्मक दबाव समूह– असमुदायात्मक दबाव समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों की अभिव्यक्ति करते है। इनके संघ संगठित नही होते ये वर्ग, रक्त संबंध, धर्म, क्षेत्रीयता या हित संचार के किसी अन्य परम्परागत आधार पर बनते है। भारतीय राजनीति में जातीय समुदाय, भाषागत समुदाय, क्षेत्रवादी समुदाय,सांस्कृतिक तथा धार्मिक समुदाय असमुदायात्मक दबाव समूहों में प्रमुख है। इनकी विशेषता यह है कि ऐसे हित समूह हित साधना का काम निरंतर नही करके समय–समय पर स्थिति विशेष का ध्यान रखते हुए करते हैं।

बोध–प्रश्न 4

(i) दबाव समूह किसे कहते हैं? अपना उत्तर उक्त पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4.6 सत्ता की अवधारणा–

सत्ता कार्य करने की शक्ति से अधिक कार्य करने के अधिकार है। सत्ता के अर्थ के संदर्भ में दो प्रकार के दृष्टिकोण देखने को मिलते है। प्रथम शक्ति के प्रयोग पर आधारित सत्ता, द्वितीय औचित्य पर आधारित सत्ता।

प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार सत्ता शक्ति के प्रयोग को आधार और वैधता प्रदान करती है तथा उसके उल्लंघन को दंडनीय बनाती है। द्वितीय दृष्टिकोण औचित्य पर आधारित है इसमें सत्ता को मात्र यांत्रिक प्रक्रिया न मानकर मूल्यपरक प्रक्रिया बतलाने पर बल दिया गया है। यदि सत्ता क्षमताओं की ओर संकेत करती है तो क्षमताओं का प्रयोग मानव के व्यक्तित्व तथा समाज को बेहतर बनाने के लिए किया जाता है। जब शक्ति को संस्था के रूप में देखा जाता है तब वह सत्ता कहलाती है। सत्ता का प्रत्यायोजन व्यक्तियों, संस्थाओं अथवा समूहों में हो सकता है। यही कारण है कि सत्ता निश्चित एवं स्पष्ट होता है इसलिए इसकी पहचान के लिए विशेष पहनावा, ताज और मुहर प्रदान किये जाते है। सत्ता के पीछे शक्ति का होना आवश्यक है बिना शक्ति के सत्ता प्रभावहीन होती है।

सत्ता का अभिप्राय ऐसी योग्यता से है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के समूह पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर सकता है बिना किसी दबाव और प्रेरणा के अपने आदेशों का पालन करा सकता है या अपनी योजनाओं की स्वीकृति प्राप्त कर सकता है। सत्ता हमेशा पदों से जुड़ी होती है, न कि किसी व्यक्ति के साथ। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति प्राचार्य की सत्ता का तभी तक प्रयोग कर सकता है जब तक वह उस पद पर आसीन होता है और जब वह इस्तीफा दे देता है, हटा दिया जाता है या सेवानिवृत्त हो जाता है तो इसका प्रयोग नही कर सकता।

मैक्स वेबर ने सत्ता का सूक्ष्म अध्ययन किया इनके अनुसार कोई भी समाज या राजनीतिक व्यवस्था कानून के बिना नही चल सकती। सामाजिक व राजनीतिक स्थिरता और व्यवस्था के लिए कानून प्रमुख तत्व है। समाज इसी लिए संगठित होता है कि इसमें कानून का प्रमुख स्थान होता है। कानून के अभाव में समाज का संगठन विघटन में परिवर्तित हो जाता है और सामाजिक–राजनीतिक स्थिरता तथा व्यवस्था भंग हो जाती है।

मैक्स वेबर के अनुसार शासन संचालन में सत्ता का महत्वपूर्ण योगदान है। सत्ता ही वह महत्वपूर्ण तत्व है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करता है। मैक्स वेबर ने सत्ता को निम्न वर्गों में विभाजित किया।

1. **पारम्परिक सत्ता–** यह सत्ता एक व्यक्ति को वैज्ञानिक नियमों के अंर्तगत पद पर आसीन होने के कारण नही बल्कि परम्परा द्वारा स्वीकृत पद पर आसीन होने के कारण प्राप्त होती है। पारम्परिक सत्ता इस मान्यता पर टिकी हुई है कि प्रचलित मूल्य यथोचित होता है। इस प्रकार की सत्ता का स्रोत परम्पराएं होती है। यह पीढी दर पीढी शासक और जनता के मध्य संबंध चला आ रहा है। पंचो, सरपंचों, ग्राम प्रधान परम्परात्मक शासको, धर्म, देवताओं आदि को समाज में जो सत्ता प्राप्त होती है परम्परात्मक सत्ता कहलाती है। परम्परागत सत्ता निश्चित तथा सीमित नही होती क्योंकि परम्पराएं मानव को विरासत में प्राप्त होती है और एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तातंरित होती रहती है।

ऐसी सत्ता में शक्ति का उपयोग लंबे समय में इस रूप में किया जाता है कि वह सुदृढ परम्परा बन जाती है। परम्परा ही उसका आधार होती है और वही उसकी सीमा होती है। लम्बी परम्परा के कारण ऐसी सत्ता उपयोगी मानी जाती है।

2. **करिश्माई सत्ता–** इसे अपूर्ण सत्ता के नाम से भी जाना जाता है। यह सत्ता न तो वैधानिक नियमों पर और न ही परम्परा पर बल्कि कुछ चमत्कार या करिश्मा पर आधारित होती है। ऐसी स्थिति में आदेशों को व्यक्तिगत प्रभाव के कारण माना जाता है। समाज उस व्यक्ति के गुणों के कारण उसमें अलौकिकता का बोध करता है और अपने समस्त अधिकारों को उस व्यक्ति को सौंप देता है। जैसे जनता अपने प्रिय नेताओं के आदेश उनके करिश्माई व्यक्तित्व के कारण मानती है। जादूगर, पीर, पैगम्बर, अवतार, धार्मिक नेता, सैनिक योद्धा तथा स्वतन्त्रता आंदोलनों में महात्मा गांधी के नेतृत्व को करिश्माई सत्ता का उदाहरण माने जाते है। अर्थात कोई व्यक्ति विशेष अपनी योग्यता या परिस्थितिजन्य नेतृत्व क्षमता के कारण इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि उसके नेतृत्व का अनुसरण लोग स्वाभाविक रूप से करने लगते है और सहज रूप से उसकी क्षमता या योग्यता में आस्था रखने लगते है करिश्माई सत्ता कहलाती है। इस प्रकार सत्ताधारी व्यक्ति को चमत्कार द्वारा अपनी विलक्षण शक्ति का प्रदर्शन करना पड़ता है तथा लागों में विश्वास उत्पन्न करना पड़ता है कि वह वास्तव में कुछ अद्वितीय शक्ति के अधिकारी हैं। परम्पात्मक सत्ता की भांति करिश्माई सत्ता की भी कोई निश्चित सीमा नहीं हो सकती है। परन्तु इस सत्ता की अवधि मूलतः अस्थायी है। करिश्माई सत्ता परंपरात्मक या वैधानिक सत्ता में भी बदल सकती है।

3. **वैधानिक सत्ता–** यह सत्ता समाज में स्वीकृत और प्रचलित नियमों और व्यवस्था के साथ जुड़ी होती है, व्यक्ति जिस पद पर आधीन होता है उसके हाथों में उस पद से संबंधित सत्ता होती है। कानूनी सत्ता में अधीनस्थ किसी नियम या कानून को इस आधार पर स्वीकार करते है कि वह औचित्यपूर्ण है। वेबर के अनुसार वैधानिक सत्ता वह है जिसे व्यक्ति किसी पद के कारण सत्ता का प्रयोग करता है। जैसे मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री आदि। इस प्रकार की सत्ता की प्रमुख विशेषता यह है कि जो व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से आगे रहते है उन्हे सत्ता प्रदान की जाती है वह विधि सम्मत और कानूनी होती है। अर्थात् सत्ता का स्रोत व्यक्ति की निजी प्रतिष्ठा या योग्यता में निहित नही होता। बल्कि जिन नियमों क अंतर्गत वह किसी विशिष्ट पद पर आसीन है उन नियमों की सत्ता में निहित है। वेबर के अनुसार एक जटिल समाज में वैधानिक सत्ता प्रत्येक व्यक्ति के हाथों में समान नही हो सकती बल्कि सोपानीय रीति से इसमें ऊँच नीच का संस्तरण होता है।

मैक्स वेबर केवल कानून पर आधारित सत्ता को कमजोर मानते है। वे व्यवहारिक रूप से उसे और प्रभावी बनाने के उद्देश्य से उसमें परम्परागत तथा करिश्माई सत्ता के तत्वों को शामिल करने का सुझाव देते है।

बोध–प्रश्न 5

(i) करिश्माई सत्ता किसे कहते हैं। अपना उत्तर दो पंक्तियों में दें।

.....

.....

.....

4.7 शक्ति की अवधारणा

वर्तमान युग में शक्ति राजनीति की मौलिक धारणा है यह उसी प्रकार राजनीति का केन्द्रीय तत्व है जिस प्रकार समाज का केन्द्रीय तत्व व्यक्ति है। आमतौर पर शक्ति का अभिप्राय 'ताकत' या बल से लगाया जाता है। शक्ति का तात्पर्य सत्ता अथवा प्रभाव से भी लगाया जाता है। हाबहाउस ने शक्ति को सामान्य प्रवृत्ति के रूप में अभिव्यक्त किया इनके अनुसार शक्ति मानव की अविच्छिन्न तथा अनवरत इच्छा है जिसका अन्त मृत्यु से ही सम्भव है।

शक्ति का आशय है कि ऐसे भौतिक, सामाजिक, कानूनी या मनोवैज्ञानिक साधनों तक पहुचने की क्षमता, जिनकी सहायता से कोई व्यक्ति पर संगठन अपने उद्देश्यों को पूर्ति कर सकता है या दूसरो के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है।

शक्ति की परिभाषा

मैकाइवर के मतानुसार शक्ति संगठन क्रिया द्वारा किसी आयोजन को पूरा करने की एक योग्यता है।

राबर्ट बीरस्टीड के अनुसार शक्ति बल के प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति की शक्ति वास्तव में उसका दूसरे व्यक्तियों के संबंध में वह प्रभाव है जो कि दूसरों पर डालने में समर्थ होता है।

शक्ति की अवधारणा के विश्लेषण का इसलिए विशेष महत्व है क्योंकि समाज के अन्दर विभिन्न संरचनाओं, गतिविधियों तथा व्यवहारों को प्रभावित करने में शक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यक्ति का व्यक्ति से, व्यक्ति का समाज के विभिन्न अंगों से, व्यक्ति का राज्य की विभिन्न संरचनाओं से तथा समाज एवं राज्य की विविध संरचनाओं के पारस्परिक अंर्तसंबंधों के निर्धारण से शक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

मैकाइवर ने शक्ति का बहुपक्षीय व्यवहार से संबंधित माना है। यह पारस्परिक संबंधो को प्रभावित करती है। इसके आधार पर उच्च तथा अधीनस्थ के संबंधो का बोध होता है।

जे0 एस0 मिल्स ने शक्ति से संबंधी विचारो का वर्णन किया। मिल्स ने शक्ति के स्रोतों में भौतिकवादी तत्वों को खोजने का प्रयास किया उनका विचार था कि भिन्न–भिन्न समाजों और भिन्न–भिन्न युगों में शक्ति के रूप बदलते रहते हैं किन्तु इसका निवास समाज के केन्द्र में ही रहता है। अतः समाज के अध्ययन में यह आवश्यक होता है कि शक्ति के प्रयोग कर्त्ताओं की खोज की जाए।

वेबर ने शक्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया कि ''शक्ति बहुत सारे लोगों द्वारा सामूहिक क्रिया के जरिए अपनी इच्छाओं को पूरा करना है। ऐसा उन लागों के प्रतिरोध के बावजूद होता है जो क्रिया में भागेदार हैं।'' इस प्रकार परिभाषित करने से शक्ति का मतलब दूसरों पर शासन है। तात्पर्य यह कि शक्ति सामाजिक सम्बन्ध का ही रूप है। कोई भी व्यक्ति अलगाव में शक्ति नहीं रख सकता है। तात्पर्य यह है कि शक्ति सामाजिक संबंध का ही रूप है। कोई भी व्यक्ति अलगाव में शक्ति नहीं रख सकता। इसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक आयु पर दिखायी देता है। इसका हस्तक्षेप बच्चों के माता–पिता द्वारा बच्चों को घरेलू शिक्षा देने से लेकर विद्यालय में शिक्षक द्वारा अनुशासन लागू करने और प्रबंधक द्वारा उस श्रम शक्ति को काम देने तक में होता है जो राजनीतिक दल में विधायिका का काम करते हैं। प्रत्येक मामले में एक व्यक्ति या समूह के पास इतनी शक्ति होती है कि दूसरी उसकी इच्छाओं का पालन कर सकें।

टालकोट पार्सन्स ने शक्ति क अचर समाकलन विचार को अस्वीकार कर दिया। उसकी दृष्टि से शक्ति किसी व्यक्ति या समूह के पास नहीं बल्कि पूरे समाज के पास होती है। इस प्रकार यह सामाजिक शक्ति समाज की शक्ति–क्षमता पर आधारित होती है जिससे लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। क्षमता जितनी अधिक होती है शक्ति उतनी ज्यादा होती है। शक्ति स्थिर नहीं रहती अर्थात् यह घटती या बढ़ती रहती है। पार्सन्स के विचार समाज के बारे में उनके सामान्य सिद्धांत पर आधारित हैं। वह यह मत समाज के हृदय के सामंजस्य से इस आधार पर प्राप्त करते हैं कि मूल्य समाज के लिए आवश्यक है। दूसरा चरण सामानय लक्ष्य की प्राप्ति है जो हासिल कर सकते हैं। सामाजिक व्यवस्था की शक्ति उस सीमा में निहित होती हे जिस सीमा तक वह उन लक्ष्यों को पाने में सक्षम होती है। जितने अधिक योग्य लोग इस लक्ष्य को पाते हैं समाज के पास उतनी अधिक शक्ति होती है।

मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार शक्ति दूसरों का दरकिनार कर एक वर्ग विशेष द्वारा हथिया ली जाती है। यह समूह अपने स्वार्थों या वर्ग हितों को आगे बढ़ाने के लिए प्रयोग की जाती है। यह उन स्वार्थों से टकरा सकता है जो शक्ति के गुलाम हैं। यह शक्ति की मार्क्सवादी अवधारणा है जिसके अनुसार प्रभावशाली वर्ग के हाथ में शक्ति होती है जो दूसरों के लिए शक्ति की क्षति है। मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार शक्ति का स्रोत आर्थिक ढांचे में निहित होता है। उत्पादन की शक्तियां उत्पादन–सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं। वे जो आर्थिक रूप से प्रभावशाली होते हैं, अपने हितों के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं।

बोध–प्रश्न 6

(i) पार्सन्स के अनुसार शक्ति की अवधारणा को दो पक्तियों में समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

4.8 सारांश

राजनीतिक संस्थाएं किसी राज्य की केन्द्र होती हैं इनकी धुरी शक्ति के इर्द गिर्द घूमती है और इस शक्ति के माध्यम से ही राजनीतिक गतिविधियां चलती हैं। इन गतिविधियों के घेरे में धार्मिक, सामाजिक, भाषायी सभी क्षेत्र आ जाते हैं। जहां राजीतिक दल, सरकार, राज्य, दबाव समूह तथा सत्ता व शक्ति राजनीति संस्थाओं के विभिन्न अंग है तथा सामाजिक नियंत्रण और इसे लागू करने वाले संगठनों की नियम प्रणाली और कार्य पद्धति है जो राजनीतिक संस्थाओं के संगठन और में अपना अपूर्व योगदान देते हैं। आर्थिक जीवन में एक स्थिर या संस्थागत अर्थव्यवस्था समाज के कुछ विशिष्ट वर्ग को अधिकार प्रदान करती है। यह वर्ग अपनी या उस सत्ता के बल पर दूसरों वर्गों पर प्रभुत्व रखता है या उनसे ऊँची स्थिति में विराजमान होता है

4.9 पारिभाषिक शब्दावली

सत्ता– सत्ता एक वैधानिक शक्ति है यह समाज तथा समुदाय द्वारा स्वीकृत होती है।

एकाधिकार– राजनीति में एकाधिकार का अर्थ है किसी एक शासन या दल द्वारा सत्ता का उपभोग करना।

राज्य–राज्य एक ऐसा समाज है जो एक निश्चित क्षेत्र में बसा हो और राजनीतिक दृष्टि से संगठित है।

सम्प्रभुता– सरकार के द्वारा एक निश्चित भू–भाग में रहने वाले लोगों पर नियंत्रण करने की सर्वोच्च शक्ति का होना सम्प्रभुता होता है।

4.10 बोध–प्रश्नों के उत्तर

बोध–प्रश्न 1

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर राजनीतिक दल शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध–प्रश्न 2

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर राज्य की अवधारणा शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध–प्रश्न 3

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर सरकार शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये सरकार के प्रकार के विवरण में से लिखना है।

बोध–प्रश्न 4

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर दबाव समूह शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध– प्रश्न 5

विद्यार्थी को इस प्रश्न का सत्ता की अवधारणा शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये सत्ता के प्रकार के विवरण में से लिखना है।

बोध– प्रश्न 6

विद्यार्थी को इस प्रश्न का शक्ति की अवधारणा शीर्षक के विवरण में से लिखना है।

4.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

दोषी व जैन, 2009, **भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन.** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
डेविस किंग्सले, 2005, **मानव समाज,** अनुवादक जी. के. अग्रवाल, किताब महल प्रकाशक, इलाहाबाद।
दोषी व जैन, 2009, **समाजशास्त्रः नई दिशाएँ,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

4.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

मरडॉक, जोर्ज पी. 1949. **सोशियल स्ट्रक्चर**. मैकमिलन. न्यू यॉर्क।
मैकाइवर और पेज , **सोसाइटी,** द मैकमिलन एण्ड कॉ०, लन्दन।
वीर गौतम, राजनीतिक समाजशास्त्र, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
मुरारी, कृष्ण, शर्मा एल. एम, राजनातिक समाजशास्त्र; 21 वीं सदी के बदलते संदर्भ में, ओरियंट ब्लेकस्वॉन प्रा0 लि0, नई दिल्ली।
सिंह शशि भूषण, राजनीतिक समाजशास्त्र के विविध आयाम, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

4.13 निबंधात्मक प्रश्न

1– राजनीतिक संस्था क्या है ? राज्य की अवधारणा को वर्णन कीजिए।

2– राजनीतिक संस्था के रूप में राज्य के प्रकार्यों की विवेचना कीजिए ?

3– राजनीतिक दल की परिभाषा दीजिए, तथा इसके प्रमुख प्रकारों की विवेचना कीजिए ?

4– दबाव समूह का अर्थ व परिभाषा दीजिए, तथा इसके प्रकारों का उल्लेख कीजिए?

5– सत्ता की अवधारणा दीजिए तथा मैक्स वेबर के योगदान का उल्लेख कीजिए?

6– शक्ति की अवधारणा का उल्लेख कीजिए?

5 इकाई– आर्थिक संस्थाएं

Economical Institution

5.0 प्रस्वाना
5.1 उद्देश्य
5.2 आर्थिक संस्थाओं का अर्थ एवं परिभाषा
5.3 आर्थिक व्यवस्था
5.3.1 पूंजीवाद अर्थव्यवस्था
5.3.2 समाजवाद अर्थव्यवस्था
5.3.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था
5.4 सम्पत्ति की अवधारणा
5.4.1 सम्पत्ति की परिभाषा
13.4.2 सम्पत्ति की विशेषताएं
5.5 बाजार
5.6 विनिमय प्रणाली
5.7 मजदूरी
5.8 श्रम विभाजन
5.9 आधुनिक अर्थव्यवस्था
5.9.1 विकसित अर्थव्यवस्था
5.9.2 अल्पविकसित अर्थव्यवस्था
5.10 सारांश
5.11 पारिभाषिक शब्दावली
5.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
5.13 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.14 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.15 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप को समझना संभव होगाः

- आर्थिक संस्थाओं का अर्थ तथा परिभाषा को स्पष्ट करना;
- आर्थिक अर्थव्यवस्था के प्रकारों को बताना;
- सम्पत्ति की अवधारणा को बताना;
- बाजार की अवधारणा को बताना;
- मजदूरी तथा श्रम विभाजन को बताना;

- आधुनिक अर्थव्यवस्था के प्रकारों को बताना।

5.1 प्रस्तावना

प्रत्येक समाज में मानव की मौलिक आवश्यकता भोजन, वस्त्र एवं आवास है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव द्वारा सचेत प्रयत्न किये जाते हैं जिसके फलस्वरूप आर्थिक संबंध एवं संस्थाओं का उदय होता है इस प्रकार मानवीय आवश्यकताओं से सम्बन्धित वस्तुएं, सेवाओं के उपभोग, उत्पादन एवं वितरण तथा विनिमय की क्रियाएं आर्थिक संस्थाओं को जन्म देती हैं।

आर्थिक संस्थाओं का संबंध उन नियमों और कानूनों से है जिनकी संस्तुति एक समान आर्थिक क्रियाओं के संबंध में करता है किंग्सले डेविस उन मूलभूत विचारों, प्रतिमानों और विधानों की आर्थिक संस्थाओं के रूप में परिभाषित करते हैं जो किसी भी समाज में सीमित साधनों के आवंटन को नियंत्रित करते हैं।

5.2 आर्थिक संस्थाओं की परिभाषा

आर्गवर्न एवं निमकॉक के अनुसार ''भोजन एवं सम्पत्ति के संबंध में मनुष्य की क्रियायें आर्थिक समस्याओं का निर्माण करती हैं।'' विल्स एवं हाइजर के अनुसार'' आर्थिक संस्थाओं का संबंध सेवाओं एवं वस्तुओं के उत्पादन, उपभोग एवं वितरण से सम्बन्धित है।'' मार्क्स के अनुसार ''आर्थिक संस्थाएं सामाजिक व सांस्कृतिक संरचना का आधार है। इन आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन आने पर समाज और संस्कृति में परिवर्तन घटित होता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्थिक संस्थाएं समाज में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, वितरण और उपभोग को नियंत्रित करती हैं। मजदूरी, विनिमय का तरीका, श्रम विभाग, सम्पत्ति जैसी संस्थाएं किसी समाज की आर्थिक प्रणाली का निर्माण करती हैं।

5.3 आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक गतिविधियां समाजशास्त्रियों के अध्ययन का विषय है क्योंकि सामाजिक जीवन के आर्थिक तथा अन्य पहलू घनिष्ठता से एक –दूसरे से जुड़े हुए हैं विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को प्रायः तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है

1. पूंजीवादी अर्थव्यवस्था
2. समाजवाद अर्थव्यवस्था
3. मिश्रित अर्थव्यवस्था

5.3.1. पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत एक नवीन अर्थव्यवस्था है जिसका आविर्भाव 15वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी तक यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ। पूंजीवाद का अर्थ आर्थिक व्यवस्था से है जिसमें उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत लोगों का अधिकार होता है अर्थात उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व होता है और इन साधनों के स्वामित्व के आते वे राष्ट्रीय आय में से एक बड़ा भाग प्राप्त करते हैं, श्रमिक जो वास्तव में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादक हैं, मजदूरी मात्र प्राप्त करते हैं और पूंजीपतियों को अधिकतम लाभ प्राप्त करते हैं। पूंजीवाद में सरकार की कोई महत्वपूर्ण भूमिका

नहीं होती है। पूंजीवाद अर्थव्यवस्था में समस्त आर्थिक क्रियाओं का एक ही उद्देश्य होता है अधिकतम लाभ कमाना इस अर्थव्यवस्था में समाज दो रूपों में विभाजित हो जाता है–

I. पूंजीपति वर्ग
II. श्रमिक वर्ग

वे उत्पादन के साधनों पर बुर्जुआ वर्ग के निजी स्वामित्व और उत्पादन साधनों से वंचित तथा अपनी श्रम शक्ति बेचने को विवश होता है तथा मजदूरों के श्रम शोषण पर आधारित होता है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की परिभाषा –

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के संदर्भ में अनेक विद्वानों ने अनेक परिभाषाएं प्रस्तुत की गई है किन्तु सभी परिभाषाओं में एक ही बात पर बल दिया गया कि उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का स्वामित्व। जॉन स्ट्रेची के शब्दों में ''पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसमें कृषि भूमि, उद्योगों तथा खानों पर कुछ व्यक्तियों का स्वामित्व होता है। इन उत्पादन साधनों में कार्य करने वालों का साधनों पर स्वामित्व नहीं होता। उत्पादन का लाभ साधनों के स्वामियों को मिलता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था लाभ के उद्देश्य से चलती है। प्रेम के कारण नहीं।''

उपरोक्त परिभाषा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रकृति को पूर्ण रूप से स्पष्ट करती है। उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का व्यक्तिगत स्वामित्व होना, जिसमें उत्पादन पद्धति का आधार पूंजी होती है। पूंजी का उद्देश्य मुनाफाखोरी करना है। इस पूंजी के माध्यम से ही श्रम को खरीदा जा सकता है और उत्पादन के साधन हाथ पर लिये जाते हैं। पूंजी के कोई भी स्वरूप हो श्रम को खरीदे, कारखानों, उत्पादित वस्तुएं सभी पर निजी स्वामित्व होता है।

पूंजीवाद की विशेषताएं –पूंजीवाद की विशेषताएं इस प्रकार हैं –

1) निजी स्वामित्व : पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व निजी व्यक्तियों के हाथ में होता है। इसके अंतर्गत खेतों, कारखानों तथा पूंजी आदि पर व्यक्तियों का अधिकार होता है वे इनका प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता हैं। इसके अंतर्गत दूसरे लोगों के जीवन पर पूंजीपति का नियंत्रण होता है।

2) आर्थिक स्वतंत्रता : पूंजीवाद की दूसरी महत्वपूर्ण विशंषता आर्थिक स्वतंत्रता है। इस प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की पूरी स्वतंत्रता होती है कि वह अपनी सम्पत्ति जिस प्रकार चाहे उपभोग कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक कार्यों का संचालन इस प्रकार करता है कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। इसके अंतर्गत कोई भी व्यक्ति किसी भी सीमा तक चल अथवा अचल सम्पत्ति का संग्रण कर सकता है।

3) बाजार :पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय सिद्धांत बाजार अर्थव्यवस्था है। पूंजीपति अपनी क्षमतानुसार कितना भी उत्पादन कर सकता है तथा किसी भी कीमत पर तथा कितनी भी मात्रा में उसका विक्रय कर सकते हैं तथा किस स्थान से खरीदें कि उसे कम से कम मूल्य पर श्रेष्ठ वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में मिल सके।

4) उपभोक्ता की प्रभुत्ता : बाजार में उपभोक्ता ही सर्व शक्तिमान है क्योंकि बाजार अर्थशास्त्र के नियमों का पालन करता है। मांग और पूर्ति आदि भावों में उछाल है तो बाजार का स्पष्ट संकेत

है कि अमुक वस्तुओं कि बिक्री लाभदायक है। यदि भाव में गिरावट है तो भाग्य किसी अन्य में अजमाओ। अर्थात् जिन वस्तु के लिए उपभोक्ता अपनी रूचि एवं पसंदगी को व्यक्त करता है अर्थात् जिनके लिए वह ऊॅचा मूल्य देने को तैयार होता है, उन्ही वस्तुओं का उत्पादन स्वामी लोग करते हैं।

5) मुद्रा विनियम : जजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजी के स्थान पर वस्तु का विनियम होता है था लेकिन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा का विनियम होता है हम व्यवस्था में बैंक और वित्तीय संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

6) मुक्त प्रतियोगिता : पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रतियोगिता हर स्तर पर देखने को मिलती है श्रमिक एवं पूंजीपति के बीच मजदूरी निर्धारण को लेकर प्रतियोगिता, वस्तुओं के कीमत निर्धारण के लिए क्रेताओं के बीच प्रतियोगिता, वस्तुओं के बेचने के लिए विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता, वस्तु को खरीदने के लिए क्रेताओं के बीच प्रतियोगिता आदि अधिक से अधिक प्राप्त करने की प्रतियोगिता देखने को मिलती है। इस स्थिति में उत्पादन की आपसी प्रतिस्पर्धा बढ़ जाती है तथा लाभ क्रेताओं को मिल जाता है।

7) आर्थिक असमानताएं :इस अर्थव्यवस्था में मुख्यतः दो प्रकार के आर्थिक वर्ग उत्पन्न होते जाते हैं। पूंजीपति वर्ग तथा श्रमिक वर्ग, सम्पत्ति वर्ग, धनी वर्ग के व्यक्तियों के पास प्रचुर साधन उपलब्ध होते है। जबकि सम्पत्ति हीन श्रमिक वर्ग के पास रोटी जुटाने के लिए साधन नहीं होते । श्रमिक वर्ग उत्पादनों के साधनों के मालिकों या उद्योगों में कार्यरत् श्रमिक वर्ग हैं जो उद्योगपतियों के अत्याचार से पीड़ित एवं निर्धन होता है। पूंजीवाद की प्रगति के साथ दोनों वर्गों के बीच अमीरी गरीबी की खाई बढ़ती जा रही है।

बोध प्रश्न–1

(i) पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से क्या समझते है? अपना उत्तर पांच पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5.3.2 समाजवाद

समाजवाद का जन्म पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। समाजवाद का वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय कार्ल मार्क्स को जाता है इसीलिए कार्ल मार्क्स को समाजवाद का जनक माना जाता है। समाजवाद के संबंध में लोगों के अनेक विचार हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्था वह है जिसमें उत्पादन के साधनों पर सामूहिक रूप से समाज का अधिकार होता है और समाजिक उत्पादन का वितरण इस प्रकार से किया जाता है जिसमें जहाँ तक सम्भव हो सके, समानता हो। ऐसी अर्थव्यवस्था में उत्पादन नियोजित ढ़ंग से किया जाता है जिसमें सर्वप्रथम कुछ प्राथमिकताएं और उद्देश्य निश्चित कर लिये जाते हैं। आर्थिक

व्यवस्था का मूलभूत उद्देश्य अधिक लाभ कामाना न होकर लोगों की आवश्यकता पूर्ति करना होता है।

मार्क्स के अनुसार न बुर्जुआ वर्ग होगा न सर्वहारा। लोगों का कार्य के प्रति दृष्टिकोण बदल जायेगा और इस अवस्था में इस तरह न वर्ग होंगे और न राज्य होगा। इस अवस्था में प्रत्येक को अपनी क्षमता के अनुसार काम करना है और प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करना है।

यहाँ समाजवादी अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में समाजवाद के अर्थ को समझ लेना भी विषयानुकूल रहेगा– जब निजी समाज में सभी बड़े उद्योगों तथा सम्पत्ति पर सामूहिक एवं सार्वजनिक स्वामित्व होता है तथा इसका संचालन सार्वजनिक हित के लिए किया जाता है, व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं, तब समाज में यह व्यवस्था समाजवाद कहलाती है।

परिभाषाएं

सिडनी तथा वेब समाजवाद का आवश्यक लक्षण यह है कि उद्योग एवं सेवाएं, साथ ही उत्पादन के साधन, व्यक्तिगत स्वामित्व में न हो तथा औद्योगिक एवं सामाजिक प्रशासन व्यक्तिगत लाभ के सन्दर्भ में किया जाए।

जार्ज वर्नार्ड शॉ समाजवाद का अर्थ व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा को पूर्णतः समाप्त करना तथा सार्वजनिक अर्थ को भेदभाव रहित तरीके सम्पूर्ण जनसंख्या के समान रूप में वितरित करना है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पत्ति के साधनों का स्वामित्व सरकार के हाथों में होता है तथा उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं अपितु आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए किया जाता है।

1. **अनार्जित आय का अन्त :** समाजवादी अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के समान अनार्जित आय को स्थान नहीं दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार काम दिया जाता है। जो व्यक्ति परिश्रम नहीं करते हैं या बेकार रहना पंसद करते हैं उन्हें अर्थव्यवस्था में स्थान नहीं मिलता।

2. **सरकार द्वारा उत्पादन तथा वितरण :** समाजवादी अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा इस बात की पूरी–पूरी व्यवस्था की जाती है कि कितना उत्पादन किया जाय और उत्पादित माल का वितरण किस प्रकार किया जाय, ताकि समाज में रहने वाले व्यक्तियों को आवश्यकतानुसार वस्तुएं उपलब्ध हो सकें। इस व्यवस्था में नियंत्रण केन्द्रीय संस्था द्वारा संचालित होता है।

3. **प्रतियोगिता की कमी :** समाज में वर्ग विभेद नहीं होने के फलस्वरूप प्रतियोगिता को भी समाप्त कर दिया जाता है। प्रतियोगिता के आभाव में साधनों को अपव्यय तथा विज्ञापन व प्रचार–प्रसार में होने वाले व्ययों में कमी आ जाती है और पूंजी के अपव्यय को रोक लिया जाता है।

4. **अधिकतम सामाजिक कल्याण :** समाजवादी अर्थव्यवस्था में वस्तु का उत्पादन व्यक्तिगत लाभ को अधिकतम करने के लिए नहीं बल्कि सा0 कल्याण को अधिकतम करने के उद्देश्य से किया जाता है। इसमें सामान्य जनता को मूलभूत आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन तथा विवरण

की, लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार से समाजवादी अर्थव्यवस्था का आवश्यकता की पूर्ति करना ही उत्पादन के लिए मार्गदशक सिद्धांत होता है।

5. **सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना :** उत्पादक किसानों की भागेदारी का उद्देश्य लाभ अर्जित करना नहीं वरन् जनसाधारण की भलाई के लिए होता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता यह है कि निजी उत्पादकों एवं सरकारी उत्पादकों का सह अस्तित्व होता है। राष्ट्रीय संस्था सम्बन्धी उत्पादन कार्यों के अतिरिक्त सरकार उन कामों को भी करती है जिन्हें उद्यमी अलाभकारी समझते हैं।

6. **आय धन के वितरण में समानता :** मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत समाज में आय तथा धन के वितरण में समानता लाने का प्रयास किया जाता है जिसके लिए एकाधिकार तथा शोषणकारी प्रवृत्तियों का नियमन एवं नियंत्रण किया जाता है।

5.3.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था

मिश्रित अर्थव्यवस्था ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसमें उत्पादन एवं वितरण का कार्य सरकार एवं निजी क्षेत्र मिलकर करते है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति निजी होती है तथा प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक स्वतंत्रता होती है, अर्थात वह अपनी सम्पत्ति का मनोवांछित उपभोग करने के लिये पूर्ण स्वतंत्र होता है इसके विपरीत समाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति पर समाज का अधिकार होता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक स्वतंत्रता नहीं होती। इसमें क्रिया कलापों को इस प्रकार लागू किया जाता है कि सम्पूर्ण समाज का हित हो। इस प्रकार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्वतंत्रता होती जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप। जब पूंजीवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में से किसी को भी न अपनाकर एक मध्यम अर्थव्यवस्था को अपनाया जाता है तो ऐसी अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था कहलाती है। इस अर्थव्यवस्था में आवश्यक एवं महत्वपूर्ण उत्पादन में सम्बन्धित साधनों को सरकार अपने नियंत्रण में रखती है तथा शेष उत्पादन एवं वितरण का कार्य निजी उपक्रमों पर छोड़ दिया जाता है। यद्यपि निजी क्षेत्रों पर भी नियंत्रण सरकार का ही होता है। निजी क्षेत्रों को उन सभी नीतियों एवं अधिनियमों का पालन करना पड़ता है जो सार्वजनिक उपक्रमों के बनाए गये हैं।

जिन सार्वजनिक उपक्रमों को सरकार सफलतापूर्वक संचालित करने में असफल रहती है, उन्हें निजी हाथों में सौंप देती है तथा निजी उद्यमी व्यक्तिगत प्रयासों से इन उपक्रमों को धीरे–धीरे लाभ कमाने की स्थिति में ला देते हैं। इससे समाज में आर्थिक उत्पादन एवं वितरण में संतुलन बना रहता है। इसी आधार पर मिश्रित अर्थव्यवस्था एक आदर्श अर्थव्यवस्था है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषताएं–

1. पूंजीवाद एवं समाजवाद के मध्य का रास्ता मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रथम विशेषता यह है कि इसमें न तो पूर्ण रूप से पूंजीवाद के सिद्धांतों का पालन किया जाता है और न समाजवाद के सिद्धांतों का। कुछ मामलों में पूंजीवाद अपनाया जाता है जबकि कुछ में समाजवाद अपितु दोनों नीतियों व सिद्धांतों के समन्वय का ही परिणाम है।

2. **संयुक्त उत्तरदायित्व :** मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन एवं वितरण के कार्यों को करने के लिए व्यक्ति एवं सरकार दोनों का संयुक्त उत्तरदायित्व होता है।

3. सीमित व्यक्तिगत स्वतंत्रता : मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी उपक्रमों का भी महत्त्व होता है तथा इनको अपना विकास करने का पूरा–पूरा अवसर दिया जाता है लेकिन इनको पूर्ण स्वतंत्रता नहीं होती है। उन पर राज्य द्वारा आवश्यकतानुसार नियंत्रण अवश्य लगाये जाते हैं।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के स्वरूप : कार्यप्रणाली के आधार पर मिश्रित अर्थव्यवस्था के तीन स्वरूप हैं–

1. **विशुद्ध सार्वजनिक उपक्रम :** विशुद्ध सार्वजिनक उपक्रमों के उद्यमों में उद्योगों पर पूर्ण नियंत्रण सरकार के हाथों में होता है। प्रबन्ध नीति का निर्माण एवं क्रियान्वयन, स्वामित्व, उत्पादन तथा वितरण का अधिकार सरकार के पास रहता है। लाभ तथा हानि भी सरकार को सरकार को स्वीकार करनी पड़ती है।

2. **विशुद्ध निजी उपक्रम :** इन उपक्रमों का सम्पूर्ण प्रबन्ध नियंत्रण एवं स्वामित्व निजी हाथों में होता है उत्पादन तथा वितरण उद्यमी अपनी इच्छानुसार करते हैं। लाभ तथा हानि के स्वामी भी निजी उद्यमी होते हैं किन्तु इन उद्यमियों को अपने उपक्रमों में सरकारी नीतियों एवं अधिनियमों का पालन करना पड़ता है।बाजार के पास इन उपक्रमों की जांच के पूर्ण अधिकार होते हैं।

मिश्रित क्षेत्र : इस क्षेत्र के उपक्रमों में सरकार एवं निजी उद्यमियों का संयुक्त स्वामित्व होता है। सैद्धातिक रूप में इन उपक्रमों में सरकार का नियंत्रण अधिक होता है। अतः पूंजी निवेश की प्रतिशतता भी सरकार की अधिक होती है। लाभ एवं हानि का संयुक्त दायित्व भी इन्ही दोनों का होता है पूंजी निवेश की प्रतिशतता के आधार पर इसका निर्धारण होता है।

बोध प्रश्न–2

(i) मिश्रित अर्थव्यवस्था के उपक्रम को कितने भागों में विभक्त किया जाता है? अपना उत्तर पांच पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5.4 सम्पत्ति की अवधारणा –

सम्पत्ति का तात्पर्य किसी भी भौतिक या अभौतिक वस्तु पर स्वामित्व अधिकार तथा कर्तव्यों की उस मात्रा से है जो सीमित होती है तथा जिसे समाज द्वारा मान्य एवं मूल्यांकन समझा जाता है। औद्योगिक समाजों में सामान्यतया सम्पत्ति का अर्थ चल और अचल सम्पत्ति से लिया जाता है। सम्पत्ति उत्पादन और वितरण की प्रणालियां आर्थिक संस्थाओं का निर्माण करती हैं सम्पत्ति बहुत ही महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था है।

सम्पत्ति के स्वामित्व के आधार पर इसे तीन भागों में बाटा गया है–

1. व्यक्तिगत सार्वजनिक एवं सामूहिक

2. चल–अचल सम्पत्ति

3. भौतिक अभौतिक सम्पत्ति

5.4.1 सम्पत्ति की परिभाषा :

गिन्सवर्ग ने सम्पत्ति को इस प्रकार परिभाषित करते हैं ''सम्पत्ति अधिकारों और कर्तव्यों का वह समुच्चय है जो व्यक्तियों तथा समूहों के साथ भौतिक साधन पर मालिकाना हक के सन्दर्भ में अर्न्तसम्बन्धों को परिभाषित करती है सम्पत्ति संबंधी अवधारणा के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके आलोक में लोगों का या किसी व्यक्ति का चीजों के ऊपर मान्य अधिकार होता है। यद्यपि इनकी बहुत सारी सीमायें हैं फिर भी यह दूसरों के हस्तक्षेप के बाहर होती है।''

जानसन ने सम्पत्ति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''सम्पत्ति का अभिप्राय उन सभी भौतिक एवं अन्य सभी वस्तुओं से है जिस पर व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त है।''

किंग्सले डेविस के अनुसार ''एक व्यक्ति या समूह एक दूसरे व्यक्तियों या समूहों के सन्दर्भ में कुछ बहुमूल्य चीजों के प्रति अधिकारों और कर्तव्यों में निहित होती है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सम्पत्ति अधिकारों और कर्तव्यों के पूरे प्रतिमान की कुछ मूल्यवान चीजों के अधिकार उपभोग प्राप्ति और निबटारे के संदर्भ में व्याख्या करती है। यहॉ सम्पत्ति शब्द का प्रयोग अधिकार के लिए और उन चीजों के लिए होता है जिसमें अधिकार निहित होते हैं।

5.4.2 सम्पत्ति की विशेषताएं –

1. सम्पत्ति मूर्त अथवा अमूर्त होती हैं।
2. सम्पत्ति अपने मालिक द्वारा बेची और विनिमय या उपहार द्वारा हस्तांतरित की जा सकती है।
3. व्यक्तियों और समूहों का अधिकार एवं कुछ न कुछ अधिकार एवं कर्त्तव्यों का समावेश होता है।
4. सम्पत्ति अधिकार इसके मालिक को वस्तुओं के वास्तविक और इससे मजे करने की इजाजत नही देता। कानून मालिकाना हक और अधिकार में विभेद करता है।
5. सम्पत्ति का संबंध सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों से होता है।

बोध प्रश्न–3

(i) सम्पत्ति की किन्ही चार विशेषताओं को बताइए?

.....

.....

.....

.....

.....

5.5 बाजार

किसी भी प्रकार के विनिमय में बाजार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह एक ऐसी आर्थिक शक्ति है जो वस्तुओं के मोल–भाव को निर्धारित करती है। किसी वस्तु का आयात–निर्यात वस्तु के मूल्य पर निर्भर करता है और वस्तु के मूल्य बाजार में निर्धारित होते हैं। बाजार का अस्तित्व वस्तुओं के एक से अधिक विक्रेताओं के अस्तित्व पर निर्भर है। औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था में बाजार को कार्यपद्धति मुक्त बाजार और खुली प्रतिस्पर्धा पर आधारित है। खरीदने वाले व बेचने वालों में आपसी प्रतिस्पर्धा तथा मोल–भाव के कारण दाम वस्तुओं के गुण और सार्वदन के बीच संतुलन बना रहता है। बाजार का अर्थ एवं परिभाषा अर्थशास्त्री बाजार का अर्थ उस सम्पूर्ण क्षेत्र से लेते हैं जहॉ वस्तु विनिमय विशेष क्रेताओं एवं विक्रेताओं की भौतिक उपस्थिति उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती जितनी उनमें प्रतिस्पर्धा एवं सम्पर्क होता है।

चैपमेन के अनुसार ''बाजार शब्द का आशय किसी स्थान विशेष से नहीं बल्कि वस्तुओं एवं क्रेताओं एवं विक्रेताओं से होता है जो आपस में प्रत्यक्ष रूप से प्रतियोगिता करते हैं।''

माार्शल – बाजार से किसी स्थान या क्षेत्र जिसमें वस्तुओं का क्रय विक्रय होने का बोध नहीं होता अपितु उन समस्त वस्तुओं का बोध होता है जिसमें क्रेता एवं विक्रेता के मध्य प्रतियोगिता होती है।

ऐली के अनुसार –''उस सम्पूर्ण क्षेत्र को बाजार कहा जा सकता है जिसके अन्तर्गत किसी वस्तु विशेष का मूल्य निर्धारित करने वाली विभिन्न शक्तियॉ स्वतंत्रता पूर्ण कार्य करती हैं।''

संसार भर में इस व्यवस्था का सम्बन्ध उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। जनजातीय समाज में संस्थात्मक बाजार तो नहीं पाया जाता लेकिन जनजातीय बाजार भी आर्थिक क्रिया कलापों का केन्द्र बिन्दु होता है, जहाँ वस्तुओं का विनिमय होता है दूसरी तरफ जटिल समाजों में बाजार में मुद्रा, उधार, दलाल एवं बैंक की व्यवस्था पाई जाती है। लेन–देन का हिसाब रखा जाता है और जिसकी व्यवस्था वहाँ की सरकार द्वारा की जाती है। बाजार व्यवस्था वह है जहाँ जीवनोपार्जन से अतिरिक्त उत्पादन को बेचा जा सके और उपभोग की अन्य वस्तुओं का विक्रय हो सके।

श्रम, उद्योगों, सेवाओं, उपभोक्तओं के लिए वस्तुओं, वित्तीय सेवाओं, पूंजी तथा विनिमय की राशियों का सम्पूर्ण कारोबार बाजार में होता है। बाजार का उद्भव तब होता है जब किसी वस्तु अथवा सेवा की पूर्ति करने वाले कई व्यक्ति हों और कई व्यक्ति अथवा संगठन उस वस्तु की प्राप्ति के इच्छुक हों।

बाजार के विश्वव्यापीकरण ने मनुष्य, सामाजिक सांस्कृतिक संस्थाओं तथा राज्य के व्यवहार पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया है। विश्वव्यापीकरण जनित व्यवस्था में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रारम्भ कर दिया है। परिणामस्वरूप आर्थिक व्यवस्था सांस्कृतिक व्यवस्था से पृथक हो गयी। इस तरह व्यक्ति तथा संस्था में जो भी संघर्ष होना था उसकी मध्यस्था को भी विश्वव्यापीकरण ने समाप्त कर दिया। इस प्रकार बाजार आर्थिक क्षेत्र के साथ–साथ राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

बाजार के भाग :

चूकि बाजार एक व्यापक अवधारणा है तथा वस्तुओं के क्रय विक्रय से सम्बन्धित है। अतः बाजार के विभिन्न भागों का होना अनिवार्य है–

1. **पूर्ण बाजार :** बाजार को पूर्णता मुख्य रूप से खुली प्रतियोगिता पर निर्भर करती है। प्रतियोगिता की स्थिति में कोई विक्रेता अथवा क्रेता से बाजार को प्रभावित कर सके।

2. **अपूर्ण बाजार :** यदि अन्य प्रतियोगिताओं की तुलना में कोई एक क्रेता या विक्रेता आर्थिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली है तो बाजार में एकाधिकार का जन्म होता है। इस स्थिति में अन्य प्रतियोगी बाजार से समाप्त हो जाते हैं इसे अपूर्ण बाजार कहते हैं।

5.6 विनिमय प्रणाली :

अर्थव्यवस्था के सभी चरणों में विनिमय को कुछ न कुछ प्रणाली अवश्य ही रही है प्राचीन समाज में लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुएं एक दूसरे से बदलकर प्राप्त कर लेते थे। इसे वस्तु विनिमय प्रणाली कहते थे। परंतु आधुनिक समाज में बाजार अर्थव्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ जिसके विनिमय एक प्रमुख संस्था है।

मूल्य के संचयन और मापन तथा विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा की अनुपस्थिति के कारण आर्थिक लेन–देन हमेशा विनिमय पर आधारित होता था। दो या अधिक पक्षों के मध्य वस्तु या धन के स्वतंत्र पारस्परिक एवं वैधानिक आदन प्रदान को विनिमय कहते हैं। विनिमय प्रणाली के मुख्यतः चार प्रकार होते हैं–

1. **वस्तु विनिमय :** जब वस्तु का वस्तु के बदले लेना–देना होता है तो यह वस्तु विनिमय कहलाता है। यह विनिमय मुख्यतः सभी जनजातियों में पाया जाता है जिसे बार्टर सिस्टम कहते हैं। वस्तु विनिमय प्रणाली एक विनिमय है जिसके तीन रूप हैं–
   क. सेवा के बदले सेवा
   ख. सेवा के बदले वस्तु
   ग. वस्तु के बदले वस्तु

वस्तु विनिमय प्रणाली में धन का कोई स्थान नहीं होता है।

2. **मूक विनिमय** :कुछ जन जातियों में मूक विनिमय भी पाया जाता है इस प्रकार के समाज में वस्तुए व्यापार के लिए रख दी जाती हैं और संबद्ध व्यक्ति अनुपस्थित रहता है। वस्तुएं अगर असमान मूल्य की होती हैं तो इन्हें नहीं खरीदा जाता। वे लोग जो इन्हें रखते हैं समस्या को समझ जाते हैं और मोलभाव करने के लिए कोई और वस्तु रख देते हैं। इस प्रकार के व्यवहार को मूक व्यापार या मूक विनिमय कहते हैं श्रीलंका की वेददा, उत्तराखण्ड की राजी और सेमांग (मलेशिया) में पाया जाता है।
3. **संतुलित विनिमय :** जब काम के बदले मुद्रा या वस्तु के बदले मुद्रा या वस्तु के बदले वस्तु का व्यापार हो।
4. **पारस्परिक विनिमय :** उपहारों का आदान प्रदान पारस्परिकता का अच्छा उदहारण है किसी खुशी के अवसर पर दिया गया उपहार या वस्तु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को स्थानांतरित की जाती है।

कुछ समाजों में विनिमय की केवल एक पद्धति का प्रयोग होता है। अन्य समाजों में चारों पद्धतियाँ पायी जाती हैं। यद्यपि एक ही पद्धति प्रमुख होती है।

बोध प्रश्न–4

(i) विनिमय प्रणाली को कितने भागों में विभक्त किया जाता है? अपना उत्तर पांच पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5.7 मजदूरी–

प्राचीन काल से ही मजदूरी की अवधारणा व्याप्त थी। मजदूरी एक प्रकार का पुरस्कार है। जो मनुष्य के परिश्रम के बदले में दिया जाता है। चाहे वह प्रति घंटा प्रतिदिन और समयानुसार दिया जाय और उसका भुगतान मुद्रा या वस्तुओं या दानों के रूप में हो। मजदूरी शब्द से अभिप्राय उस कीमत से है जो श्रम को उत्पादन प्रक्रिया में की गयी उसकी सेवाओं के बदले में चुकायी जाती है। मजदूरी श्रम की सेवाओं की कीमत है श्रम की कीमत भी अन्य वस्तुओं की तरह श्रम की मांग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं क्योंकि जिस प्रकार से किसी वस्तु की माँग व पूर्ति होती है, उसी प्रकार से बाजार में श्रम की मांग की पूर्ति होती है। मजदूरी केवल द्रव्य के ही रूप में ही नहीं दी जाती वरन् मजदूरी का भुगतान द्रव्य तथा वस्तुओं दोनों ही के रूप में किया जा सकता है।

5.8 श्रम विभाजन

मनुष्य की विभिन्न आवश्यकता होती है जिन्हें वह अकेला रहकर पूरा नहीं कर सकता। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे उत्पादन करना होता है। उत्पादन के कार्य के लिये अन्य व्यक्तियों के सहयोग से पूर्ण होत हैं। मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले उत्पादन के श्रम को छोटे–छोटे अनेक भागों में बांट देने को ही श्रम विभाग कहते हैं।

अर्थशास्त्रीयों के अनुसार श्रम विभाजन मनुष्य की सुख–शान्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये होती है अर्थात जब–जब श्रम विभाजन विकसित होता है तब–तब हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। श्रम विभाजन का उद्देश्य अपने व्यवसाय का उत्पादन कार्य में कुशलता और दक्षता रखने वाले लोगों या व्यक्तियों के समूह को एक सूत्र से जोड़ता है। दुर्खीम की सशक्त प्राक्कल्पना यह है कि श्रम विभाजन समाज के सदस्यों में सम्बद्धता लाता है।

श्रम विभाजन का अर्थ एवं परिभाषा

श्रम विभाजन का तात्पर्य उत्पादन की प्रक्रिया को छोटे–छोटे भागों में बांट दिया जाता है। श्रम विभाजन में प्रत्येक कार्य को करने वाले व्यक्ति अलग–अलग होते हैं जो अपने कार्य में कुशल होते हैं जिसके कार्य में विशेषीकरण पनपता है।

श्रम विभाजन पर ईमाइल दुर्खीम के विचार

दुर्खीम ने अपनी प्रसिद्ध कृति Social Divison of Labour के द्वितीय खण्ड में सामजिक श्रम विभाजन की धारणा को प्रतिपादित किया है। अपने इस विवेचन में उन्होंने समाज में श्रम विभाजन के सामाजिक कारणों तथा परिणामों का वर्णन किया है और कहा है कि जनसंख्या के आकार और घनत्व तथा मानवीय आवश्यकताओं की विभिन्नता और वृद्धि ने श्रम विभाग को जन्म दिया। दुर्खीम के अनुसार सबसे प्राचीन समाज में लिंग भेद या स्त्री–पुरूष के भेद पर आधारित था। पुरूष शिकार करने तथा फल एकत्र करने जाते थे और स्त्रियां घर का काम और बच्चों का पालन–पोषण करती थी। चूंकि इस युग में आर्थिक कार्य अत्यधिक सीमित थौ उत्पादन नाममात्र का था। इसी कारण आर्थिक जीवन में काई विशेष श्रम विभाजन की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी। चूंकि श्रम विभाग नहीं था इस कारण विशेषीकरण का कोई भ प्रश्न नहीं था। दुर्खीम के अनुसार इस प्रकार के समाजों में यांत्रिक एकता थी इसका कारण भी स्पष्ट है सभी लोग सामूहिक इच्छा से बँधे होते थे। परन्तु जैसे–जैसे सभ्यता का विकास हुआ वैसे–वैसे आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलू विकसित होते गए। वस्तुओं की मांगे बढ़ी और आवश्यकताओं में विविधताओं का विस्तार हुआ। इन सबके फलस्वरूप सामाजिक उत्पादन कार्यों में श्रम विभाग की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इस श्रम विभाजन ने प्राचीन समाज में पायी जाने वाली यांत्रिक एकता को सावयवी एकता में बदल दिया। इस प्रकार जन घनत्व में वृद्धि श्रम विभाजन के पनपने में एक प्रमुख सहायक कारक बना।

दुर्खीम ने श्रम विभाग के सामाजिक परिणामों की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि इसके फलस्वरूप समाज यांत्रिक एकता से सावयवी एकता वाले समाज में परिवर्तित हुआ जिससे विभिन्न सामाजिक कार्यों को समाज की विभिन्न इकाइयां करती तो अवश्य हैं किन्तु उनके महज सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर अन्तः संबंध और अन्तः निर्भरता बनी रहती है। श्रम विभाजन के अंतर्गत व्यक्ति एक विशेष प्रकार का कार्य करता रहता है जिसे उस कार्य विशेष में विशेषता हासिल हो जाती है। फलतः श्रम का विशेषीकरण हुआ। श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण के कारण व्यक्तिगत गुण तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का महत्त्व बढ़ा है, साथ–साथ ही श्रम विभाजन ने समाज को भिन्न–भिन्न हित समहों तथा व्यवसाय के समूह में विभाजित किया।

दुर्खीम के श्रम विभाजन के संबंध में उपयोगवादियों की धारणा है कि इसकी एक प्रमुख उपयोगिता यह है कि श्रम विभाजन को अधिकाधिक धन तथा उच्च जीवन स्तर प्राप्त करने की अभिलाषा की पूर्ति को साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु दुर्खीम उपयोगिता वादियों के इस दृष्टिकोण से असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि श्रम विभाजन का एक मात्र उद्देश्य और परिणाम आर्थिक उत्पादन की वृद्धि है न कि अधिकाधिक धन प्राप्ति या सुख प्राप्ति है। सभ्यता का जैसे–जैसे विकास होता गया मानव सुख घटता गया। इस दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि श्रम विभाजन को भौतिक सुख समृद्धि की वृद्धि के साधन के रूप में देखें।

बोध प्रश्न–5

(i) श्रम विभाजन पर दुर्खीम के विचारों को बताइए ? अपना उत्तर उक्त पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

5.9 आधुनिक अर्थव्यवस्था –

आधुनिक विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को प्रायः दो प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है।

5.9.1 विकसित अर्थव्यवस्था

विकसित अर्थव्यवस्था वह है जो लोगों को अच्छे नागरिक जीवन की अनिवार्य और आरामदायक सुविधायें प्रदान करती हैं। आर्थिक विकास से तात्पर्य साधनों में वृद्धि और लोगों की आवश्यकता की वस्तुओं और सेवाओं की बढ़ोत्तरी से है। आर्थिक विकास को मापने का पैमाना राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय और प्रति व्यक्ति उपभोग पर्याप्त लंबे समय तक बढ़ता रहता है जो यह विकसित अर्थव्यवस्था की जाती है या जब अर्थव्यवस्था के उत्पादन, उपभोग व रहन सहन आदि का स्तर ऊँचा हो जाता है तो विकसित अर्थव्यवस्था हो जाती है।

सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि विकसित अर्थव्यवस्था वह है जो उत्पादन में कार्यक्षमता की एक सीमा तक पहुॅच गई है और अपने लोगों को एक उचित जीवन स्तर प्रदान करती है।

5.9.2 अल्पविकसित अर्थव्यवस्था

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था वह अर्थव्यवस्था है जो अपने लोगों को अच्छे और आरामदायक जीवन की सुविधायें प्रदान करने में असमर्थ है। ऐसा दो कारणों से संभव है या तो उस अर्थव्यवस्था में प्राकृतिक साधनों का आभाव है या उनका पूर्ण शोषण व उपयोग नहीं किया गया। ऐसी अर्थव्यवस्था में कुशल उत्पादन का आभाव होता है। कुल उत्पादन और प्रति व्यक्ति उत्पादन का नीचा स्तर होता है। उपभोग का स्तर गिरा हुआ होता है और मिम्न जीवन स्तर होता है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में लोग जीवन रक्षक आवश्यक आवश्यकताओं जैसे भोजन, वस्त्र और मकान जैसी सुविधाओं से भी वंचित रहते है। ऐसी अर्थव्यवस्था में औद्योगिकरण का आभाव होता है कृषि पर अधिक निर्भरता होती है। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि होती है। यहॉ बेरोजगारी व अशिक्षा भारी मात्रा में पायी जाती है ऐसे देशों में भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, वर्मा आदि आते हैं।

विकासशील अर्थव्यवस्था की परिभाषा :

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की परिभाषा भिन्न–भिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न दी है। अतः इन विकासशील अर्थव्यवस्था की परिभाषा का निम्न आधारों पर वर्गीकरण किया जा सकता है –

प्रतिव्यक्ति आय या जीवन स्तर

संयुक्त राष्ट्र संघ प्रकाशित प्रकाशन के आधार पर ''अल्पविकसित राष्ट्रों से आशय ऐसे राष्ट्रों से है जिसमें प्रति व्यक्ति वास्तविक आय संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया एवं यूरोप के देशों की प्रति व्यक्ति आय की तुलना में कम है। प्रो0 वाइनर के अनुसार एक अल्प विकसित देश वह राष्ट्र है जिसमें अधिक पूंजी अथवा अधिक श्रम शक्ति अथवा उपलब्ध प्राकृतिक साधनों अथवा इन सभी के उपयोग करने के लिए उत्तम सम्भावनाएं मौजूद हैं जिससे कि उस देश की वर्तमान जनसंख्या के जीवन स्तर को ऊँचा किया जा सके और यदि उस देश की प्रति व्यक्ति

आय पहले ही पर्याप्त ऊँची है तो रहन सहन के विद्यमान स्तर में कमी किए बिना और अधिक जनसंख्या का निर्वाह किया जा सके।

उपरोक्त परिभाषाओं में प्रति व्यक्ति आय पर जोर दिया गया है साथ ही पूर्ण श्रम एवं साधनों के सर्वोत्तम उपभोग की सम्भावनाओं पर भी जोर दिया है।

(ब) तकनीकी स्तर :

जे. आर. हिक्स के अनुसार ''एक अल्पविकसित देश वह है जिसमें तकनीकी एवं मौजुदा साधनों की मात्रा उत्पादन और बचत के वास्तविक स्तर के समान ही निम्न होती है। जिसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक की प्रति इकाई औसत पारिश्रमिक उस राशि में कम मिलता है।

3. **पूंजी का स्तर :**

कुछ अर्थशास्त्रियों ने अल्पविकसित राष्ट्रों की व्याख्या पूंजी की पर्याप्तता अथवा कमी के आधार पर करने का प्रयास किया। प्रो0 रंगवर जेक्से के शब्दों में ''अल्पविकसित देश वे हैं जहाँ जनसंख्या व प्राकृतिक साधनों को देखते हुए विकसित देंशों की तुलना में पूंजी का आभाव है।''

मेकलामंड के अनुसार '' अल्पविकसित राष्ट्र उस देश को कहा जायेगा जिसमें उत्पादन के अन्य साधनों की तुलना में पूंजी एवं साध्य का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता है। किन्तु साथ ही उत्पादन कार्यों में पूंजी के ओर अधिक लाभदायक विनियोग की उत्तम सम्भावनाएं विद्यमान होती हैं।''

निर्धनता तथा अप्रयुक्त साधन

श्री यूगेन स्टेले के अनुसार ''अर्द्ध विकसित राष्ट्र उसे कहा जाएंगा जहाँ व्यापक रूप से ऐसी निर्धनता व्याप्त हो जो किसी आकस्मिक दुर्घटना का परिणाम न होकर जीर्ण रोग की भाँति स्थायी अथवा दीर्घकालीन हो क्योंकि उस देश में ऐसे पुरातन तरीकों का चलन है जो अब अप्रचलित हो चके हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में अल्प विकसित देश या अर्थव्यवस्था की एक–एक विशेषता की बात की गयी है विकासशील देश या अर्थव्यवस्था वह अर्थव्यवस्था है जिसमें पर्याप्त मात्रा में विकास की सम्भावनाएं हो तथा उसके लोगों में वर्तमान जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए पूंजी या अधिक श्रम या अधिक उपलब्ध तथा सम्भावित प्राकृतिक साधनों या इन सभी को मिश्रित रूप से प्रयोग करने के लिए तत्परता हो, या यदि इनकी संख्या में वृद्धि हो रही हो तो जीवन स्तर को जनसंख्या में वृद्धि दर की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ने के लिए इनके प्रयोग करने की तत्परता हो।

विकासशील अर्थव्यवस्था की विशेषताएं

अध्ययन की सुविधा के लिए हमने विकासशील अर्थव्यवस्था की विशेषताओं का निम्न भागों में बांटा गया है जिनका यहा पर विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा

1. **कृषि की प्रधानता :** अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता अधिकांश जनता का कृषि में संलग्न रहना है। अर्थात कृषि की प्रधानता होती है। अधिक स्पष्ट शब्दों में, इस अर्थव्यवस्था में कृषि इन देशों के निवासियों का प्रमुख व्यवसाय हो। कृषि

एवं प्राथमिक व्यवसायों में ऐसे देशों की जनसंख्या का दो तिहाई भाग लगा हुआ है और कृषि उत्पादकता अपेक्षाकृत बहुत कम है। यही कारण है कि अल्प विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों की राष्ट्रीय आय, नियति व्यापार व उद्योग कृषि पर आधारित होते हैं।

2. **राष्ट्रीय आय का निम्न होना :** विकासशील देशों की सबसे मुख्य विशेषता आर्थिक पिछड़ापन है। प्रतिव्यक्ति आय की न्यूवता अल्पविकसित का कारण और साथ ही अल्प विकास की यह सबसे प्रमुख विशेषता है। प्रति व्यक्ति आय में सर्वोपरि स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका का है, इसके पश्चात स्विट्ज लैण्ड, स्वीडन, जापान, जर्मनी एवं कनाडा का स्थान है जहॉ की प्रति व्यक्ति आय 3466 से 10725 डालर के मध्य है। विकासशील राष्ट्रों की प्रति व्यक्ति आय संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी यूरोप की प्रति व्यक्ति आय की तुलना में कम है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में विश्व की कुल जनसंख्या का 84 प्रतिशत रहता है परन्तु इन्हें विश्व की कुल आय का लगभग 14 प्रतिशत प्राप्त होता है।
3. **प्राकृतिक साधनों का अल्प उपयोग** : विकासशील देशों मं प्राकृतिक संसाधनों के प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के बाद भी उनका उपयोग या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो बहुत कम मात्रा में। कभी–कभी अल्प विकसित राष्ट्रों को इस बात का पता भी नहीं होता है कि उनके देश में प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं। विश्व के अधिकांश विकासशील देशों में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है किन्तु इन देशों में अनेक कारणों जैसे– संस्थागत अवरोधों, दोषपूर्ण सामाजिक संगठन एवं सरकारी नीतियों आदि के परिणामस्वरूप अधिकांश प्राकृतिक साधन बेकार पड़े हैं।
4. **बचत एवं पूंजी निर्माण की निम्न दर** :विकासशील राष्ट्रों में उपलब्ध साधनों को पूर्ण रूप से विदोहन नहीं हो पाने के कारण इनमें उत्पादन के लिये पर्याप्त मात्रा में पूंजीगत साधनों का विकास नहीं हो पाता है जिसमें पूंजी कोष इनकी विकास संबंधी आवश्यकता की तुलना में बहुत ही कम होता है। विकासशील देशों में केवल प्रति व्यक्ति उपलब्ध पूंजी की मात्रा न्यून नहीं होती, वरन् पूंजी निर्माण की दर अत्यन्त निम्न होती है। यह भलि भॉति स्पष्ट है कि कोई देश जितना उत्पन्न करता है वह सब उपभोग में प्रयोग कर लेता है तो वह भविष्य के लिए पूंजी की बचत नहीं कर सकता। पूंजी निर्माण बचत की मात्रा पर निर्भर होती है और प्रति व्यक्ति आय की न्यूनता के कारण विकासशील देशों में बचत बहुत कम हो पाती है।
5. **औद्योगिक पिछड़ापन :** अल्प विकसित देश औद्योगिक विकास की दृष्टि से पिछड़े हुऐ होते हैं। इसका अर्थ यह है कि यहं आधारभूत उद्योगों का अभाव होता है। यहां कुछ उद्योग जो उपभोक्ता वस्तु या कृषि वस्तु बनाते हैं उनका ही विकास हो पाता है। विकासशील देशों में एक ही उद्योग में नितानत अविकसित तकनीक के साथ–साथ आधुनिक तकनीक का प्रयोग भी किया जाता है। परन्तु अधिकांश उत्पादन इकाइयों में घटिया तकनीक का प्रयोग किया जाता है। अल्पविकसित देशों कम उत्पादित के प्रमुख कारणों मं अविकसित तकनीक एक उल्लेखनीय कारण है।
6. **सम्पत्ति एवं आय वितरण में असमानता :** विकासशील देशों में सम्पत्ति एवं आय वितरण में अत्यधिक असमानता है। उत्पादन के साधनों पर गिने चुने लोगों के हाथों में केन्द्रित है जबकि जनसंख्या के बड़े भाग को सम्पत्ति एवं आय का छोटा सा हिस्सा प्राप्त होता है। इस प्रवृत्ति की विद्यमानता के कारण सकल आय का एक बड़ा हिस्सा जनसंख्या के छोटे हिस्से में चला जाता है।

7. **बेरोजगारी तथा अल्प बेरोजगारी** : इन अल्प विकसित देशों मं अल्प रोजगार के साथ–साथ बेरोजगारी बेरोजगारी भी होती है। जिन लोगों को काम मिला हुआ होता भी है उनको भी पूरे समय के लिए काम नहीं होता है। इन देशों में कुछ लोग सदा ही बेरोजगार बने रहते हैं। उनके लिए समाज के पास कोई कार्य नहीं होता है। इसका मुख्य कारण औद्योगिकरण की कमी एवं पूंजी निवेश का अभाव है।

जनसंख्या संबंधी विशेषताएं

मानव उत्पादन का साधन तथा साध्य दोनों ही है अतः आर्थिक विकास की समस्या का जनसंख्या के प्रश्न से निकट का संबंध होता है।

1. **जनाधिक्य** : विकासशील देशों में जनसंख्या के अधिक होने की स्थिति पायी जाती है जबकि विकसित देशों में उतना नहीं होता है। साथ ही अल्पविकसित देशों में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती है। अतः यहाँ जनसंख्या का आकार व घनत्व अधिक होता है।
2. **ऊँची जन्म व मृत्यु दर** :विकासशील देशों की जनसंख्या की एक प्रधान विशेषता यह है कि इनमें जन्म एवं मृत्यु दर दोनों विकसित देशों की अपेक्षा अधिक हीो है। अल्प विकसित देशों में ऊँची जन्म दर के कारण है –सामाजिक धारण एवं विश्वास पारिवारिक मान्यता, बाल विवाह, विवाह की अनिवार्यता, भाग्यवादिता, निरोधक सुविधाओं का अभाव, स्त्री शिक्षा का अभाव, पौष्टिक आहार का अभाव आदि। जन्म दर बहुत अधिक तथा मृत्यु दर अपेक्षाकृत कम होने के कारण विकासशील देशों की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होती है।
3. **अकुशल जनशक्ति की अधिकता** :अल्प विकसित देशों में अकुशल जनसंख्या की अधिकता रहती है। किसी भी देश की जनसंख्या का केवल ही मात्र मानव शक्ति में सम्मिलित किय जाता है वे प्रत्यक्ष रूप से काम में लगा हुआ है और उत्पादन में योग दे रहा है, आप 15 से 60 वर्ष तक की आयु के व्यक्ति कार्यशील जनसंख्या में सम्मिलित है। विकासशील देशों में इस आयु वर्ग के व्यक्तियों का प्रतिशत अपेक्षाकृत कम होता है।

सामाजिक विशेषताएं

1. शिक्षा एवं उन्नत तकनीक का अभाव : अल्पविकसित देशों में साक्षरता की कमी पायी जाती है। दूसरे शब्दों में, इन देशों में व्यापक निरक्षरता होती है, अधिकांश व्यक्ति निरक्षर होने के कारण शिक्षा के अभाव में वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण के निर्माण का सर्वथा अभाव होता है। अशिक्षित होने के कारण इन देशों में स्वतंत्र विचारों का अभाव होता है।

2. **अगतिशील** : विकासशील देशों में वर्ग विभेद तथा जातिवाद की भावना व्याप्त होती है। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति भिन्न–भिन्न होती है। इनमें से प्रत्येक वर्ग का परम्परगत आचरण एवं व्यवसाय होता है, जिसे वे शीघ्र छोड़ना नहीं चाहते हैं। इन देशों में रीति रिवाजों की प्रधानता होती है जिनको प्रत्येक व्यक्ति आँखे मुंदकर मानता है और समय–समय पर उन्हीं रिवाजों के अनुसार कार्य करता है इन रीति रिवाजों के कारण समाज में व्यक्तियों को विकास में रूचि लेने एवं आगे बढने हेतु प्रेरित करने वाले तत्वों का नितान्त अभाव होता है।

3.रहन सहन का निम्न स्तर : विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय की न्यनता और इसके परिणामस्वरूप जीवन स्तर निम्न है। इस संबंध में इन देशों में अधिकांश व्यक्ति निर्धनता रेखा से नीचे रह कर जीवन यापन करने हेतु विवश है। इन देशों में सामान्य जनता के भोजन में पौष्टिक तत्वों का अभाव होता है। जिससे शारीरिक शक्ति कम होती है तथा ये उत्पादन कार्य में अपना सहयोग प्रदान नहीं कर पाते।

प्रशासनिक एवं राजनीतिक विशेषताएं

1. **अपरिपक्व प्रशासनिक ढ़ांचा :** विकासशील देशों की राजनीतिक स्थिति विकसित देशों की तरह सुदृढ़ नहीं होती है, इन देशों में निर्धनता तथा अशिक्षा के कारण जनता अपने अधिकारों के प्रति ज्ञानवान नहीं होती अतः उसमें राजनीतिक अधिकारों के संबंध के प्रति जागरूकता नहीं होते हैं। राजनीतिक दृष्टि से दुर्बल होने के कारण ये देश विश्व के किसी विकसित राष्ट्र पर आश्रित होते हैं या विदेशी राष्ट्रों का आधिपत्य किसी न किसी रूप में बना रहता है।
2. **राजनीतिक अस्थिरता :**विकासशील देशों में तीन दशकों से अधिक के अन्तराल के बाद भी अभी तक राजनीतिक अस्थिरता विद्यमान है। किसी भी देश में औद्योगिक विकास हेतु राजनीतिक स्थायित्व एक अनिवार्य शर्त है।

बोध प्रश्न–5

(i) अल्प विकसित अर्थव्यवस्था की किन्ही दो परिभाषाओं को बताइए ? अपना उत्तर उक्त पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

5.10. सारांश

आर्थिक संस्थाएं की प्रस्तुत इकाई में आर्थिक संस्थाओं का अर्थ समझाते हुए उसके आर्थिक व्यवस्था तथा इसके प्रकारों को बताया गया है। आर्थिक और सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष के साथ घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं। आर्थिक अर्थव्यवस्था के अंतर्गत पूंजीवाद, समाजवाद तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था के माध्यम से समाज के आर्थिक संगठन को व्यवस्थित बनाये रखने में अपना योगदान देते है। आर्थिक संस्थाओं के रूप में सम्पत्ति, मजदूरी, बाजार तथा श्रम विभाजन की अवधारणाओं को वर्णन किया है।

5.11 पारिभाषिक शब्दावली–

- **समाजवाद–** एक सामाजिक व्यवस्था जिसमें निजी सम्पत्ति निशद्धि है।
- **बाजार–**वह व्यवस्था जिसमें वस्तुओं का मूल्य निश्चित मौद्रिक मानक में व्यक्त होता है।
- **विनिमय पद्धति–** दो या अधिक पक्षों के मध्य धन या वस्तु के स्वतंत्र, ऐच्छिक और वैधानिक आदान प्रदान को विनिमय पद्धति कहते है।

- **पूंजीवाद–** उस आर्थिक व्यवस्था को कहते है जिसमें प्राकृतिक संसाधनों तथा वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन पर निजी स्वामित्व हो।

5.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

आहूजा तथा आहूजा, **समाजशास्त्र विवेचना एवं परिपेक्ष्य,** रावत पब्लिकेशन, जयपुर
सिंह जे. पी., 2010. **समाजशास्त्रः अवधारणाएँ एवं सिद्धांत.** पी.एच.आई लर्निंग प्राईवेट लि. नई दिल्ली।
दोषी व जैन, 2009, **भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन.** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

5.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध–प्रश्न 1
विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर आर्थिक अर्थव्यवस्था के अर्न्तगत दिये गये पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विवरण में से लिखना है।
बोध–प्रश्न 2
विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर आर्थिक अर्थव्यवस्था शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये मिश्रित अर्थव्यवस्था के विवरण में से लिखना है।
बोध–प्रश्न 3
विद्यार्थी को इस प्रश्न का सम्पत्ति की अवधारणा शीर्षक के अर्न्तगत दिये गय विवरण में से लिखना है।
बोध–प्रश्न 4
विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर विनिमय प्रणाली शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।
बोध– प्रश्न 5
विद्यार्थी को इस प्रश्न का श्रम विभाजन शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।
बोध– प्रश्न 6
विद्यार्थी को इस प्रश्न का आधुनिक अर्थव्यवस्था शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये अल्प विकसित अर्थव्यवस्था के विवरण में से लिखना है।

5.14 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

मैकाइवर एण्ड पेज, **सोसाइटी**
राम आहूजा, **इंडियन सोशल सिस्टम,** रावत पब्लिकेशन, जयपुर
राम आहूजा, **सोसाइटी इन इंडिया,** रावत पब्लिकेशन, जयपुर
स्मेस्लर एन. जे., **सोशियोलॉजीः एन इन्ट्रोडक्शन,** वेली इर्स्टन प्राईवेट लि0, नई दिल्ली

5.15 निबंधात्मक प्रश्न

1– आर्थिक संस्थाए क्या है ? सम्पत्ति की अवधारणा को वर्णन कीजिए।
2– आर्थिक अर्थव्यवस्था के प्रकारों की विवेचना कीजिए ?
3– पूंजीवादी अर्थव्यवस्था तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था में अन्तर स्पष्ट कीजिए ?
4– आधुनिक अर्थव्यवस्था के प्रकारों का उल्लेख कीजिए?
5– श्रम विभाजन की अवधारणा दीजिए तथा दुर्खीम के योगदान का उल्लेख कीजिए?
6– विनिमय प्रणाली तथा बाजार की अवधारणा का उल्लेख कीजिए?

इकाई 6 समाजीकरण : अवधारणा एवं समाजीकरण के अभिकरण

Socialization: Concept & Agencies of Socialization

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 समाजीकरण की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
6.3 समाजीकरण की प्रकृति अथवा विशेषताएँ
6.4 समाजीकरण से सम्बन्धित अन्य अवधारणाए
6.5 समाजीकरण का महत्त्व तथा आवश्यकता
6.6 समाजीकरण के प्रमुख सोपान अथवा अवस्थाएँ
6.7 समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण
6.8 समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्त
6.9 सारांश
6.10 शब्दावली
6.11 अभ्यास प्रश्न
6.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में समाजीकरण की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी विशेषताओं, समाजीकरण के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से इससे मिलती–जुलती अवधारणाओं, इसके महत्त्व, सोपानों (अवस्थाओं), प्रमुख अभिकरणों एवं सिद्धान्तों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाजीकरण की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- समाजीकरण की प्रकृति अर्थात् इसे स्पष्ट करने वाली विशेषताओं की चर्चा कर पाएँगे;
- समाजीकरण की प्रक्रिया के सोपानों (अवस्थाओं) की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाजीकरण के प्रमुख अभिकरणों को स्पष्टतया समझ पाएँगे; तथा
- समाजीकरण की व्याख्या करने वाले प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्टतया समझ पाएँगे।

6.1 प्रस्तावना

क्या आपने कभी सोचा है कि प्रत्येक चूहा तैरना जानता है, जबकि प्रत्येक मानव तैरना नहीं जानता है। ऐसा क्यों है? चूहों को तैरना कौन सिखाता है? मानव को तैरना क्यों नहीं आता है? इन प्रश्नों का सम्बन्ध संस्कृति एवं समाजीकरण से है। पशु समाज संस्कृतिविहीन समाज माना जाता है तथा इसमें सभी गुण वंशानुक्रमण द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं। चूहे तैरना इसलिए जानते हैं क्योंकि उन्हें तैरने का गुण जन्म से ही प्राप्त होता है। संस्कृति मानव समाज का एक अनुपम गुण है। मानव समाज में व्यवहार सम्बन्धी कोई भी गुण जन्म से हस्तान्तरित नहीं होता है, अपितु मानव व्यवहार सीखा हुआ व्यवहार होता है। प्रत्येक मानव इसलिए नहीं तैर पाता क्योंकि उसने तैरना नहीं सीखा है। संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है तथा इसको एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करने का कार्य समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सम्भव होता है। इसलिए समाजीकरण मानव समाज में होने वाली एक प्रमुख प्रक्रिया मानी जाती है।

वस्तुतः शिशु जन्म के समय एक शारीरिक ढाँचा अर्थात् अस्थि–मांस का ढाँचा मात्र होता है क्योंकि उसे न तो अपने बारे में कुछ पता होता है और न ही वह समाज के बारे में

कुछ जानता है। जैसे–जैसे वह बड़ा होता जाता है वह प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में सभी सम्पर्क में आने वाले लोगों एवं समूहों (जैसे माता–पिता, अन्य परिजन, पड़ोसी, मित्र, विद्यालय आदि) से कुछ–न–कुछ सीखता रहता है। वह केवल भौतिक जगत के बारे में ही नहीं सीखता, अपितु अच्छे या बुरे लड़के/लड़की से क्या तात्पर्य है, यह भी सीखता है। समाज के मूल्यों एवं आदर्शों का आन्तरीकरण भी सीख की इसी प्रक्रिया के माध्यम से होता है। सीखने की यही प्रक्रिया समाजशास्त्र में समाजीकरण कही जाती है।

6.2 समाजीकरण की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाती है। इस प्रक्रिया के अभाव में व्यक्ति सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता। इसी से सामाजिक व्यक्तित्व का विकास होता है। सामाजिक–सांस्कृतिक विरासत के तत्त्वों का परिचय भी इसी से प्राप्त होता है। समाजीकरण से न केवल मानव जीवन का प्रभाव अखण्ड व सतत् रहता है, वरन् इसी से मानवोचित गुणों का विकास होता है और व्यक्ति सुसभ्य व सुसंस्कृत भी बनता है। समाजशास्त्रियों, समाज–मनोवैज्ञानिकों, मानवशास्त्रियों तथा शिक्षाशास्त्रियों द्वारा समाजीकरण शब्द का प्रयोग उस प्रक्रिया के लिए किया जाता है जिसके द्वारा आदर्शों, प्रथाओं एवं विचारधाराओं का आन्तरीकरण होता है। इसी के माध्यम से व्यक्ति में वे क्षमताएँ एवं आदतें विकसित होती हैं जो समाज में रहने के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं। इसी प्रक्रिया के माध्यम से प्रत्येक समाज अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाए रखता है।

किम्बल यंग ने समाजीकरण को व्यक्ति के सामाजिक–सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करने की प्रक्रिया कहा है। इसी प्रक्रिया से व्यक्ति समूह के आदर्शों एवं नियमों को सीखता है। समाजीकरण नवजात शिशु को सामाजिक बनाने की एक प्रक्रिया है। बच्चे को सामाजिक मान्यताओं के बारे में अवगत कराना, समाज में रहना सिखाना तथा व्यक्तित्व का निर्माण करना ही समाजीकरण है। **क्लासेन** (Clausen) के मतानुसार समाजीकरण शब्द पहली बार 1828 ई0 में शब्दकोश में सम्मिलित किया गया जिसका शाब्दिक अर्थ 'सामाजिक बनाना' अथवा 'समाज में रहने योग्य बनाना'। 20वीं शताब्दी के मध्य में समाजीकरण समाजशास्त्र की अमेरिकी प्रकार्यवादी परम्परा का केन्द्र–बिन्दु था। अमेरिका में **टालकट पारसन्स** (Talcott Parsons) तथा उसके सहयोगियों ने समाज का एक विस्तृत सिद्धान्त विकसित किया जिसमें आधुनिकता के अभ्युदय की व्याख्या की गई। समाजीकरण इस सिद्धान्त का एक प्रमुख अंग था। प्रमुख विद्वानों ने समाजीकरण की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं–

जॉनसन (Johnson) के अनुसार, ''समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है। **बोगार्डस** (Bogardus) के अनुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक कल्याण हेतु एक दूसरे पर निर्भर रहकर व्यवहार करना सीखते हैं और जिसके द्वारा सामाजिक आत्म–नियन्त्रण, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा सन्तुलित व्यक्तित्व का अनुभव प्राप्त करते हैं।'' **डेविस** (Davis) के अनुसार, ''परिवर्तन करने की इस प्रक्रिया के बिना, जिसे हम समाजीकरण कहते हैं, समाज एक पीढ़ी से भी आगे स्वयं को सन्तुलित नहीं रख सकता और न ही संस्कृति जीवित रह सकती है। इसके बिना व्यक्ति सामाजिक प्राणी भी नहीं बन सकता है।'' **ग्रीन** (Green) के अनुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।''

समाजीकरण की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक बनाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक

एवं योग्य प्राणी बनाना है ताकि वह अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका के अनुसार कार्य कर सके। समाजीकरण के द्वारा ही व्यक्ति में 'अहम्' का विकास होता है, आदर्श–नियमों का आत्मसात होता है और संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती है। समाजीकरण के बिना कोई भी व्यक्ति मानव की भाँति व्यवहार नहीं कर सकता।

6.3 समाजीकरण की प्रकृति अथवा विशेषताएँ

समाजीकरण की अवधारणा के स्पष्टीकरण से इसकी प्रकृति भी स्पष्ट हो जाती है। इस स्पष्टीकरण से इसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं का पता चलता है–

(1) समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को समाज में सामाजिक भूमिका के निर्वाह के योग्य बनाती है।

(2) समाजीकरण का कार्य समाज में रहकर ही सम्भव है, समाज से अलग रहकर नहीं।

(3) मानव की मूलप्रवृत्तियाँ समाजीकरण द्वारा विकसित होती हैं।

(4) समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति में 'स्व' का विकास करती है जिससे उसमें व्यक्तित्व का विकास होता है।

(5) समाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक परम्पराओं, प्रथाओं, रूढ़ियों, मूल्यों, आदर्शों आदि का पालन करना और विपरीत सामाजिक परिस्थितियों में अनुकूलन करना सिखाता है।

(6) समाजीकरण द्वारा संस्कृति, सभ्यता और अन्य अनगिनत विशेषताएँ पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं और जीवित रहती हैं।

(7) मात्र जैविक प्राणी से सामाजिक प्राणी बनने के लिए भी समाजीकरण की आवश्यकता होती है।

(8) व्यक्ति का बाह्य पदार्थों और प्रवृत्तियों से परिचय करना और तदनुरूप अनुकूलन करना समाजीकरण के द्वारा सम्भव है।

6.4 समाजीकरण से सम्बन्धित अन्य अवधारणाएँ

समाजीकरण की प्रक्रिया को ठीक प्रकार से समझने हेतु इससे सम्बन्धित कुछ अन्य अवधारणाओं को समझ लेना भी अनिवार्य है। समाजीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्धित पाँच अवधारणाएँ हैं–

(1) पुनर्समाजीकरण–कभी–कभी व्यक्ति के सम्मुख ऐसी नवीन सामाजिक एवं व्यावसायिक परिस्थितियाँ विकसित हो जाती हैं कि उसे अपने पहले से सीखे हुए उन्मुखीकरणों को भुलाकर नवीन उन्मुखीकरणों को सीखना पड़ता है। इसी को मानवशास्त्र में पुनर्समाजीकरण (Re-socialization) कहा जाता है। पुनर्समाजीकरण से अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसमें पूर्व व्यवहार के प्रतिमानों को छोड़कर जीवन में नवीन व्यवहार प्रतिमान सीखने का प्रयास किया जाता है। **स्कैफर** एवं **लाम** के शब्दों में,''जीवन में संक्रमण के एक भाग के रूप में पुनर्समाजीकरण का अभिप्राय पुराने व्यवहार प्रतिमानों को त्याग कर नवीन प्रतिमानों को स्वीकार करना। यह प्रक्रिया मानवीय जीवन चक्र में निरन्तर होती रहती है।'' सामान्यतया पुनर्समाजीकरण तब होता है जब व्यक्ति को सुधारगृह में सुधारने, मानसिक रूप से असन्तुलित व्यक्ति का उपचार करने, जेल से छूटे अपराधी को अच्छा नागरिक बनने हेतु प्रेरित करने अथवा धर्म परिवर्तन द्वारा किसी अन्य को अपनाने वाले को उसके पुराने धर्म की अपेक्षा नवीन धर्म की शिक्षा देने का प्रयास किया जाता है।

(2) प्रौढ़ समाजीकरण–हेरी एम0 जॉनसन जैसे विद्वान् समाजीकरण को बच्चों की सीख की प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं मानते हैं क्योंकि यह जन्म से लेकर मृत्यु तक अर्थात् जीवनपर्यन्त निरन्तर चलने वाली एक प्रक्रिया है। यह किसी आयु–विशेष पर समाप्त नहीं होती है। 'प्रौढ़ समाजीकरण' (Adult socialization) की अवधारणा समाजीकरण के इसी गुण की द्योतक है। 'प्रौढ़ समाजीकरण' से अभिप्राय ऐसे परिवर्तनों से है जो किसी प्रौढ़ व्यक्ति के विचारों, मनोवृत्तियों एवं ज्ञान में होता है। सामान्यतया ऐसा देखा गया है कि प्रौढ़ व्यक्ति अन्य लोगों के संसर्ग से अपने धार्मिक या राजनीतिक विचारों में परिवर्तन कर लेते हैं। इसी को प्रौढ़ समाजीकरण कहा जाता है। विवाहोपरान्त पति–पत्नी के परस्पर संसर्ग से होने वाला परिवर्तन, माता–पिता बनने के बाद स्त्री–पुरुष में होने वाले नवीन अनुभवों के परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तन, नौकरी मिलने के बाद सहकर्मियों के सम्पर्क के परिणामस्वरूप वयस्कों की मनोवृत्ति में होने वाले परिवर्तन प्रौढ़ समाजीकरण के ही उदाहरण हैं।

(3) प्राथमिक एवं द्वितीयक समाजीकरण–समाजीकरण जीवन–पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जिसे दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है–प्राथमिक समाजीकरण (Primary socialization) एवं द्वितीयक समाजीकरण (Secondary socialization)। प्राथमिक समाजीकरण जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में तब होता है जब कोई बच्चा किसी विशिष्ट समाज एवं संस्कृति का सदस्य होने के नाते उसके अनुकूल मनोवृत्तियों, मूल्यों एवं क्रियाओं को सीखता है। प्राथमिक समाजीकरण परिवार, विद्यालय तथा मित्र–मण्डली में सामाजिक सम्पर्कों को बनाए रखने तथा इनमें तालमेल की महत्ता पर बल देता है। प्रौढ़ावस्था में होने वाला द्वितीयक समाजीकरण मूल्यों एवं स्व के विकास से सम्बन्धित होता है।

(4) पूर्वाभ्यासी या प्रत्याशी समाजीकरण–पूर्वाभ्यासी समाजीकरण (Anticipatory socialization) वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत कोई व्यक्ति अपनी किसी भूमिका का निष्पादन इस आशा से करता है कि किसी दिन उसे भी उस प्रकार की भूमिका निभानी है। आपने कभी छोटे बच्चों को टीचर, सिपाही, डॉक्टर, सैनिक, पुलिसकर्मी की नकल कर वैसा अभिनय करते देखा होगा। यह पूर्वाभ्यासी समाजीकरण ही है। पूर्वाभ्यासी समाजीकरण की अवधारणा सन्दर्भ समूह एवं सन्दर्भ व्यक्ति से सम्बन्धित है। किसी व्यक्ति द्वारा अपने सन्दर्भ व्यक्ति या समूह के व्यक्तियों जैसी भूमिका निभाना पूर्वाभ्यासी समाजीकरण ही है।

(5) विस्तृत एवं संकीर्ण समाजीकरण–अर्नट (Arnett) ने समाजीकरण के दो स्वरूपों–विस्तृत एवं संकीर्ण समाजीकरण (Broad and narrow socialization) का उल्लेख किया है जिनका प्रयोग समाजशास्त्र में बहुत कम हुआ है। विस्तृत समाजीकरण का उद्देश्य स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद एवं स्व–अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन देना है। इसको विस्तृत समाजीकरण इसलिए कहा गया है क्योंकि इसका परिणाम प्रतिक्रियाओं की विस्तृत श्रेणी में प्रतिफलित होता है। विस्तृत समाजीकरण के विपरीत, संकीर्ण समाजीकरण का उद्देश्य आज्ञाकारिता एवं अनुपालन का विकास करना है। इसे संकीण कहा जाता है क्योंकि इसकी प्रतिक्रियाएँ संकीर्ण श्रेणी की होती हैं।

6.5 समाजीकरण का महत्त्व तथा आवश्यकता

समाजीकरण की प्रक्रिया मनुष्य के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसके महत्त्व हेतु उन अभागे बच्चों का उदाहरण दिया जाता है जिनका किसी कारणवश समाजीकरण नहीं हो पाया और इसीलिए उनमें सामाजिक गुण विकसित नहीं हो पाए। ऐसे अभागे बच्चे जिनका पालन–पोषण पशुओं के बीच हुआ उनका व्यवहार उन्हीं पशुओं के समान था। वन्य उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि समाजीकरण के अभाव में इन अभागे बच्चों में मौलिक सामाजिक

क्षमताएँ विकसित नहीं हो पाईं। सीख के अभाव में ही उनमें शौचालयों का प्रयोग करने, सीधा खड़े होने, मानवीय गतिविधियों में रुचि लेने जैसे गुण विकसित नहीं हो पाए। उनमें बोलने की क्षमता भी विकसित न हो पाने का कारण समाजीकरण का अभाव ही माना जाता है। समाजीकरण के महत्त्व अथवा इसकी आवश्यकता को निम्नांकित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) व्यक्तित्व का विकास–मनुष्य के व्यक्तित्व का समग्र विकास समाजीकरण द्वारा ही होता है। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति जिन गुणों का आन्तरीकरण कर लेता है उन्हीं से उसके व्यक्तित्व की आधारशिला बनती है। क्योंकि सीख व गुणों का आन्तरीकरण विभिन्न मनुष्यों में भिन्न–भिन्न रूपों में होता है अतः सबका व्यक्तित्व अलग–अलग ही विकसित होता है। ऐसा माना जाता है कि समाजीकरण ही हमारे व्यक्तित्व तथा स्वतन्त्रता के मूल में है। इसी के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति में स्वयं की पहचान की भावना तथा स्वतन्त्र विचारों एवं कार्यों के लिए क्षमता विकसित होती है।

(2) 'स्व' का विकास–समाजीकरण का दूसरा महत्त्व 'स्व' के विकास में प्रतिबिम्बित होता है। कूले का कहना है कि सामाजिक आत्म–चेतना सम्प्रेषण पर आधारित होती है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति जब दूसरों के सम्पर्क में आता है तभी अन्यता के विचार का सम्प्रेषण उसमें होता है। तभी वह 'अपने' को पहचानने का प्रयत्न करता है। इसमें अपनेपन के भाव का उदय होता है और 'स्व' का विकास होता है। बिना दूसरों के सम्पर्क में आए उसमें आत्म–चेतना का बोध नहीं होता और न ही 'स्व' का विकास होता है।

(3) सामाजिक विकास–समाज के योग्य बनना ही सामाजिक बनना है। व्यक्ति समाज में दूसरों के साथ जो व्यवहार करता है वही सामाजिकता है और यह सामाजिकता उसमें कहाँ से आती है? यह उसमें समाजीकरण के माध्यम से ही आती है। केवल समाजीकरण द्वारा ही एक व्यक्ति सामाजिक प्राणी बन सकता है।

(4) अनुशासनिक शिक्षा–व्यक्ति के जीवन में सर्वाधिक महत्त्व अनुशासन का होता है। व्यक्ति का आन्तरिक स्वरूप विद्रोहात्मक होता है। समाजीकरण से प्राप्त अनुकूलन के पश्चात् उसमें सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति अनुशासनात्मक प्रवृत्ति का उदय होता है। उससे वह समाज में सम्मान और जीवन में प्रगति की उपलब्धि करता है। यह समाजीकरण के महत्त्व को और अधिक स्पष्ट करता है।

(5) सामाजिक नियन्त्रण–सामाजिक नियन्त्रण भी समाजीकरण का रूप है किन्तु यह ऐसी सीख है जिसका प्रभाव व्यक्ति पर बाध्यकारी होता है। अन्य बातें वह स्वेच्छा से सीखता है और अपने अन्दर सन्निहित कर लेता है। इनसे उसका सामान्य व्यवहार निर्धारित होता है। किन्तु नियन्त्रण व्यक्ति को बलात् सीखना पड़ता है भले ही उसकी इच्छा के अनुरूप न हो।

(6) आकांक्षाओं की पूर्ति–समाजीकरण से व्यक्ति को वे उपाय भी पता चलते हैं जो समाज द्वारा मान्य होते हैं और जिनके द्वारा वह अपनी इच्छाओं का निर्धारण और उनकी पूर्ति कर सकता है।

(7) सामाजिक समायोजन–यह समाजीकरण का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं, दुराशाओं को भुलाकर कैसी भी विकट परिस्थिति में लोगों के साथ जिस प्रकार सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करके निर्वाह करना सीखता है उसे 'समायोजन' कहते हैं। यही उसमें धैर्य और कुशलता का समावेश करता है जो आगे चलकर व्यक्ति के विशिष्ट गुण बनते हैं।

6.6 समाजीकरण के प्रमुख सोपान अथवा अवस्थाएँ

समाजीकरण सीख की एक प्रक्रिया के रूप में जन्म से मृत्यु तक चलती रहती है। व्यक्ति का समाजीकरण किन–किन सोपानों (अवस्थाओं) में होता है इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी बताना कठिन है। इसका प्रमुख कारण व्यक्ति–व्यक्ति तथा सीखने की शक्ति में भिन्नता का पाया जाना है। **परसन्स** तथा **जॉनसन** ने समाजीकरण के किशोरावस्था तक चार सोपान बताए हैं जो कि निम्नलिखित हैं–

(1) मौखिक अवस्था–यह शिशु के जीवन की सबसे प्रारम्भिक अवस्था है। शिशु जन्म के साथ ही विविध प्रकार की परेशानियों एवं असुविधाओं का सामना करने लगता है। वह रोकर अथवा हाथ–पैर चलाकर अपनी इन संवेदनाओं को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए समाजीकरण के इस प्रथम सोपान में आवश्यक लक्ष्य मौखिक निर्भरता स्थापित करना है। इस सोपान में शिशु का सम्बन्ध परिवार के प्रत्येक सदस्य से नहीं हो पाता है। जॉनसन के अनुसार शिशु माता (या अन्य पोषककर्ता) पर अधिक निर्भर होता है। उनके अनुसार इस सोपान में माता एवं शिशु का विलय होता है। परिवार के अन्य सदस्यों के लिए बालक महज एक 'सम्पदा' या 'खिलौना' है। शिशु की प्रमुख समस्या भूख, प्यास, ठण्ड तथा गर्मी लगना है। इसके बाद वह अपनी भूख पर कुछ नियन्त्रण करना सीख जाता है तथा शिशु माँ के शारीरिक सम्पर्क का आनन्द महसूस करता है। इस अवस्था में शिशु और माता मिले हुए रहते हैं। सामान्यतः यह स्तर एक या डेढ़ वर्ष तक का होता है।

(2) शौच अवस्था–यह अवस्था प्रत्येक परिवार व समाज में भिन्न–भिन्न होती है। जॉनसन के अनुसार अमेरिकी मध्यम वर्ग में सम्भवतः यह प्रथम वर्ष में शुरू होकर तृतीय वर्ष में समाप्त हो जाती है। भारतीय समाज में इसकी डेढ़ या दो वर्ष की आयु मानी जा सकती है। इस अवस्था में शिशु को स्तन्य त्याग एवं शौच प्रशिक्षण दिया जाता है और अपेक्षा की जाती है कि वह स्वच्छता से रहे। इस अवस्था में उसे थोड़ा बहुत अनुचित व उचित का ज्ञान भी दिया जाता है। शिशु की देखभाल के साथ उसे प्यार व स्नेह दिया जाता है। इसके साथ ही साथ शिशु भी इसका प्रत्युत्तर प्यार से देता है। अगर शिशु उचित कार्य करता है तो उसे स्नेह दिया जाता है तथा गलत कार्य करने पर उसकी भर्त्सना की जाती है या डांटा जाता है। अब शिशु परिवार में अन्य सदस्यों को पहचानने लगता है तथा उनके व्यवहार शिशु को प्रभावित करने लगते हैं। शिशु अपने व्यवहार पारिवारिक मूल्यों के अनुरूप करने लगता है।

(3) मातृरति अवस्था एवं गुप्तावस्थाकाल–जॉनसन के अनुसार अमेरिकी मध्यम वर्ग में यह सोपान प्रायः चौथे वर्ष से आरम्भ होकर बारह–तेरह वर्ष की आयु तक रहता है। इस अवस्था में बालक पूरे परिवार का सदस्य हो जाता है और परिवार की सभी प्रकार की भूमिकाओं से परिचय प्राप्त कर लेता है। इसमें शिशु यौनिक व्यवहार से पूर्ण रूप से परिचित नहीं होता है लेकिन यौन भावना का जन्म होना शुरू हो जाता है। इस अवस्था में बालक से आशा की जाती है कि वह अपने लिंग के अनुरूप व्यवहार करे (अर्थात् लड़का है तो लड़के के समान और यदि लड़की है तो लड़की के समान व्यवहार करे)। वैसे पहले–पहल बालक अपने लिंग तथा प्रस्थिति के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है। ऐसी दशा में उद्वेग तथा ईर्ष्या के भाव का जन्म होता है, लेकिन बाद में वह नियन्त्रण सीख लेता है। जब वह यह अनुभव कर लेता है कि मैं लिंग विशेष का सदस्य हूँ तो उसकी विपरीत लिंग वाले सदस्यों के प्रति रुचि बढ़ जाती है। ऑडिपल संकट प्रायः छह वर्ष की आयु तक चलता है और फिर गुप्तावस्थाकाल आरम्भ होता है।

गुप्तकाल की अवस्था में मातृरति या ऑडिपस कॉम्पलैक्स तथा पितृरति या इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स जन्म लेते हैं। ऑडिपस लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपनी माँ से प्यार करता है, उस प्यार पर एकाधिकार चाहता है तथा चाहता है कि उसका

पिता माँ से प्यार न करे। इसके विपरीत, इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स में लड़की भी अपने पिता पर एकाधिकार चाहती है। वह चाहती है कि उसका पिता केवल उसे प्यार करे न कि उसकी माता से। फ्रायड का कहना है कि इन भावनाओं का सीख में विशेष महत्त्व है। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इस अवस्था में बच्चे को यौन भेद का कोई अधिक स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, अपितु उसके प्रति सहज आकर्षण मात्र होता है। अगर किसी समाज में यौन के बारे में खुलापन पाया जाता है तो बच्चा इस अवस्था में अपने दोस्तों से यौन के बारे में जानने का प्रयास करता है। पश्चिमी समाजों के बच्चे इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान रखते हैं।

इस स्तर में बालक प्रत्येक क्रिया को दूसरों के अनुसार करने की चेष्टा करता है। वह यह अनुभव करने लगता है कि माँ और पिता का स्थान भिन्न है। उसमें विभेदीकरण की प्रवृत्ति का जन्म होने लगता है।

(4) किशोरावस्था–सामान्यतः किशोरावस्था, जो प्रायः यौवन का आरम्भ माना जाता है, को विद्वानों ने संकटकालीन स्थिति कहा है। इस अवस्था में बालक स्वतन्त्रता की माँग करना प्रारम्भ कर देता है। परिवार के साथ–साथ बालक इस अवस्था में शिक्षण संस्था, खेल कूद के साथी, पड़ोस तथा समाज के नए या अपरिचित सदस्यों के सम्पर्क में आता है। किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन शुरू हो जाते हैं तथा उस पर यौन सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं। इसके कारण उसमें प्रतिबन्ध लगाने वाले वयस्क सदस्यों के प्रति उग्र भाव जन्म ले लेता है। इस अवस्था में बालक को सांस्कृतिक आदर्शों व मूल्यों से परिचय करवाकर उन पर चलने के लिए बाध्य किया जाता है। ऐसी अवस्था में तनाव का बना रहना स्वाभाविक है। इसीलिए इस अवस्था को सक्रान्तिकाल कहा गया है। अगर इस अवस्था में माँ–बाप सूझ–बूझ से कार्य न करें तो बच्चा बिगड़ भी सकता है।

इस अवस्था में सीखने के प्रति रुचि जाग्रत होती है। वह अन्य समूहों से अपने समाज के व्यवहार व ढंग सीखने लगता है तथा उसे अनुभव होने लगता है कि उसे किस प्रकार के कार्य करने चाहिए। वह यह भी जानने लगता है कि अपने समूहों की आशा के अनुरूप कार्य न करने पर उसे असम्मानता की दृष्टि से देखा जाएगा। उसके विचारों में क्रम तथा तर्क आने लगते हैं। इस अवस्था में उसे यौन सम्बन्धी ज्ञान इतना हो जाता है कि वह कई बार तनाव महसूस करने लगता है। वह अपनी जीवजन्य अभिप्रेरणा के अनुरूप व्यवहार करने एवं मनोभावों को पूर्ण करने का प्रयास करता है। इसलिए इस अवस्था में बच्चा अपने परिवार में कम और अपने दोस्तों के बीच कुछ ज्यादा ही खुश रहता है।

किशोरावस्था को समाजीकरण का अन्तिम चरण नहीं समझा जाना चाहिए। वयस्क होने के बाद मृत्युपर्यन्त तक समाजीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है। इस अवस्था में परिवार, पड़ोस, मित्र–समूह, शिक्षण संस्थाओं का पर्याप्त प्रभाव तथा योगदान रहता है। वस्तुतः किशोर का मूल व्यक्तित्व इसी अवस्था में निर्मित हो जाता है। इस मूल व्यक्तित्व में बाद में किसी प्रकार का परिवर्तन करना काफी कठिन हो जाता है। इसीलिए समाजीकरण की विभिन्न अवस्थाओं में किशोरावस्था को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

गिलिन एवं **गिलिन** ने समाजीकरण की प्रक्रिया को तीन सोपानों में विभाजित किया है–प्रथम, बाल्यावस्था, द्वितीय युवावस्था और तृतीय प्रौढ़ावस्था या वयस्क अवस्था। उन्होंने समाजीकरण में जो कारक योगदान देते हैं उनका भी स्पष्ट उल्लेख किया है। बाल्यावस्था में समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण अभिभावक, अन्य बालक, पढ़ाई व चलचित्र, शिक्षक तथा सहपाठी; युवावस्था में अन्य युवा, अभिभावक, बृहत् समाज, चर्च, राजनीतिक दल तथा स्कूल, समूह, पढ़ाई, चलचित्र एवं रेडियो; तथा वयस्क अवस्था में पति/पत्नी, बच्चे, निवास, पड़ोसी, चर्च तथा व्यावसायिक समूह प्रमुख हैं।

लुण्डबर्ग ने समाजीकरण की प्रक्रिया को एक सूत्र द्वारा समझाने का प्रयास किया है–

व्यक्ति × समाज = व्यवहार।

वह कहते हैं कि समाजीकरण की प्रक्रिया न तो व्यक्ति की जैविक प्रकृति से प्रभावित होती है और न सामाजिक कारकों से, वरन् इन दोनों की पारस्परिक अन्तर्क्रिया से प्रभावित होती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि समाजीकरण व्यक्ति और समाज का योग नहीं बल्कि गुणनफल है।

6.7 समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण

समाजीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें विभिन्न अभिकरणों, संस्थाओं और माध्यमों का योगदान रहता है। इसके प्रमुख अभिकरण, साधन या माध्यम निम्नलिखित हैं–

समाजीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें विभिन्न अभिकरणों, संस्थाओं और माध्यमों का योगदान रहता है। इसके प्रमुख अभिकरण, साधन या माध्यम निम्नलिखित हैं–

(1) परिवार–परिवार प्राथमिक समूह है। **सी0 एच0 कूले** ने स्वीकार किया है कि आदर्शों तथा सामाजिक स्वभाव के निर्माण में परिवार प्राथमिक होते हैं। मनुष्य सर्वप्रथम जिस समूह के सम्पर्क में आता है वह परिवार ही है। इसलिए इसका प्रभाव काफी स्थायी होता है। माँ उसे दूध पिलाती है तथा उसकी रक्षा करती है। पिता व परिवार के अन्य सदस्य शिशु के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हुए उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। इससे शिशु के मन में सुरक्षा की भावना पनपती है। वह जानने लगता है कि किस प्रकार के कार्य व व्यवहार करने से उसे किस प्रकार का सम्मान प्राप्त होगा। इसके साथ–साथ, उसे भाषा का ज्ञान भी परिवार से ही होता है। परिवार के प्रत्येक सदस्य के अपने विचार, व्यवहार के ढंग आदि होते हैं। लेकिन बच्चे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सभी उसके साथ घनिष्ठता से रहते हैं। इस प्रकार बच्चा उनसे अनुकूलन करना सीखता है। कुछ बड़े होने पर वह नियम एवं परम्पराओं के अनुसार कार्य करना सीखता है। अगर परिवार में कोई कमी है या समाजीकरण त्रुटिपूर्ण रहा है तो उस दशा में व्यक्ति का व्यक्तित्व, विघटित हो जाता है। परिवार के माध्यम से बच्चा अपने सामाजिक व्यवहार, भाषा, कपड़े पहनने का ढंग, भोजन का तरीका तथा अपनी संस्कृति के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है।

(2) क्रीड़ा समूह–बच्चा जब कुछ बड़ा होता है तो वह क्रीड़ा समूह के सम्पर्क में आता है। इसके अधिकतर सदस्य उसकी उम्र के ही होते हैं। क्रीड़ा समूह में यह खेलता है। विभिन्न बालकों की रुचि, विचारधारा आदि का प्रभाव उस पर निरन्तर पड़ता है और जिसमें वह आकर्षण पाता है उसे अपना लेता है। क्रीड़ा समूह में सामाजिक सम्बन्धों से अनुकूलन आदि बातें भी बच्चा जान जाता है। एक ही आयु समूह होने के कारण क्रीड़ा समूह समाजीकरण का महत्त्वपूर्ण अभिकरण माना जाता है। इसे समकक्ष समूह भी कहा जाता है। समकक्ष समूहों में बच्चा विभिन्न प्रकार की अन्तर्क्रियाओं की खोज करता है जिसके दायरे में व्यवहार के नियमों को जाँचा जाता है तथा उनके बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। समकक्ष सम्बन्ध बच्चे के लिए जीवन–पर्यन्त महत्त्वपूर्ण रहते हैं।

(3) पड़ोस–पड़ोस के कार्यों को दो रूपों में देखा जा सकता है–**प्रथम**, पड़ोसियों के व्यवहार तथा विचारों के ढंग का प्रभाव बालक पर पड़ता है और वह उनका अनुकरण प्रारम्भ कर देता है। **दूसरे**, उसके व्यवहार पर भी नियन्त्रण पड़ोस ही रखता है। इस प्रकार, बालक उचित कार्यों को करने का प्रयत्न करता है।

(4) शिक्षण संस्थाएँ–विद्यालयों या शिक्षण संस्थाओं में मनुष्य का बौद्धिक विकास होता है। वहाँ वह पढ़ाई व पाठ्य–पुस्तकों को पढ़ने के अतिरिक्त अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त

करता है तथा उसका अन्य संस्कृतियों से परिचय होता है। अनुशासन एवं आज्ञापालन जैसी बातें भी बच्चा शिक्षण संस्थाओं में ही सीखता है। यदि स्कूल के अध्यापकगण एवं सहपाठी ठीक नहीं हैं तो बच्चा अनुशासनहीन बन जाता है। अगर वातावरण अनुकूल एवं प्रजातान्त्रिक है तो बच्चे का विकास पूर्ण रूप से होता है। शिक्षण संस्थाओं में यह नए मित्रों एवं शिक्षकों के सम्पर्क में आता है और उनसे वार्तालाप व विचारों का आदान–प्रदान करता है। इससे उसके विचारों व व्यवहार में सामाजिकता आ जाती है। कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार शिक्षण संस्थाओं में औपचारिक पाठ्यक्रमों के साथ–साथ बच्चों को सिखाने के लिए अप्रत्यक्ष पाठ्यक्रम भी होता है। भारत तथा दक्षिणी अफ्रीका के कुछ ऐसे स्कूल हैं जहाँ लड़कों से कभी–कभार, परन्तु लड़कियों से हमेशा अपने कमरे साफ करने की आशा की जाती है।

(5) जन माध्यम–जन माध्यम, जो कि आधुनिक युग में हमारे दैनिक जीवन का एक अनिवार्य अंग बन चुके हैं, समाजीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन माध्यमों में मुद्रित माध्यम (समाचार–पत्र एवं पत्रिकाएँ आदि), आडियो माध्यम (रेडियो, टेपरेकार्डर आदि) तथा आडियो–विजुअल माध्यम (टेलीविजन, सिनेमा, वी0सी0डी0 आदि), को सम्मिलित किया जाता है। ये माध्यम बच्चों को सीख का एक नया अभिकरण प्रस्तुत करते हैं। टेलीविजन कार्यक्रम पर हुए अध्ययनों से पता चलता है कि इन कार्यक्रमों का बच्चों पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है। कुछ विद्वानों द्वारा टेलीविजन के परदे पर दिखाई जाने वाली हिंसा तथा बच्चों के बीच आक्रामक व्यवहार में पाए जाने वाले प्रत्यक्ष सम्बन्ध की भी चर्चा की जाने लगी है।

(6) अन्य संस्थाएँ–व्यक्ति के समाजीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली अन्य संस्थाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

(अ) अनिवार्य संस्थाएँ–इसके अन्तर्गत ऐसी संस्थाएँ आती हैं जिनमें व्यक्ति को अनैच्छिक रूप से प्रवेश करना पड़ता है। कुछ ऐसी प्रमुख संस्थाएँ निम्नांकित हैं–

(i) धार्मिक संस्थाएँ–व्यक्ति का धर्म से परिचय उस आयु में ही करा दिया जाता है जब वह धर्म को समझता भी नहीं हैं। धार्मिक संस्थाओं से व्यक्ति में नैतिकता, सच्चरित्रता, पवित्रता, कर्त्तव्यपरायणता, त्याग व बलिदान और शान्ति तथा न्याय के प्रति अनुराग विकसित होता है। दूसरों के प्रति सहिष्णुता व सभी प्राणी समान हैं इस तरह के विचारों को बच्चा इन्हीं संस्थाओं से ग्रहण करता है। धर्म व्यक्ति को उचित और अनुचित का ज्ञान देता है। इस प्रकार, धर्म के द्वारा मनुष्य के समाजीकरण में सबसे बड़ी सहायता मिलती है।

(ii) आर्थिक संस्थाएँ–आर्थिक संस्थाओं का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य के जीविकोपार्जन से होता है। इन संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति परिश्रम, प्रतिस्पर्धा, उद्देश्यपूर्णता, सहयोग व भविष्य की चिन्ता आदि परमावश्यक गुणों की प्राप्ति करता है। आर्थिक संस्थाएँ व्यक्ति को विभिन्न व्यवसायों तथा व्यापारिक संघों में बाँटती है। इनका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर निरन्तर पड़ता रहता है।

(iii) राजनीतिक संस्थाएँ–व्यक्ति ज्यों–ज्यों अपने जीवन की अनेक समस्याओं से जूझता है त्यों–त्यों उसके जीवन में राजनीतिक संस्थाओं का प्रवेश होता है। इन संस्थाओं के द्वारा वह अपने वास्तविक विचारों का निर्माण करता है। राजनीतिक संस्थाएँ व्यक्ति को शासन, कानून, अधिकार, कर्त्तव्य व अनुशासन से परिचित कराती हैं। राजनीतिक प्रशासन का प्रकार तथा व्यक्ति को मिली स्वतन्त्रता भी उसके व्यक्तित्व को काफी सीमा तक प्रभावित करती है। व्यक्ति विभिन्न राजनीतिक दलों की विचारधाराओं में से किसी एक विचारधारा को (जिसे वह अपने विचारों के अधिक नजदीक समझता है) समर्थन करना शुरू कर देता है। साथ ही, नेताओं

का अनुकरण करके तथा चुनाव इत्यादि राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेकर व्यक्ति काफी कुछ सीखता है।

(ब) ऐच्छिक संस्थाएँ–इसके अन्तर्गत ऐसी संस्थाएँ आती हैं जिनमें व्यक्ति का प्रवेश स्वाभाविक रूप से नहीं होता वरन् वह अपनी इच्छा अथवा अन्य व्यक्तियों के आग्रह पर ऐसी संस्थाओं के सम्पर्क में आता है जिनका निर्माण व्यक्तियों द्वारा अपनी सांस्कृतिक गतिविधियों के संचालन और पूर्ति के लिए स्वयं किया जाता है। इससे व्यक्ति का समाजीकरण और अधिक पुष्ट तथा विस्तृत होता जाता है। ऐच्छिक संस्थाएँ हमें प्रथा, परम्परा, आचार–विचार के ढंग, व्यवहार के तौर–तरीके, आपसी संगठन व किसी त्रुटिपूर्ण परम्परा अथवा विचार का संगठित विरोध करना सीखाती हैं।

ऐच्छिक संस्थाओं में विवाह का प्रमुख स्थान है। कुछ समाजशास्त्रियों का मत है कि विवाह व्यक्ति के समाजीकरण को काफी हद तक पूर्णता की प्राप्ति कराने वाला माध्यम है। इसके कारण व्यक्ति में इतने उच्च सामाजिक मूल्यों का समावेश होता है कि वह पूर्ण व्यक्तित्व को प्राप्त करता है और समाज को नई इकाइयाँ प्रदान करता है। विवाह के द्वारा वह उत्तरदायित्व, धैर्य, त्याग, पारिवारिक कल्याण, परोपकार और दूरदर्शिता के पाठ ग्रहण करता है।

6.8 समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्त

समाजीकरण की प्रक्रिया किस प्रकार होती है तथा इसमें क्या–क्या प्रेरणाएँ कार्य करती हैं? इसका उत्तर देने के लिए समाजशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन सभी सिद्धान्तों ने 'स्व' के विकास को प्रमुख आधार माना है। 'स्व' के विकास का अर्थ व्यक्ति का स्वयं के बारे में ज्ञान है जो व्यक्ति को समाज में अन्तर्क्रियाएँ करने हेतु समर्थ बनता है। इसके कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

(अ) दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधान का सिद्धान्त–दुर्खीम ने समाजीकरण की प्रक्रिया को सामूहिक प्रतिनिधान (प्रतिनिधित्व) के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। उनका सिद्धान्त पूर्णतः सामाजिक है तथा वह व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों में समाज को अधिक महत्त्व देता है। उनके अनुसार सामूहिक प्रतिनिधानों का आन्तरीकरण अर्थात् सामूहिक मान्यताओं को आत्मसात करना ही समाजीकरण है। समाज में व्यवहार के जो मान्यता प्राप्त प्रतिमान, मूल्य, विश्वास एवं आदर्श होते हैं, उन्हीं को सामूहिक प्रतिनिधान कहा जाता है। ये सामाजिक विरासत के रूप में पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं तथा जैविक व्यक्ति द्वारा इन सामूहिक प्रतिनिधानों को सीखना एवं इनके अनुकूल व्यवहार करने के लिए प्रेरित करना ही समाजीकरण कहलाता है।

सामूहिक प्रतिनिधान, क्योंकि सम्पूर्ण समूह अथवा समाज द्वारा बनाए जाते हैं एवं स्वीकृत होते हैं, इसलिए वे सामाजिक तथ्य होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधान के आन्तरीकरण को दुर्खीम ने सामूहिक या सामाजिक अन्तःकरण से जोड़ा है। सामूहिक चेतना का विकास यद्यपि व्यक्तिगत चेतनाओं से होता है, फिर भी यह न तो व्यक्तिगत चेतना ही है और न ही व्यक्तिगत चेतनाओं का संकलन मात्र। यह तो बहुत–सी व्यक्तिगत चेतनाओं के सम्मिश्रण द्वारा विकसित एक ऊँचे एवं श्रेष्ठ स्तर की चेतना होती है। सामूहिक प्रतिनिधान, समूह अथवा समाज द्वारा स्वीकृत होने के कारण, प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा (व्यक्तिगत आत्मा) में विलीन हो जाते हैं। सभी लोगों द्वारा स्वीकार कर लेने पर ये सामूहिक अन्तः करण (चेतना) का रूप ले लेते हैं। इसलिए समाज का प्रत्येक व्यक्ति इन्हें बिना प्रश्न चिह्न या चुनौती दिए स्वीकार कर लेते हैं। दुर्खीम के अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान सामाजिक एकता बनाए रखने में सहायक है।

(ब) कूले का दर्पण में आत्मदर्शन का सिद्धान्त–समाजीकरण का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त चार्ल्स कूले द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने Social Organization एवं Human

Nature and the Social Order नामक अपनी पुस्तकों में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि एक जैविक प्राणी किस प्रकार से सामाजिक प्राणी बनता है। यह सिद्धान्त भी सामाजिक है क्योंकि इसका आधार भी व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध और इनका मूल्यांकन है। कूले के अनुसार बच्चा तीन बातों के बारे में सोचता है–

(1) दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते हैं?

(2) दूसरों की राय के सन्दर्भ में मैं अपने बारे में क्या सोचता हूँ?

(3) मैं अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ?

कूले का कहना है कि व्यक्ति समाज रूपी दर्पण में अपना बिम्ब देखता है। इससे वह यह जानने का प्रयास करता है कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं। यह जान लेने के पश्चात् कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं, वह अपने बारे में राय बनाता है। इस राय के परिणामस्वरूप बच्चे में हीनता या श्रेष्ठता के भाव विकसित होते हैं अर्थात् यदि उसे लगता है कि दूसरे उसके बारे में अच्छे विचार रखते हैं तो उसमें श्रेष्ठता की भावना आ जाती है और इसके विपरीत यदि उसे लगता है कि दूसरे उसके बारे में अच्छी राय नहीं रखते, तो उसमें हीन–भाव आ जाते हैं। हम निरन्तर समाज रूपी दर्पण में अपना बिम्ब देखते रहते हैं। अतः 'स्व' के बारे में हमारी धारणा स्थायी नहीं है अपितु समय–समय पर बदलती रहती है।

(स) फ्रायड का समाजीकरण का सिद्धान्त–फ्रायड ने कामवृत्तियों को मानव व्यवहार के संचालन में प्रमुख स्थान दिया है तथा यौन–भेद में समाजीकरण को **ऑडिपस कॉम्पलैक्स** तथा **इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स** के रूप में समझाने का प्रयास किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने सम्पूर्ण समाजीकरण की प्रक्रिया को **इड, इगो** तथा **सुपर–इगो** की अवधारणाओं द्वारा समझाने का प्रयास किया है। 'इड' हमारी मूल प्रेरणाओं, इच्छाओं एवं स्वार्थों से सम्बन्धित है तथा हमारी सभी इच्छाएँ 'इड' द्वारा ही प्रेरित होती हैं। 'इगो' (जिसे 'अहम्' कहा जा सकता है) 'स्व' का चेतन व तार्किक रूप होने के कारण वास्तविकता है, जो यह निश्चित करता है कि व्यक्ति को अमुक कार्य करना चाहिए या नहीं। यह एक प्रकार से व्यक्ति का अन्तःकरण है। 'सुपर–इगो' (जिसे 'पराहम्' कहा जा सकता है) सामाजिक मूल्यों एवं सामाजिक आदर्शों का योग है जिसे कि व्यक्ति ने आत्मसात कर रखा है और जो उसके अन्तःकरण का निर्माण करता है। 'इड' (अपनी इच्छाओं) का 'सुपर–इगो' से सामंजस्य बैठाने या 'इड' और 'सुपर–इगो' के अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया से ही समाजीकरण होता है।

'इड', 'इगो' तथा 'सुपर–इगो' का सम्बन्ध हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति बिना पैसे दिए मिठाई खाना चाहता है। मिठाई खाना हमारी इच्छा है जो कि 'इड' द्वारा संचालित एवं प्रेरित होती है। 'सुपर–इगो' उस व्यक्ति को यह बतलाता है बिना पैसे मिठाई खाने का कोई नियम समाज द्वारा स्वीकृत नहीं है। 'इड' तथा 'सुपर–इगो' द्वारा व्यक्त विचारों का 'इगो' तार्किक विश्लेषण करता है तथा मिठाई खाने के बारे में निर्णय देता है। यदि 'सुपर–इगो' के रोकने के बावजूद 'इड' से संचालित व्यक्ति जबरदस्ती मिठाई उठा कर खा लेता है तो इसका अभिप्राय यह है कि 'इगो' और 'सुपर–इगो' में सामंजस्य नहीं है और इसी कारण अनेक व्यक्ति समाज विरोधी कार्य करते हैं। यदि 'इगो', 'सुपर–इगो' का कहना मानकर 'इड' को नियन्त्रित कर लेता है तो व्यक्ति सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल व्यवहार करने के लिए प्रेरित होता है। यह सिद्धान्त एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिसमें इस बात को मान्यता दी गई है कि मानव व्यवहार का अधिकांश भाग अनदेखा है तथा अचेतन शक्तियों द्वारा संचालित होता है।

(द) मीड का समाजीकरण का सिद्धान्त–समाजीकरण की एक अन्य मनोवैज्ञानिक व्याख्या मीड द्वारा प्रस्तुत की गई है। 'स्व' के विकास सम्बन्धी उनके विचार उनकी पुस्तक Mind, Self and Society में मिलते हैं। मीड फ्रायड के विचारों से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार 'स्व' का विकास अनुकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप होता है। शिशु अपने प्रारम्भिक जीवनकाल में जिस किसी व्यक्ति के सम्पर्क में आता है, वह उनके व्यवहार का अनुकरण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार, मीड ने अपने सिद्धान्त में 'स्व' के विकास में बालक द्वारा अपने प्रति जागरूकता तथा दूसरों की दृष्टि से अपने मूल्यांकन को महत्त्वपूर्ण माना है। इसे उन्होंने **'मैं'** तथा **'मुझे'** शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। 'मैं' दूसरों के व्यवहार का प्रत्युत्तर है, जबकि 'मुझे' मेरे द्वारा किया गया व्यवहार है। 'मैं' और 'मुझे' एक ही चीज के दो पहलू (अर्थात् विषय व वस्तु) हैं जिनसे समाजीकरण होता है। दूसरों की दृष्टि से वह अपना मूल्यांकन इसलिए करता है क्योंकि वह जानता है कि दूसरों को सन्तुष्ट करके ही उसकी अपनी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं और उसे स्वयं को सन्तुष्टि मिल सकती है।

मीड ने इस सिद्धान्त को **'सामान्यीकृत अन्य'** की अवधारणा द्वारा समझाने का प्रयास किया है। 'सामान्यीकृत अन्य' शब्द से अभिप्राय व्यक्ति की दूसरों के मूल्यांकन द्वारा अपने बारे में बनी धारणा है जिसका कि वह आन्तरीकरण कर लेता है। वह अपनी भूमिका निभाने के साथ–साथ अपनी तुलना 'सामान्यीकृत अन्य' से करता है और इसी से उसका समाजीकरण होता है। मीड के अनुसार समाजीकरण की प्रक्रिया में भूमिका ग्रहण करना एक अत्यावश्यक प्रक्रिया है।

6.9 सारांश

समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। इसी के माध्यम से मानव शिशु एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होता है। प्रत्येक समाज की संस्कृति समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है। यह आजन्म चलने वाली प्रक्रिया है। समाजीकरण की प्रक्रिया अनेक स्तरों अथवा सोपानों पर होती है तथा इसमें विविध प्रकार के अभिकरण सहायता प्रदान करते हैं। परिवार, क्रीड़ा समूह, शिक्षण संस्थाएँ, जन माध्यम तथा अन्य संस्थाएँ इसके प्रमुख अभिकरण हैं। समाजीकरण की व्याख्या हेतु अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों में दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधान का सिद्धान्त, कूले का दर्पण में आत्मदर्शन का सिद्धान्त, फ्रायड का सिद्धान्त तथा मीड का सिद्धान्त प्रमुख माने जाते हैं।

6.10 शब्दावली

समाजीकरण – जिस प्रक्रिया द्वारा नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाया जाता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।

पूर्वाभ्यासी समाजीकरण – यह वह समाजीकरण है जो भविष्य में किसी भूमिका के निष्पादन की आशा से किया जाता है।

ऑडिपस कॉम्पलैक्स – यह लड़के की वह भावना है जिसके अनुसार वह अपनी माँ से पिता की तुलना में अधिक प्यार करता है।

इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स – यह लड़की की वह भावना है जिसके अनुसार वह अपने पिता को माता से अधिक प्यार करती है।

सामान्यीकृत अन्य – यह किसी व्यक्ति की दूसरों से मूल्यांकन द्वारा अपने बारे में बनी वह धारणा है जिसका कि वह आन्तरीकरण कर लेता है।

सामूहिक प्रतिनिधान – इससे अभिप्राय समाज द्वारा मान्य उन विचारों, धारणाओं, भावनाओं तथा प्रतीकों से है जो सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं।

पुनर्समाजीकरण – किसी व्यक्ति द्वारा अपने पहले से सीखे हुए उन्मुखीकरणों को भुलाकर नवीन उन्मुखीकरणों को सीखना पुनर्समाजीकरण कहलाता है। इसमें व्यक्ति व्यवहार के पूर्व प्रतिमानों को छोड़कर जीवन में नवीन व्यवहार प्रतिमान सीखने का प्रयास करता है।

6.11 अभ्यास प्रश्न

1. समाजीकरण को परिभाषित कीजिए। इसके प्रमुख सोपान बताइए।
2. समाजीकरण किसे कहते हैं? इसका महत्त्व बताइए।
3. समाजीकरण क्या है? समाजीकरण के प्रमुख अभिकरणों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
4. समाजीकरण को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रमुख सिद्धान्त बताइए।
5. समाजीकरण से आप क्या समझते हैं? इसके बारे में कूले द्वारा प्रतिपादित 'दर्पण में आत्मदर्शन' के सिद्धान्त की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
6. समाजीकरण एवं पूर्वाभ्यासी समाजीकरण की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए।

6.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

A. W. Green (1964), **Sociology : An Analysis of Life in Modern Society**, *McGraw-Hill* Book Company, New York.

C. H. Cooley (1909), **Social Organization : A Study of the Larger Mind**, *Charles* Scribner's Sons, New York.

C. H. Cooley (1933), **Introductory Sociology**, *Charles* Scribner's Sons, New York.

E. S. Bogardus (1981), **A History of Social Thought**, *University* of Southern California Press, Los Angeles.

Emile Durkheim (1982), **The Rules of Sociological Method**, The Free Press, New York.

George Herbert Mead (1934), **Mind, Self and Society**, University of Chicago Press, Chicago.

Harry M. Johnson (1960), ***Sociology* : A Systematic Introduction**, Routledge and Kegan Paul, London.

J. L. Gillin and J. P. Gillin (1948), **Cultural Sociology**, The Macmillan Company, New York.

Jeffrey J. Arnett, "Broad and Narrow Socialization : The Family in the Context of a Cultural Theory" in **Journal of Marriage and Family**, Vol. 57 (3), 1995, pp. 617-28.

John A. Clausen (1968), **Socialization and Society** (ed.), Little Brown and Company, Boston.

Kingsley Davis (1949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.

Richard T. Schaefer and Robert P. Lamm (1995), **Sociology : A Brief Introduction**, McGraw-Hill, New York.

Sigmund Freud (1901), **Psychopathology of Everyday Life**, T. Fisher Unwin. London.

Sigmund Freud (1939), **The Unconscious**, Penguin Books, London.

Talcott Parsons and Robert Bales (1956), **Family, Socialization and Interaction Process**, Routledge and Kegan Paul, London.

इकाई 7 अप्रतिमानता एवं विचलन

Anomie & Deviance

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना
7.2 अप्रतिमानता
7.2.1 अप्रतिमानता की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
7.2.2 अप्रतिमानता की प्रकृति अथवा प्रमुख विशेषताएँ
7.2.3 अप्रतिमानता के बारे में दुर्खीम के विचार
7.2.4 अप्रतिमानता के बारे में मर्टन के विचार
7.2.5 अप्रतिमानता के बारे में पारसन्स के विचार
15.2.6 अप्रतिमानता एवं अपराध
7.3 विचलन
7.3.1 विचलन की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
7.3.2 विचलन की प्रकृति अथवा प्रमुख विशेषताएँ
7.3.3 विचलन के स्पष्टीकरण
7.3.4 विचलित व्यवहार का समाजशास्त्र
7.4 सारांश
7.5 शब्दावली
7.6 अभ्यास प्रश्न
7.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में अप्रतिमानता तथा विचलन की अवधारणाओं को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इन दोनों अवधारणाओं से सम्बन्धित प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचारों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- अप्रतिमानता की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- अप्रतिमानता की प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट कर पाएँगे;
- अप्रतिमानता के बारे में दुर्खीम, मर्टन तथा पारसन्स के विचारों की व्याख्या कर पाएँगे;
- अप्रतिमानता तथा अपराध
- विचलन की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- विचलन की प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट कर पाएँगे;
- विचलन के स्पष्टीकरण कर पाएँगे; तथा
- विचिलत व्यवहार के समाजशास्त्र को स्पष्टतया समझ पाएँगे।

7.1 प्रस्तावना

आधुनिक समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में अप्रतिमानता (जिसे विसंगति, आदर्शविहीनता, नियमहीनता या 'एनोमी' भी कहा जाता है) की अवधारणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अप्रतिमानता की अवधारणा सामाजिक संरचना से जुड़ी हुई है। जहाँ सामाजिक संरचना व्यक्तियों को समाज द्वारा स्वीकृत मान्य व्यवहार करने हेतु प्रेरित करती है, वहीं यह अप्रतिमानता को भी विकसित

करती है। वस्तुतः आधुनिक जटिल समाजों में नगरीकरण व औद्योगीकरण के कारण प्राथमिक सम्बन्धों की प्रधानता वाली सामाजिक संरचना का स्थान द्वितीयक व औपचारिक सम्बन्धों वाली सामाजिक संरचना ले लेती है जिससे नातेदारी, पड़ोस, परिवार आदि की ही महत्ता कम नहीं हो जाती अपितु सामाजिक एकता के परम्परागत आधार भी कमजोर हो जाते हैं। ऐसे में समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार से हटकर व्यवहार करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। अप्रतिमानता ऐसी ही प्रवृत्तियों के विकास से सम्बन्धित दशा है।

प्रत्येक समाज में ऐसे व्यक्ति और समूह विद्यमान होते हैं जो सामाजिक आदर्शों का अनुपालन ही नहीं करते। भारत में सरकार द्वारा प्रतिवर्ष चोरी, डकैती, आत्महत्या, नशाखोरी, जुआ, बलात्कार आदि के सम्बन्ध में आँकड़े प्रकाशित किए जाते हैं। ऐसा सभी समाजों में होता है। फैशन या नई जीवन शैली के नाम पर अनेक ऐसे व्यवहार भी होते हैं जो समाज के प्रचलित आदर्शों के अनुरूप नहीं होते। समाज भी उन्हें अपराध की संज्ञा नहीं देता वरन् अपनी अप्रत्यक्ष सहमति से बने रहने देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विचलन के प्रति समाज की प्रतिक्रियाएँ भिन्न–भिन्न हो सकती हैं। स्वाभाविक प्रश्न उठते हैं कि विचलन कौन–सा व्यवहार है? वह क्यों होता है? उसके समाज के लिए क्या परिणाम होते हैं? समाजशास्त्र में ऐसे प्रश्नों पर विचार करना स्वाभाविक है।

7.2 अप्रतिमानता

'अप्रतिमानता' शब्द को सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय **दुर्खीम** (Durkheim) को दिया जाता है। उन्होंने अपनी पहली कृति **समाज में श्रम–विभाजन** (1893) में इसका केवल प्रयोग ही नहीं किया अपितु अप्रतिमानित श्रम–विभाजन (Anomic division of labour) का उदाहरण देकर इसे समझाने का भी प्रयास किया है। वैसे जिस अर्थ में दुर्खीम ने 'अप्रतिमानता' शब्द का प्रयोग किया है लगभग उसी अर्थ में पहले जर्मन दर्शनशास्त्री **हीगल** (Hegel) ने भी इसका प्रयोग किया है, परन्तु हीगल ने इसे अप्रतिमानता न कहकर 'अलगाव' कहा है। अप्रतिमानता की अवधारणा को स्पष्ट करने का श्रेय दो प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों **मर्टन** (Merton) तथा **पारसन्स** (Parsons) को भी दिया जाता है। **क्लोवर्ड** (Cloward) तथा **मिजरुचि** (Mizruchi) ने भी अप्रतिमानता के सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। **रैडक्लिफ–ब्राउन** (Radcliffe-Brown) ने अप्रतिमानता के अर्थ को व्यक्त करने हेतु 'एनोमी' के स्थान पर **'डिसनोमी'** (Dysnomie) शब्द का प्रयोग किया है। अप्रतिमानता विचलित या अमान्य व्यवहार का ही एक रूप है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'अप्रतिमानता' विचलित व्यवहार को प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (Functional perspective) द्वारा देखने का एक प्रयास है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण समाज में विचलन की कुछ सीमा को समाज की व्यवस्था बनाए रखने हेतु अनिवार्य माना जाता है। दुर्खीम ने अपराध की विवेचना इसी दृष्टिकोण से करते हुए अपराध को सामाजिक जीवन का अपरिहार्य एवं सामान्य पहलू माना है। मर्टन का विचलन का विश्लेषण भी लगभग ऐसा ही है।

7.2.1 की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

अप्रतिमानता **अप्रतिमानता** का अर्थ सामाजिक संरचना की वह दशा है जिसमें सामान्य शून्यता, नियमों का निलम्बन, नियमहीनता, सांस्कृतिक लक्ष्यों व संस्थागत आदर्शों में असामंजस्य, प्रस्थितियों व भूमिकाओं में अनिश्चितता आदि लक्षण पैदा हो जाते हैं। ऐसी दशा में सामाजिक संरचना मान्य व्यवहार को बनाए रखने में सदैव सफल नहीं हो पाती तथा अनेक व्यक्ति अमान्य व विचलित व्यवहार करने लगते हैं। यह एक ऐसी दशा या स्थिति है जिसमें

समूह या व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित व नियन्त्रित करने वाले आदर्श छिन्न–भिन्न या प्रभावहीन हो जाते हैं। व्यक्तियों को यह समझ में नहीं आता कि वे क्या करें? यह दशा सामान्यतः उसके पारस्परिक सामाजिक बन्धन कमजोर होने या टूट जाने का परिणाम होती है। इसे निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है–

दुर्खीम के अनुसार–"अप्रतिमानता आदर्शविहीनता (Normlessness) अथवा आदर्शात्मक संरचना के अव्यवस्थापन (Deregulation of normative structure) की एक सामाजिक दशा है अर्थात् यह आत्यन्तिक अभिलाषा, लालच व अनगिनत आकांक्षाओं की सामूहिक नैतिक व्यवस्था द्वारा नियन्त्रण की असफलता है।" दुर्खीम ने अपनी परिभाषा में इस बात पर बल दिया है कि अप्रतिमानता की दशा आदर्शविहीनता तथा सामान्य शून्यता (Normal vacumm) की एक दशा है जिसमें आदर्शों या नियमों का निलम्बन व प्रभावहीनता पाई जाती है। यह असामंजस्य अथवा अव्यवस्थापन की स्थिति है। जब व्यक्ति समाज के मान्य आदर्शों का पालन करते हुए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता तो उसमें अत्यधिक निराशा व असन्तोष पनपता है। ऐसे में वह स्वीकृत आदर्शों को त्यागकर मनमाने ढंग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगता है। इस स्थिति को दुर्खीम ने अप्रतिमानता कहा है।

मर्टन के अनुसार–"अप्रतिमानता सांस्कृतिक लक्ष्यों व संस्थागत साधनों में वियोजन (Disjunction between cultural goals and institutionalized means) है। यह वह प्रक्रिया है जिसमें लक्ष्य का उन्नयन (Exaltation of the end), आक्षरिक नैतिक पतन पैदा करता है अर्थात् अनेक समूहों में साधनों का असंस्थाकरण (De-institutionalization of the means) हो जाता है जिसमें सामाजिक संरचना के दोनों अंग अधिक संगठित (Integrated) नहीं रह पाते।" मर्टन ने इस बात पर बल दिया है कि अप्रतिमानता अनिवार्य रूप में एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है। यह सामाजिक व्यवस्था का एक लक्षण है, न कि मनुष्य के मन की दशा। जब सांस्कृतिक लक्ष्यों व उनको प्राप्त करने वाले संस्थागत साधनों (आदर्शात्मक व्यवस्था) में परस्पर सामंजस्य समाप्त हो जाता है तो अप्रतिमानता की स्थिति विकसित हो जाती है जो कि विचलित व्यवहार को प्रोत्साहन देती है। उन्होंने सांस्कृतिक संरचना के टूट जाने की स्थिति को अप्रतिमानता कहा है।

पारसन्स के अनुसार–"(अप्रतिमानता) अन्तर्क्रियात्मक प्रक्रिया की संरचनात्मक सम्पूरकता (Structured complementarity) की अनुपस्थिति है अथवा वह आदर्शात्मक व्यवस्था का पूर्णतः असफल हो जाना है।" पारसन्स का कहना है कि अप्रतिमानता संगठन या एकीकरण की पूर्णतः विपरीत दशा है। संस्थाएँ सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन, अनुरूपता एवं नियमबद्धता बनाए रखती हैं। सामाजिक संस्थाओं के निर्माण व विकास की प्रक्रिया को संस्थाकरण कहते हैं। संस्थाकरण (Institutionalization) एक तरह से नियमबद्धता की स्थिति है, जबकि अप्रतिमानता इसकी विपरीत स्थिति है अर्थात् यह आदर्शात्मक व्यवस्था का पूर्णतः खण्डित हो जाना है।

मैकाइवर के अनुसार–"अप्रतिमानता उस व्यक्ति के मन की दशा है जो नैतिक आधार पर ढह चुका है, जिसके पास कोई मानक नहीं है अपितु केवल असम्बद्ध इच्छाएँ ही हैं, जिसमें जनसाधारण तथा कर्त्तव्य की भावना में किसी प्रकार की निरन्तरता नहीं है। अप्रतिमानित व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से निर्जीव बन जाता है, अपने प्रति ही प्रतिक्रियाशील होता है, न कि किसी अन्य के प्रति। वह अन्य व्यक्तियों के मूल्यों का उपहास करता है। नकारने का दर्शन ही उसका एकमात्र विश्वास होता है। वह संवेदन की उस पतली रेखा पर रहता है जिसका कोई भूतकाल तथा भविष्यत्काल नहीं होता।"

मैकाइवर की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अप्रतिमानता की अवधारणा की व्याख्या मनोवैज्ञानिक आधार पर की है, परन्तु समाजशास्त्र में इसे समूह, समुदाय या सम्पूर्ण समाज की दशा के रूप में ही देखा जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि अप्रतिमानता वह सामाजिक दशा या स्थिति है जिसमें व्यवहार को नियमित करने वाले आदर्श छिन्न–भिन्न हो जाते हैं, शिथिल हो जाते हैं अथवा पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं। ऐसे में व्यक्ति यह सुनिश्चित नहीं कर पाते हैं कि उन्हें कैसे व्यवहार करना है क्योंकि उन्हें यह मालूम नहीं होता कि उनसे क्या आशा की जाती है। ऐसी स्थिति में विचलित व्यवहार करने वालों की संख्या बढ़ जाती है।

7.2.2 अप्रतिमानता की प्रकृति अथवा प्रमुख विशेषताएँ

अप्रतिमानता की अवधारणा के स्पष्टीकरण से इसकी प्रमुख विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं जो कि निम्नांकित हैं–

(1) असामान्य सामाजिक स्थिति–अप्रतिमानता, यद्यपि सभी समाजों में कुछ सीमा तक पाई जाती है, एक असामान्य सामाजिक स्थिति है। इसमें सामाजिक संरचना व्यक्तियों व समूहों पर नियन्त्रण रखने में विफल रहती है। यह एक ऐसी सामाजिक स्थिति है जो व्यक्तियों के विचलित व्यवहार को प्रोत्साहन देती है।

(2) आदर्शविहीनता की स्थिति–अप्रतिमानता आदर्शविहीनता की स्थिति है। **दुर्खीम** का कहना है कि इसमें आदर्श या तो प्रभावहीन हो जाते हैं या उनका निलम्बन हो जाता है। **पारसन्स** ने इसे आदर्शात्मक व्यवस्था की पूरी तरह से खण्डित हो जाने की स्थिति को कहा है।

(3) सांस्कृतिक संरचना के टूट जाने की स्थिति–अप्रतिमानता, सांस्कृतिक संरचना के टूट जाने की स्थिति को कहते हैं। **मर्टन** का कहना है कि अप्रतिमानता में सांस्कृतिक लक्ष्यों, उन्हें प्राप्त करने के संस्थागत साधनों तथा सदस्यों की उनके अनुरूप कार्य करने की क्षमता में सामंजस्य समाप्त हो जाता है। इसीलिए मर्टन ने अप्रतिमानता को सामाजिक–सांस्कृतिक घटना कहा है।

(4) मूल्यों में संघर्ष की स्थिति–अप्रतिमानता मूल्यों में भ्रामक स्थिति से सम्बन्धित अवधारणा है। ऐसी स्थिति में मूल्य केवल प्रभावहीन ही नहीं हो जाते अपितु कई बार उनमें संघर्ष भी पैदा हो जाता है। इतना ही नहीं, अप्रतिमानता की स्थिति में मूल्यों की व्यक्तियों से सन्निकटता समाप्त हो जाती है अर्थात् व्यक्तियों के लिए उनकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

(5) व्यवहार में अनिश्चितता की स्थिति–अप्रतिमानता एक ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसे कैसा व्यवहार करना है क्योंकि उसे यह भी ज्ञात नहीं होता कि अन्य जाति, समूह या सम्पूर्ण समाज उससे क्या आशा करता है। अतः अप्रतिमानता व्यवहार में अनिश्चितता की स्थिति है। वस्तुतः इसमें पुराने आदर्श एवं मूल्य तो प्रभावहीन हो जाते हैं पर नवीन आदर्श एवं मूल्य अभी पूरी तरह से विकसित नहीं हो पाते।

7.2.3 अप्रतिमानता के बारे में दुर्खीम के विचार

अप्रतिमानता की अवधारणा को विधिवत् विकसित करने का श्रेय दुर्खीम को ही दिया जाता है। उनके अनुसार अप्रतिमानता सामाजिक संरचना की ही एक विशेष स्थिति या दशा है जिसमें व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रित, अहम्वादी एवं स्वार्थी हो जाता है कि वह समाज के आदर्शों व मूल्यों को स्वीकार नहीं करता। अतः यह आदर्शों व नियमों के अभाव की एक स्थिति है। इसे सामान्य शून्यता की स्थिति भी कहा जाता है क्योंकि इसमें आदर्श निलम्बित हो जाते हैं अथवा प्रभावहीन हो जाते हैं।

दुर्खीम ने अप्रतिमानता का कारण अनगिनत आकांक्षाएँ एवं नियामक आदर्शों का टूट जाना बताया है। जब समाज के आदर्शों का अनुपालन करते हुए वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता तो उसमें निराशा व असन्तोष पनपता है। ऐसे में वह समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शों को त्याग कर मनमाने ढंग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगता है। इसी स्थिति को दुर्खीम ने अप्रतिमानता कहा है।

दुर्खीम ने इसे विशृंखल श्रम–विभाजन के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। इसमें समाज की विभिन्न इकाइयों में सामंजस्य समाप्त हो जाता है। श्रम–विभाजन के कारण व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य व्यक्तियों पर अत्यधिक आश्रित हो जाता है, परन्तु जब वह यह पाता है कि उसकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो रहीं तो वह मनमाने ढंग से इन्हें पूरा करने लगता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति पारस्परिक सन्तुलन खो देता है और उसकी स्थिति अनिश्चित हो जाती है। यदि व्यक्ति अपना कार्य नहीं करता तथा उसमें व अन्यों के कार्यों में समन्वय नहीं रहता तो विशृंखल श्रम–विभाजन की स्थिति विकसित हो जाती है। आज अनेक क्षेत्रों में विशृंखल श्रम–विभाजन देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ–इसे प्रमुखतः औद्योगिक क्षेत्रों, आर्थिक क्षेत्रों, ज्ञान–विज्ञान तथा मानसिक क्षेत्रों में देखा जा सकता है। दुर्खीम का कहना है कि अचानक आर्थिक मन्दी, औद्योगिक संकट अथवा आकस्मिक समृद्धि से आदर्शात्मक संरचना टूट जाती है। इसीलिए आज के आधुनिक युग में अप्रतिमानता की स्थिति अधिक पाई जाती है।

दुर्खीम ने आत्महत्या को अप्रतिमानता का परिणाम बताया है। उनके अनुसार कई बार आकस्मिक अथवा अस्वाभाविक परिवर्तन तीव्रता से व्यक्ति के लिए अप्रत्याशित परिस्थितियाँ पैदा कर देता है जिसमें व्यक्ति अनुकूलन नहीं कर पाता तथा तनाव व अशान्ति से मुक्ति पाने के लिए वह आत्महत्या कर लेता है। उदाहरणार्थ–दुर्खीम का कहना है कि आर्थिक तथा राजनीतिक संकट आत्महत्या को बढ़ावा देते हैं। आर्थिक सन्तुलन में तीव्र परिवर्तन अथवा आकस्मिक आर्थिक उतार–चढ़ाव व्यक्ति पर सकारात्मक दबाव डालते हैं जिसके कारण व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। आधुनिक समाजों में अप्रतिमानता आत्महत्या एक नियमित आत्महत्या बन चुकी है। आत्महत्या की दर धनाढ्य व तलाकशुदा लोगों में अधिक पाई जाती है। आकस्मिक समृद्धि या पति की मृत्यु या वैवाहिक सम्बन्धों के टूट जाने से जीवन असन्तुलित हो जाता है तथा इससे आदर्शों में ज्वार आ जाता है। जीवन की इन परिस्थितियों से सन्तुलन न रख पाने के कारण व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है।

जब एक बार अप्रतिमानता की स्थिति पैदा हो जाती है तो छूत की बीमारी की तरह सम्पूर्ण समाज में फैल जाती है। अप्रतिमानता की स्थिति को रोकने हेतु सामाजिक शक्तियों एवं आदर्शात्मक व्यवस्था को पुनः प्रतिष्ठित करना अनिवार्य है। आदर्शात्मक व्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा ही व्यक्तियों को मनमाने व्यवहार करने से रोक सकती है।

इस प्रकार, दुर्खीम ने अप्रतिमानता की अवधारणा को ही स्पष्ट नहीं किया है अपितु इसके कारणों एवं परिणामों की भी विवेचना की है। इसके कारण समाज में ही निहित नहीं होते अपितु इसके परिणाम भी समाज के लिए नकारात्मक होते हैं। सामूहिक शक्ति (सामूहिक प्रतिमान) के दुर्बल हो जाने से अप्रतिमानता की स्थिति विकसित होती है तथा उसकी पुनः प्रतिष्ठा से ही ऐसी स्थिति पर रोक लगाई जा सकती है।

7.2.4 अप्रतिमानता के बारे में मर्टन के विचार

दुर्खीम के अप्रतिमानता सम्बन्धी विचारों को आगे बढ़ाने का श्रेय रोबर्ट के0 मर्टन को दिया जाता है। मर्टन भी दुर्खीम की तरह एक प्रकार्यवादी विद्वान् थे, फिर भी उन्होंने मानव व्यवहार पर सामाजिक संरचना के विपरीत प्रभावों की विस्तृत विवेचना की है। दुर्खीम की तरह उन्होंने लक्ष्यों की पूर्ति हेतु आत्यन्तिक आकांक्षाओं पर बल न देकर यह खोजने का प्रयास किया

है कि किस प्रकार सामाजिक संरचना समाज में व्यक्तियों पर अनुपालन की अपेक्षा विचलन हेतु दबाव डालती है। इसकी व्याख्या में मर्टन ने **फ्रायड** तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों के इस तर्क को अस्वीकार किया है कि विचलन हेतु प्राणिशास्त्रीय मूलप्रवृत्तियाँ उत्तरदायी हैं, जो सन्तुष्ट न होने की स्थिति में व्यक्ति को आदर्शों को न मानने के लिए प्रेरित करती है। मर्टन ने सामाजिक व्यवस्था तथा आदर्शात्मक संरचनाओं को मानव व्यवहार एवं प्रतिक्रियाओं को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण माना है।

मर्टन ने सांस्कृतिक संरचना के टूट जाने की स्थिति को अप्रतिमानता कहा है अर्थात् यह वह स्थिति है जिसमें सांस्कृतिक लक्ष्यों तथा उन्हें पूरा करने वाले संस्थागत साधनों में असम्बद्धता या विभाजन पैदा हो जाता है। प्रत्येक समाज में लक्ष्य कम या अधिक रूप में एकीकृत होते हैं और वही आकांक्षाओं की सन्दर्भ संरचना का निर्माण करते हैं। सफलता, धन, शक्ति, सम्मान आदि ऐसे लक्ष्यों के कुछ उदाहरण हैं। संस्थागत साधन इन लक्ष्यों तक पहुँचने के मान्य स्वरूप होते हैं। यद्यपि ये सर्वाधिक उपयुक्त साधन नहीं होते तथापि वे सामाजिक व्यवस्था द्वारा स्वीकृत एवं आदर्शात्मक रूप से नियमित होते हैं। समाज समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा इन सांस्कृतिक लक्ष्यों को अपने सदस्यों में आन्तरीकरण करता है। इसी के परिणामस्वरूप वे लक्ष्य व्यक्तियों के लिए भी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य बन जाते हैं। इन्हीं लक्ष्यों के कारण व्यक्ति श्रम करने हेतु प्रेरित होते हैं। संस्थागत साधन समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके हैं जिसमें सांस्कृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। ये संस्थागत साधन या नियम ही संस्थाएँ कहलाते हैं। सांस्कृतिक लक्ष्य एवं संस्थागत साधन मिलकर मानवीय व्यवहार की सन्दर्भ संरचना निश्चित एवं निर्धारित करते हैं। जब तक इन दोनों में परस्पर सामंजस्य बना रहता है तब तक आदर्शात्मक व्यवस्था भी बनी रहती है।

परन्तु कई बार वास्तविक व्यवहार में ऐसी परिस्थितियाँ भी विकसित हो जाती हैं कि सांस्कृतिक लक्ष्यों एवं संस्थागत साधनों में सामंजस्य नहीं रह पाता है। सामान्यतः ऐसा निम्नलिखित तीन परिस्थितियों में होता है–

(1) सांस्कृतिक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु संस्थागत साधन उपलब्ध न होना–यह वह परिस्थिति है जिसमें कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति पर अधिक बल दिया जाता है पर उनकी प्राप्ति हेतु पर्याप्त संस्थागत साधन उपलब्ध नहीं होते। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति किसी आदर्श या नियम की चिन्ता किए बिना अपना लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यह अप्रतिमानता को जन्म देता है।

(2) प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं में अनिश्चितता–जब व्यक्तियों की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उनके व्यवहार में आदर्शविहीनता या नियमहीनता पैदा हो जाती है। ऐसे में सांस्कृतिक लक्ष्य भी अनिश्चित हो जाते हैं और व्यक्ति मनमाना व्यवहार करने लगते हैं। अप्रतिमानता की यह स्थिति वैयक्तिक तथा सामाजिक विघटन को प्रोत्साहन देती है।

(3) किसी एक सांस्कृतिक लक्ष्य पर अत्यधिक बल–कई बार कुछ समाज किसी एक सांस्कृतिक लक्ष्य पर अत्यधिक बल देते हैं जिसमें अप्रतिमानता की स्थिति विकसित हो जाती है। उस लक्ष्य–विशेष की प्राप्ति हेतु कई बार व्यक्ति प्राथमिक व सामूहिक सम्बन्धों से दूर हो जाता है। उदाहरणार्थ–अनेक अविवाहित कामकाजी महिलाएँ नौकरी में प्रतिष्ठा पाने हेतु अनेक उद्वेगात्मक कठिनाइयों में फँस जाती हैं। उन्हें यह सुध–बुध नहीं रहती कि वे अपने पारिवारिक सम्बन्धों या विवाह के बारे में कुछ सोचें। **एवलिन एलिस** (Evelyn Ellis) ने अपने अध्ययन में इसी तरह के निष्कर्ष निकाले हैं।

मर्टन ने दो प्रकार की अप्रतिमानता का उल्लेख किया है–**साधारण अप्रतिमानता** (Simple anomie) तथा **तीव्र अप्रतिमानता** (Accute anomie)। पहले प्रकार की अप्रतिमानता किसी समाज में पाई जाने वाली अनिश्चितता की स्थिति है जो कि मूल्यों के बीच पाए जाने वाले संघर्ष के परिणामस्वरूप विकसित होती है। इसमें मूल्य व्यवस्था (Value system) अथवा आदर्शात्मक व्यवस्था (Normative order) पूरी तरह से टूटती नहीं है। दूसरे प्रकार अर्थात् तीव्र अप्रतिमानता में मूल्य व्यवस्था अथवा आदर्शात्मक व्यवस्था ही टूटने लगती है तथा नियमित आदर्श प्रभावहीन हो जाते हैं। तीव्र अप्रतिमानता की स्थिति में मानव अपनी आकांक्षाओं को ही सब–कुछ समझने लगता है तथा उसकी प्राप्ति मनमाने ढंग से करने लगता है।

मर्टन ने अनुकूलन के जो पाँच प्रकार बताए हैं उनमें प्रवर्तन या नवाचार (Innovation), कर्मकाण्डीयता या संस्कारवाद (Ritualism), प्रत्यावर्तन या पलायनवाद (Retreatism) तथा विद्रोह (Rebellion) सांस्कृतिक लक्ष्यों व संस्थागत साधनों में असम्बद्धता या वियोजन को ही प्रकट करते हैं।

7.2.5 अप्रतिमानता के बारे में पारसन्स के विचार

पारसन्स की अप्रतिमानता की अवधारणा सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ही समझी जा सकती है। सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को कर्ता (Actor) के रूप में अनेक सामाजिक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, परन्तु व्यक्तियों की कुछ क्रियाएँ स्थापित संस्थाओं के अनुरूप नहीं होती और वे सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा बन जाती हैं क्योंकि इनसे उसका संगठन व अखण्डता नष्ट होती है। इसी को अप्रतिमानता की स्थिति कहा जा सकता है। इस स्थिति पर रोक लगाने हेतु प्रत्येक व्यवस्था सामाजिक नियन्त्रण के साधनों का प्रयोग करती है। सामाजिक नियन्त्रण के यन्त्रों या साधनों के रूप में सामाजिक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। **पारसन्स** के अनुसार सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन, अनुरूपता एवं नियमबद्धता की स्थिति है क्योंकि इसी से व्यक्तियों का व्यवहार निर्देशित, संचालित एवं नियन्त्रित होता है। अप्रतिमानता संस्थाकरण की विरोधी या विपरीत स्थिति है अर्थात् जब संस्थाकरण का अभाव हो जाता है तो अप्रतिमानता की स्थिति विकसित होती है। **पारसन्स** के अनुसार, "संस्थाकरण की धुव्रीय विरोधी धारणा अप्रतिमानता है।"

इस प्रकार, पारसन्स के अनुसार संस्थाकरण या नियमबद्धता की व्यवस्था का पूर्ण रूप में खण्डित हो जाना अप्रतिमानता कहलाता है। यह आदर्शात्मक व्यवस्था का पूर्णतः खण्डित हो जाना है। चार प्रकार की संस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं–सम्बन्धात्मक (Relational) संस्थाएँ, नियामक (Regulative) संस्थाएँ, सांस्कृतिक (Cultural) संस्थाएँ तथा सम्बन्धात्मक व नियामक (Relational and regulative) संस्थाएँ। अप्रतिमानता की स्थिति में इन संस्थाओं का संस्थाकरण नहीं हो पाता। पारसन्स ने संस्थागत प्राथमिकताओं (Institutionalized priorties) के सन्दर्भ में भी अप्रतिमानता की व्याख्या की है। यदि संस्थागत प्राथमिकताएँ प्रस्थितियों व भूमिकाओं को स्पष्ट करने वाली होती हैं तो नियमबद्धता बनी रहती है। परन्तु कई बार व्यक्ति इस दुविधा में पड़ जाता है कि वह अपनी विभिन्न प्रस्थितियाँ व भूमिकाओं में से किसे प्राथमिकता दे और किसे न दे। उदाहरणार्थ–डॉक्टर की भूमिका केवल बीमारों को ठीक करना ही नहीं है अपितु एक पति के रूप में अपने दायित्वों का भी पालन करना है। कई बार संस्थागत प्राथमिकताएँ न होने के कारण इनमें टकराव की स्थिति पैदा हो जाती है तथा प्रस्थितियों व भूमिकाओं में अनिश्चितता आ जाती है। अतः संस्थागत प्राथमिकताओं का अभाव ही अप्रतिमानता लाता है।

पारसन्स के अनुसार अप्रतिमानता की स्थिति एक ऐसी स्थिति है जिसमें कोई कर्ता अपने दबावों एवं संघर्षों को संस्थागत साधनों द्वारा दूर नहीं कर पाता और वह इन्हें दूर करने हेतु ऐसे तरीकों को अपनाता है जिनकी समाज स्वीकृति नहीं देता। इसी के परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

7.2.6 अप्रतिमानता एवं अपराध

अप्रतिमानता या आदर्शविहीनता सामाजिक संरचना की ही एक स्थिति है जिसमें व्यक्ति इतना अधिक आत्म–केन्द्रित हो जाता है कि वह सामाजिक नियमों की चिन्ता किए बिना मनमाना व्यवहार करने लगता है तथा यह स्थिति विचलित व्यवहार को प्रोत्साहन देती है। यद्यपि 'अप्रतिमानता' शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है उसका श्रेय हीगल तथा मार्क्स को भी दिया जाता है (जिन्होंने 'अप्रतिमानता' के स्थान पर 'अलगाव' शब्द का प्रयोग किया है), परन्तु इस शब्द का विधिवत् प्रयोग **दुर्खीम** ने ही किया है।

दुर्खीम (Durkheim) के अनुसार अप्रतिमानता सामाजिक संरचना की ही एक विशेष दशा है जिसमें व्यक्ति इतना आत्म–केन्द्रित, अहमवादी एक स्वार्थी हो जाता है कि वह समाज के आदर्शों व नियमों को स्वीकार नहीं करता। अतः यह नियमों के निलम्बन के अभाव की एक दशा है। एक सामान्य शून्यता (Vacuum) अथवा नियमों के निलम्बन या प्रभावहीन होने की अवस्था को ही अप्रतिमानता कहा जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शों एवं मूल्यों द्वारा संचालित न होकर मनमाना व्यवहार करना शुरू कर देते हैं। **मर्टन** ने सांस्कृतिक संरचना के टूट जाने की स्थिति को अर्थात् उस स्थिति को, जब सांस्कृतिक नियमों एवं लक्ष्यों तथा समूह के सदस्यों की सामाजिक संरचनात्मक क्षमताओं के बीच अत्यधिक असम्बद्धता पैदा हो जाती, अप्रतिमानता कहा जा सकता है। पारसन्स ने आदर्शात्मक व्यवस्था के पूर्ण रूप से खण्डित हो जाने की अवस्था को अप्रतिमानता कहा है।

अप्रतिमानता एवं विचलित व्यवहार (जिसमें अपराध भी सम्मिलित है) में घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध पाया जाता है। दुर्खीम के अनुसार प्राचीन समाजों में सभी व्यक्ति, सामूहिक चेतना (Collective conscience) द्वारा परस्पर बँधे रहते हैं तथा उस सामूहिक चेतना को बनाए रखना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं। कोई भी ऐसा कार्य करना, जिससे सामूहिक चेतना को आघात पहुँचता हो, बहुत बुरा अपराध माना जाता है। परन्तु आधुनिक समाजों में सामाजिक संश्लिष्टता का आधार श्रम–विभाजन है। जब कभी श्रम–विभाजन की व्याधिकीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है अथवा क्षतिपूरक कानून सावयविक एकता को बनाए रखने में सफल नहीं होता तो समाज में आदर्शविहीनता की स्थिति में समाज के अनेक सदस्य विचलित व्यवहार करना प्रारम्भ कर देते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति विवेकहीन हो जाता है और सामाजिक नियन्त्रण के साधनों के अनौपचारिक साधन प्रभावहीन हो जाते हैं। सामूहिक शक्ति एवं नियन्त्रण के साधनों के प्रभावहीन होने का कारण अचानक तकनीकी में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अथवा एकाएक उन्नति या अवनति हो जाना है। दुर्खीम ने विशृंखल श्रम–विभाजन के सन्दर्भ में यह बतलाया है कि इसमें समाज की विभिन्न इकाइयों में सामजंस्य समाप्त हो जाता है क्योंकि व्यक्ति जब पारस्परिक सन्तुलन खो बैठता है तथा उनकी स्थिति में समन्वय नहीं रहता तो विशृंखल श्रम–विभाजन की अवस्था उत्पन्न होती है। इसी प्रकार दुर्खीम ने अस्वाभाविक आत्महत्या का कारण आकस्मिक या अस्वाभाविक तीव्र परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न अप्रत्याशित परिस्थितयाँ बताया है जिनसे व्यक्ति अनुकूलन नहीं कर सकता है और तनाव व अशान्ति से मुक्ति पाने के लिए आत्महत्या कर बैठता है। इसके अतिरिक्त भयंकर आर्थिक या सामाजिक संकट और प्राकृतिक विपदाएँ भी अप्रतिमानता की स्थिति पैदा कर देती हैं।

मर्टन के अनुसार जब सांस्कृतिक लक्ष्यों (समाज व संस्कृति द्वारा निर्धारित लक्ष्यों) व उनको पूरा करने के लिए उपलब्ध संस्थागत नियमों (समाज द्वारा स्वीकृत साधन जो सांस्कृतिक लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हैं) का परस्पर सामंजस्य समाप्त हो जाता है तो अप्रतिमानता की स्थिति विकसित हो जाती है जो विचलित व्यवहार को प्रोत्साहन देती है।

पारसन्स के अनुसार सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन, अनुरूपता एवं नियमबद्धता स्थापित रखती है। सामाजिक संस्थाओं एवं विकास की प्रक्रिया को संस्थाकरण कहा जाता है। संस्थाकरण एक तरह से नियमबद्धता की स्थिति है तथा इसकी विपरीत स्थिति अर्थात् आदर्शात्मक व्यवस्था का पूर्ण रूप से खण्डित हो जाना अप्रतिमानता कहलाती है। संस्थाकरण या नियमबद्धता की व्यवस्था के पूर्ण रूप से खण्डित हो जाने पर सदस्यों द्वारा विचलित व्यवहार अधिक किया जाने लगता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अप्रतिमानता एवं अपराध एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। अपराध का अर्थ सामाजिक मान्यताओं को तोड़ना (गैर–सामाजिक कार्य करना) अथवा गैर–कानूनी कार्य करना है। इन दोनों परिस्थितियों को अप्रतिमानता की दशा प्रोत्साहन देती है। अप्रतिमानता के समय व्यक्ति पर सामाजिक नियन्त्रण ढीला पड़ जाता है। उसकी प्रस्थिति एवं भूमिका में असामंजस्य पैदा हो जाता है और वह निर्णय नहीं ले पाता कि अपने लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किन साधनों को अपनाए। युद्धकाल में अपराधों की वृद्धि हेतु काफी सीमा तक अप्रतिमानता की स्थिति ही उत्तरदायी है। सामाजिक नियन्त्रण का अभाव (जो कि अप्रतिमानता का परिणाम है) भी अपराधों को प्रोत्साहन देता है क्योंकि सामाजिक दबाव के अभाव में व्यक्ति अपनी मनमानी करने लगता है तथा उसके पथभ्रष्ट होने की सम्भावना बढ़ जाती है। कुछ विद्वान् इन दोनों में पाए जाने वाले सम्बन्ध को भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। उनका विचार है कि अपराध के विस्तार में वृद्धि व्यक्ति को असहाय महसूस करने पर विवश कर देती है। यही स्थिति व्यक्ति के अलगाव के लिए उत्तरदायी है तथा अन्ततः अप्रतिमानता की दशा को प्रोत्साहन देती है।

7.3 विचलन

प्रत्येक समाज समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से आने वाली पीढ़ियों को अपनी संस्कृति हस्तान्तरित करने का प्रयास करता है। यही सांस्कृतिक मूल्य व्यक्ति को इस बात का ज्ञान देते हैं कि समाज में क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित। समाजीकरण के बावजूद अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो समाज की मान्यताओं के विपरीत व्यवहार करने लगते हैं। उनके इसी व्यवहार को विचलन कहते हैं। कई बार यह विचलन सामाजिक समूह, समुदाय तथा सम्पूर्ण समाज के लिए एक खतरा भी बन जाता है। इसीलिए प्रत्येक समाज विचलित व्यवहार करने वाले व्यक्तियों पर सामाजिक नियन्त्रण द्वारा अंकुश लगाने का प्रयास करता है। समाजशास्त्र एवं अपराधशास्त्र जैसे विषयों में विचलित व्यवहार का अध्ययन अब काफी सीमा तक सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है ताकि प्रत्येक छात्र–छात्रा को इसके कारणों का पता चल सके। विचलन निश्चित रूप से समाज द्वारा अमान्य व्यवहार है।

7.3.1 विचलन की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

विचलन उतना ही पुराना है जितना कि मानव समाज। प्रत्येक युग में विचलन होता रहा है और समाज उसके रोकथाम की व्यवस्था करता रहा है। इस व्यवस्था के होते हुए भी यदि किसी ने विचलन किया तो समाज ने उसे दण्डित किया। उदाहरणार्थ–'रामायण' के नायक राम के युग में एक ऐसी घटना आती है कि शम्बूक नामक शूद्र वेद–मन्त्रों के उच्चारण सहित घोर तपस्या कर रहा था। उसका यह व्यवहार वर्ण धर्म के अनुकूल नहीं था क्योंकि शूद्रों को

इस प्रकार से तपस्या करने का अधिकार नहीं था। शम्बूक अपराधी घोषित किया गया, वह विचलन का दोषी था। महाराजा राम ने उसे प्राणदण्ड दिया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि विभिन्न कालों में विचलन कहे जाने वाले व्यवहारो की स्थिति बदल भी सकती है। जैसे आधुनिक युग में कोई निम्न जाति का व्यक्ति इस प्रकार तपस्या करता है तो वह कदापि विचलनकर्ता नहीं कहा जाएगा। इस भाँति, किसी भी व्यक्ति या समूह का कोई भी व्यवहार, जिसे करने की समाज उनसे आशा नहीं करता, सामाजिक विचलन कहा जाता है। प्रमुख विद्वानों ने इसे निम्नांकित शब्दों में परिभाषित किया है–

इंकलिस (Inkeles) के अनुसार–"सामाजिक विचलन तब पैदा होता है जब वह स्वीकृत आदर्शों से हटा हुआ हो और एक ऐसा कार्य हो जिसके बारे में समुदाय उग्र महसूस करता है, इतना उग्र कि ऐसी प्रतिक्रियाएँ करता है कि उस विचलित व्यवहार को होने ही न दिया जाए या फिर नियन्त्रित कर दिया जाए।" इस भाँति, इंकलिस के अनुसार सामाजिक विचलन वही व्यवहार कहा जाएगा जो समाज की कड़ी प्रतिक्रिया का विषय बन जाए और समाज इसे रोकने या नियन्त्रित करने के लिए तत्पर हो उठे। दूसरे शब्दों में, यह व्यवहार समाज के प्रमुख मूल्यों की दृष्टि से हटकर ही नहीं वरन् अपकारी भी है।

फैडरिको (Federico) के अनुसार–"समाजशास्त्री इस शब्द का प्रयोग किसी भी उस व्यवहार के लिए करते हैं जो समाज की प्रत्याशाओं (Expectations) का उल्लंघन करता है।" इस परिभाषा में वे सभी व्यवहार सम्मिलित हैं जो समाज के अन्य सदस्यों द्वारा असाधारण, अप्राकृतिक, अप्रचलित व अनैतिक हैं या सीधे और साफ नहीं समझे जाते। फैडरिको जैसे विद्वानों ने सामाजिक विचलन को व्यापक अर्थों में परिभाषित किया है। उनके अनुसार प्रत्येक विचलन समाज की कड़ी प्रतिक्रिया भी आमन्त्रित करता है।

लाईट एवं **कैलर** (Light and Keller) के अनुसार–"विचलन एक आवरणपूर्ण शब्द है जो प्रतिभा तथा साधुता से लेकर अपराध एवं पागलपन, विद्रोह तथा सनकीपन सभी–कुछ को आच्छादित कर लेता है। वास्तव में, कोई भी व्यवहार, जो सामाजिक प्रत्याशाओं का उल्लंघन करता है, विचलित व्यवहार के रूप में चिह्नित किया जा सकता है।"

अतः स्पष्ट है कि विचलन की परिभाषा समाज विशेष के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। विचलन वह व्यवहार है जो उस समय के अधिसंख्यक सदस्यों द्वारा अस्वीकृत है व जिसके विरुद्ध कार्यवाही की जानी चाहिए।

7.3.2 विचलन की प्रकृति अथवा प्रमुख विशेषताएँ

विचलन की अवधारणा के उपर्युक्त स्पष्टीकरण के विवेचन के आधार पर इसकी निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं–

(1) अर्थ की व्यापकता–यह एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है जिसमें एक नहीं अनेक प्रकार के व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है। किसी भी समाज में विचलित व्यवहार की सूची बना देना कठिन ही नहीं प्रायः असम्भव भी है। इसके अतिरिक्त, एक ही समाज में विभिन्न समयों में विचलन का अर्थ परिवर्तित होता रहता है।

(2) सामाजिक आदर्शों द्वारा परिभाषित–कोई भी व्यवहार अपने में विचलन नहीं होता अपितु वह तो सामाजिक आदर्शों की कसौटी पर ही विचलन अथवा अनुपालन कहा जाएगा। उदाहरणार्थ, सिपाही भी दंगाइयों पर गोली चलाता है और उससे मानव–वध भी होता है, परन्तु उसे हत्या करने का अपराधी नहीं माना जा सकता है, जबकि अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला ऐसा व्यवहार निश्चित ही विचलन व हत्या कहा जाएगा।

(3) परिभाषा की परिवर्तनशीलता–विचलन की परिभाषा समयानुसार बदलती रहती है। उदाहरणार्थ–कभी सती होने वाली स्त्री देवी के रूप में प्रतिष्ठित थी, तो आज कोई भी स्त्री यदि अपने मृत पति के शव के साथ जलने का प्रयास करेगी तो आत्महत्या की दोषी मानी जाएगी और दण्डनीय होगी।

(4) सांस्कृतिक विभिन्नता–विचलन की परिभाषा एक ही समाज में दो भिन्न कालों में या उसके दो विभिन्न वर्गों में ही भिन्न–भिन्न नहीं होती वरन् विभिन्न संस्कृतियों में भी एक ही कार्य के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ–कुछ अरब देशों में पुरुष समलैंगिक व्यवहार (Homo-sexual behaviour) विचलन नहीं माना जाता, जबकि हमारे देश में यह अप्राकृतिक मैथुन माना जाता है जो कि दण्डनीय अपराध है। कनाडा में तो समलैंगिक विवाह को भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है।

(5) स्पष्टीकरण भी परिवर्तनशील–विचलन की एक अन्य विशेषता यह है कि इसकी परिभाषा ही नहीं बदलती, बल्कि विचलित व्यवहार के स्पष्टीकरण भी बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ–**लाईट** एवं **कैलर** ने अमेरिकी समाज में समलैंगिकता के स्पष्टीकरण की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में लिखा है कि कभी इसे प्रकृति के विरुद्ध अपराध, पाप या भ्रष्टता माना जाता था जिसका आशय था कि दोषी व्यक्ति नैतिक रूप से सज्जन व्यक्तियों के बीच जीने के लिए अनुपयुक्त है। बाद में इसे मानसिक रोग माना जाने लगा जो ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण बाध्यता पैदा कर देता है कि व्यक्ति ऐसा कार्य कर बैठता है, परन्तु मनोचिकित्सा से इसका उपचार किया जा सकता है। परन्तु 1974 ई0 में 'अमेरिकी मनोचिकित्सा संघ' ने यह घोषित किया कि यह कोई मानसिक रोग नहीं है, बल्कि मनुष्य की लैंगिक अभिरुचि में गड़बड़ी है।

(6) सम्बन्धित व्यक्ति की प्रस्थिति से प्रभावित–विचलन के निर्धारण में ऐसे व्यवहार करने वाले व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति भी प्रभाव डालती है। उदाहरणार्थ–अमीरों के लिए भोजन से पहले मदिरा सेवन करना एक सामाजिक परम्परा का विषय है, अमीरों का शौक है, परन्तु गरीबों के लिए यही काम व्यवहार का दोष है और उसे शराबी कहा जाता है। सच तो यह है कि विचलन का निर्धारण आंशिक रूप से सामाजिक शक्ति का विषय भी है। जो लोग शक्ति की स्थिति में होते हैं और अपने निर्णयों को लागू कर सकते हैं, वे ही इस बात को तय करते हैं कि किस आचरण को उचित कहा जाए और किस को विचलन।

7.3.3 विचलन के स्पष्टीकरण

व्यक्ति विचलन क्यों करता है? विचलन के स्पष्टीकरण अथवा कारणों को लेकर विभिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं। इन सभी प्रमुख मतों को निम्नांकित तीन विस्तृत श्रेणियों में विभाजित करके अध्ययन किया जा सकता है–

(1) जैविक स्पष्टीकरण–जैविक स्पष्टीकरण में हमने उन सभी मतों को सम्मिलित कर लिया है जो व्यक्ति में जन्मजात शारीरिक लक्षणों या दोषों को विचलन का उत्तरदायी मानते हैं। ऐसे विद्वानों में **लोम्ब्रोसो** (Lombroso) प्रमुख हैं। उनके विचार में अपराधियों में स्पष्ट शारीरिक लक्षण होते हैं, उनके विकास में ही त्रुटि मालूम होती है। जैसे–ज्यादातर अपराधियों की गालों की हड्डियाँ उभरी हुई होती हैं, जबड़े चौड़े होते हैं, खोपड़ी चौड़ी होती है, नथुने फूले हुए होते हैं, ये लोग पीड़ा से अप्रभावित होते हैं। इनमें यह इच्छा बलवती होती है कि अपने शिकार का न केवल अंग भंग किया जाए, अपितु उसके प्राण भी हरण कर लिए जाएँ। इसी भाँति, शैल्डन (Sheldon) ने तीन प्रकार के शरीर–प्ररूपों का वर्णन किया है। उनके अनुसार वे लोग, जो अत्यधिक भावुक, फुर्तीले और जल्दबाजी करने वाले होते हैं और काम

करने में तनिक भी विचार नहीं करते कि वे क्या कर रहे हैं, अपराध की ओर अधिक प्रवृत्त होते हैं। आधुनिक अनुसंधानों ने जैविक व्याख्याओं की असत्यता को सिद्ध कर दिया है और घोषित किया है कि कोई भी व्यक्ति अपराधी पैदा नहीं होता वरन् अपराधी बनता है।

(2) मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण–मनोविश्लेषणवादियों ने फ्रायड (Freud) का अनुकरण करते हुए विचलन का मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार विचलित व्यवहार दमित इच्छाओं और कुण्ठाओं का परिणाम है। वह व्यक्ति, जो अपने शैशव में अपने को उपेक्षित महसूस करता है माता–पिता द्वारा दुर्व्यवहार का शिकार महसूस करता है, बड़ा होकर अन्य व्यक्तियों के साथ भी सन्तुलित व्यवहार नहीं कर पाता। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि में किसी काम के परिणामों को नहीं देखते। वे विचलित व्यवहार करते हैं क्योंकि वे तो अपने 'शिकार' (Victim) की दृष्टि से सोचते ही नहीं। **अलबर्ट बान्दुरा** (Albert Bandura) ने भी अपने अध्ययनों में पाया कि वे बालक, जो निरन्तर कड़े शारीरिक अनुशासन में पलते हैं या जो माता–पिता के अत्यधिक लाड़–प्यार के भाजन में होते हैं, भी अपने में केन्द्रित हो जाते हैं और विचलित व्यवहार करते हैं। परन्तु समाजशास्त्रीय अध्ययनों ने इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपर्याप्तता को सिद्ध कर दिया है। अनेक सामाजिक परिस्थितियों का भी विचलन के घटित होने में हाथ होता है।

(3) समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरण–मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस बात पर तो प्रकाश डालते हैं कि विचलन करने वाले व्यक्तियों की मनोदशा कैसी होती है, परन्तु वे इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाते कि एक ही मनोस्थिति में दो व्यक्ति अलग–अलग व्यवहार क्यों करते हैं। इसी भाँति, वे यह भी स्पष्ट नहीं कर पाते कि एक ही समाज में प्रायः प्रतिवर्ष अपराध की एक–सी दरें क्यों होती हैं। समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरणों ने इन प्रश्नों पर प्रकाश डाला है। वास्तव में, विचलन का अध्ययन **दुर्खीम** द्वारा ही प्रारम्भ कर दिया गया था जब उन्होंने अपनी 'सामाजिक अप्रतिमानता' की व्याख्या प्रस्तुत की। **मर्टन** ने उनकी विचारधारा को ओर आगे बढ़ाया है। उनके अनुसार सामाजिक संरचना अपने सदस्यों के सम्मुख व्यवहार के लिए सांस्कृतिक लक्ष्य ही प्रस्तुत नहीं करती वरन् उनकी प्राप्ति के लिए संस्थागत साधनों को भी निर्धारित कर देती है। यदि कोई व्यक्ति संस्कृति द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में संस्थागत उपायों को ही अपनाता है तो वह अनुपालन कर रहा होता है। अन्य परिस्थितियों में अप्रतिमानता की स्थिति होती है जो कि विचलित व्यवहार की ओर ले जाती है। मर्टन के विचारों को निम्नांकित सारणी द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है–

सांस्कृतिक लक्ष्यों के साथ अनुकूलन के मर्टन द्वारा अभिव्यक्त प्रतिरूप

अनुकूलन के ढंग	सांस्कृतिक लक्ष्य	संस्थागत साधन
(1) अनुरूपता (Conformity)	+	+
(2) प्रवर्तन (Innovation)	+	–

(3)कर्मकाण्डीयता (Ritualism)	–	+
(4)प्रत्यावर्तन (Retreatism)	–	–
(5) विद्रोह (Rebellion)	±	±

उपर्युक्त सारणी में + का चिह्न स्वीकृति का द्योतक है तथा – का चिह्न अस्वीकृति का द्योतक है, जबकि ± इस बात को बताता है कि इस अनुकूलन में सांस्कृतिक लक्ष्यों और संस्थागत साधनों की स्वीकृति ही नहीं दी जाती, बल्कि उनके स्थान पर नए सांस्कृतिक लक्ष्यों और उनके अनुरूप संस्थागत साधनों को आरोपित करने का भी प्रयास किया जाता है।

अनुपालन या अनुरूपता संस्कृति द्वारा अनुमोदित लक्ष्यों को संस्कृति द्वारा ही अनुमोदित साधनों द्वारा प्राप्ति का प्रयास है। प्रवर्तन या नवाचार सांस्कृतिक लक्ष्यों को तो मानता है परन्तु संस्थागत साधनों में कोई नया तरीका अपनाता है जो समाज की बृहत् मान्यताओं के अनुकूल नहीं होता, जैसे कोई विद्यार्थी अच्छे नम्बर प्राप्त करने के लिए नकल का तरीका अपनाए। कर्मकाण्डीयता या संस्कारवाद का उदाहरण एक वह शिक्षक है जो कोर्स समाप्त करने के लिए जल्दी–जल्दी व्याख्यान दिए जाता है बिना इस बात की चिन्ता किए कि छात्र समझ रहे हैं या नहीं क्योंकि वह सांस्कृतिक साधनों का प्रयोग तो कर रहा है परन्तु लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर रहा है। प्रत्यावर्तनीय या पलायनवादी वे होते हैं जिन्हें लक्ष्यों व साधनों दोनों की उपादेयता में कोई विश्वास नहीं होता, जैसे–बहुत–से शराबी नशे की लत के इसलिए शिकार हो जाते हैं कि वे समाज द्वारा निर्देशित लक्ष्यों व उन्हें प्राप्त करने के उपायों को निरर्थक व अर्थहीन समझते हैं। विद्रोह के स्पष्ट उदाहरण पंजाब के आतंकवादी हैं जो भारतीय संविधान के अन्तर्गत समाज के अंग ही नहीं रहना चाहते वरन् उसके स्थान पर एक नए राष्ट्र व संविधान की स्थापना करना चाहते हैं। उनके रास्ते भी संस्थागत मार्ग से बिलकुल अलग हैं।

इसी भाँति, कुछ विद्वानों ने विचलन के लिए समाज द्वारा ऐसे व्यक्ति को चिह्नित कर देना (Labelling) या उन पर कलंक का टीका (Sigma) लगा देना भी उत्तरदायी पाया है। किसी के नासमझी या आकस्मिक भावावेश में किए गए व्यवहार के परिणामस्वरूप उसे दोषी, चोर, पागल, दादा, गुण्डा, बदमाश कह कर ऐसे 'लेबल' लगा दिया जाता है जो उससे छुटाए नहीं छूटता और वह व्यक्ति उसी विचलन की राह पर चलता रहता है। यही प्रक्रिया भूतपूर्व दण्डभोगी अपराधी के पुनर्वास में भी बाधक होती है।

कुछ ऐसे विचलन भी हैं जो परिवार–विशेष या समुदाय–विशेष में सांस्कृतिक विरासत के रूप में हस्तान्तरित होने लगते हैं। समाजीकरण के माध्यम से ऐसे वातावरण में व्यक्ति अपराध ही सीखता है। कभी–कभी सामाजिक संरचना समय के साथ इतनी पिछड़ चुकी होती है कि वह कुछ व्यक्ति–विशेष या समूहों की आकांक्षाएँ पूरी नहीं कर पाती और व्यक्ति को विचलन के लिए प्रेरित करती है।

उपर्युक्त स्पष्टीकराण का अध्ययन इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि विचलन किसी एक कारक द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यह तो बहुकारकीय धारणा है और विचलित व्यवहार को इन सभी कारकों की दृष्टि से देखना पड़ेगा यद्यपि यह हो सकता है कि किसी एक व्यक्तिगत मामले में कोई एक कारक अधिक प्रभावशाली ढंग से क्रियाशील हो।

अन्त में, हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि प्रत्येक विचलन समाज के लिए अपकार्य करने वाला नहीं होता, वरन् कभी–कभी यह नए परिवर्तनों की आवश्यकता की ओर इशारा करता है व उनका स्रोत हो जाता है। ऐसी स्थितियों में इसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक विघटन सामाजिक प्रगति की कीमत ही समझा जाएगा जो हर नए परिवर्तन के लिए समाज को चुकानी ही पड़ती है।

7.3.4 विचलित व्यवहार का समाजशास्त्र

विचलित व्यवहार असामान्य व्यवहार को कहते हैं। अन्य शब्दों में, यह एक ऐसा व्यवहार है जो समाज के सदस्यों के सामान्य व्यवहार से अलग है। विचलित व्यवहार का अर्थ समाज के भिन्न वर्गों के लिए भिन्न–भिन्न हो सकता है तथा इसीलिए इसकी परिभाषा उस समूह द्वारा दी जाती है जो सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक दृष्टि से प्रबल है। सामान्यतः सामाजिक रूप से विचलित व्यक्ति उसे कहते हैं जो समूह, संगठन, संस्था अथवा समाज के व्यवहार के सामाजिक नियम या कानून को तोड़ता है। अतः यह एक ऐसा व्यवहार है जो पहले तो खतरनाक नहीं होता अपितु बाद में अपराधों को प्रोत्साहन दे सकता है। समाजशास्त्र की जिस शाखा में विचलित व्यवहार का अध्ययन किया जाता है उसे 'विचलित व्यवहार का समाजशास्त्र' कहा जाता है।

सेलिन (Sellin) ने अपराध की व्याख्या अपराधी व्यवहार को आधार मान कर दी है। उनके अनुसार सांस्कृतिक जीवन में होने वाले संघर्ष विचलित व्यवहार को प्रोत्साहन देता है। वास्तव में, विचलित व्यवहार संस्कृति द्वारा ही परिभाषित होता है तथा इसके द्वारा ही निर्धारित होता है। इस प्रकार, यह किसी सांस्कृतिक मान्यताओं या सामान्य व्यवहार प्रतिमानों के विपरीत किया गया कार्य है। अतः समूह इन प्रतिमानों को तोड़ने वालों का प्रतिरोध करते हैं। यह प्रतिरोध कम या अधिक मात्रा में हो सकता है तथा उस व्यवहार नियम पर आधारित है जिसे तोड़ा गया है।

प्रो0 सुशील चन्द्र (Sushil Chandra) ने भारत में विचलन के समाजशास्त्र में तीन प्रमुख पहलुओं को सम्मिलित किया है। ये हैं–

(1) बाल निराश्रयता (Juvenile destitution);

(2) भिक्षावृत्ति (Beggary); तथा

(3) जातीय दूरी तथा पृथक्करण (Caste distance and segregation)।

के0 एस0 शुक्ला (K. S. Shukla) ने 'भारतीय समाज विज्ञान अनुसन्धान परिषद्' (Indian Council of Social Science Research) के लिए लिखे 'प्रवृत्ति लेख' (Trend Report) में विचलित व्यवहार के समाजशास्त्र में निम्नांकित पहलुओं को सम्मिलित किया है–

(1) पुरुषों में विचलन (Deviance among men);

(2) स्त्रियों में विचलन (Deviance among women);

(3) बालकों में विचलन (Deviance among juveniles);

(4) आत्महत्या (Suicide);

(5) गैर–अधिसूचित समुदाय तथा विचलन (Denotified communities and deviance);

(6) मादक द्रव्य व्यसन तथा मद्यपान (Drug addiction and alcoholism); तथा

(7) सुधार (Correction)।

पुरुषों में विचलन अनेक रूपों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ–संघर्ष तथा तनाव से लेकर मानसिक दुर्बलता एवं अपराध तक इसमें सम्मिलित हैं। स्त्रियों में विचलन से सम्बन्धित सर्वाधिक अध्ययन देवदासी प्रथा, कॉल गर्ल, वेश्यावृत्ति तथा अपराधी महिलाओं के बारे में हुए हैं। किशोरों अथवा बालकों में विचलन सम्बन्धी अध्ययन मुख्य रूप से बाल अपराधियों, बाल–भगोड़ों इत्यादि पर ही किए गए हैं। आत्महत्या पर भारत में अनेक अध्ययन हुए हैं। गैर–अधिसूचित समुदायों में मुख्यतः भूतपूर्व अपराधी जनजातियों में सामाजिक विचलन को अध्ययन में सम्मिलित किया जाता है। मादक द्रव्य व्यसन तथा मद्यपान के बारे में अनेक सामाजिक वैज्ञानिकों ने उल्लेखनीय कार्य किए हैं। सुधार से सम्बन्धित अध्ययनों में के0 एस0 शुक्ला ने किसी संस्था के भीतर रहने वालों में सुधार सम्बन्धी तथा सुधार प्रशासन सम्बन्धी अध्ययनों को सम्मिलित किया है।

7.4 सारांश

समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण के सन्दर्भ में अप्रतिमानता एवं विचलन की अवधारणाओं को स्पष्ट करना अनिवार्य है। यद्यपि प्रत्येक समाज व्यक्तियों के व्यवहार को समाज की मान्यताओं के अनुरूप बनाए रखने का भरसक प्रयास करता है, तथापि अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो इन मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार नहीं करते हैं। अप्रतिमानता से अभिप्राय नियमों के निलम्बन अर्थात् नियमहीनता एवं सांस्कृतिक लक्ष्यों व संस्थागत आदर्शों में असामंजस्य की उस स्थिति से है जिसमें व्यक्ति अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका में अनिश्चितता महसूस करने लगता है। उन्हें समझ में नहीं आता कि वह क्या करें? अप्रतिमानता की स्थिति में व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शों एवं मूल्यों को त्यागकर मनमाने ढंग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगता है। समाजशास्त्र में दुर्खीम, मर्टन तथा पारसन्स ने इस अवधारणा के बारे में महत्त्वपूर्ण विचार प्रतिपादित किए हैं। अप्रतिमानता की स्थिति में अपराधों को भी प्रोत्साहन मिलता है। विचलन से अभिप्राय उस व्यवहार से है जो समाज की प्रत्याशाओं का उल्लंघन करता है। यद्यपि विचलन को जैविक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, तथापि इसके समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरणों को ही अधिक मान्यता प्राप्त है। विचलित व्यवहार का अध्ययन समाजशास्त्र एवं अपराधशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण के माध्यम से प्रत्येक समाज अप्रतिमानता एवं विचलन पर अंकुश लगाने का प्रयास करता है।

7.5 शब्दावली

अप्रतिमानता – यह आदर्शविहीनता की वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति स्वीकृत आदर्शों को त्यागकर मनमाने ढंग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगता है।

सांस्कृतिक लक्ष्य – यह वे लक्ष्य हैं जो संस्कृति द्वारा निर्धारित एवं मान्य होते हैं।

संस्थागत साधन – सांस्कृतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के समाज द्वारा मान्य तरीकों को संस्थागत साधन कहते हैं।

विचलन – समाज की प्रत्याशाओं के विपरीत व्यवहार करना विचलन कहलाता है।

अनुरूपता – समाज के आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप व्यवहार करने की स्थिति को अनुरूपता कहते हैं।

प्रत्यावर्तन – यह वह स्थिति है जिसमें न तो सांस्कृतिक लक्ष्य ही मान्य होते हैं और न ही उनको प्राप्त करने के संस्थागत साधन।

7.6 अभ्यास प्रश्न

1. अप्रतिमानता किसे कहते हैं? इसकी प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
2. अप्रतिमानता को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
3. अप्रतिमानता के बारे में दुर्खीम एवं मर्टन के विचार स्पष्ट कीजिए।
4. अप्रतिमानता का अर्थ बताइए तथा अपराध से इसका सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
5. विचलन से आप क्या समझते हैं? विचलन की प्रमुख विशेषताएँ बतलाइए।
6. विचलन के समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरण की व्याख्या कीजिए।
7. विचलन का अर्थ बताइए तथा इसके जैविक एवं मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण संक्षेप में समझाइए।
8. अप्रतिमानता एवं विचलन की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए।

7.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Albert Bandura (1973). **Aggression : A Social Learning Analysis**, Engle-wood Cliffs, NJ: Prentice Hall.

Alex Inkeles (1964), **What is Sociology ?**, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, N.J.

Alfred Reginald ***Radcliffe-Brown*** (1965), **Structure and Function in Primitive Society**, Cohen and West Ltd., London.

Bradley, Kate (2009). "Cesare Lombroso (1835-1909)". **Fifty Key Thinkers in Criminology**, Routledge.

Donald Light and Jr. Suzanne Keller (1965), **Sociology**, Alfred A. Knopf, New York.

E. H. Mizruchi (1960), "Social Structure and Anomia in a Small City" in **American Sociological Review**, Vol. 25, pp. 645-654.

E. M. Hartl, E. P. Monnelly and R. D. Elderkin (2012), **Physique and Delinquent Behavior (A Follow-up of William H. Sheldon's Varieties of Delinquent Youth)**, (: Academic Press, London, pp. 411-421.

Emile Durkheim (1982), **The Rules of Sociological Method**, The Free Press, New York.

Emile Durkheim (1984), **The Division of Labour in Society**, The Free Press, New York.

M. Francis Abraham (1990), **Modern Sociological Theory—An Introduction**, Oxford University Press, Delhi.

R. Cloward (1959), "Illegitimate Means, Anomie and Deviant Behavior" in **American Sociological Review**, Vol. 24(2), pp. 164- 76.

R. M. MacIver (1950), **The Ramparts We Guard**, The Macmillan Company, New York.

Robert K. Merton (1968), **Social Theory and Social Structure**, The Free Press, New York.

Ronald C. Federico (1983), **Sociology**, Addison-Wesley Publishing Company, California.

S. Freud, (1961), **The Complete Works of Sigmund Freud**, (Vol. 19), Hogarth, London.

Talcott Parsons (1951), **The Social System**, The Free Press, New York.

William Sheldon (2000), "Theory of Body Type and Temperament" in BarCharts, Inc. **Sociology : The Basic Principles of Sociology for Introductory Courses**, Boca Raton, FL: Bar Charts, Inc.

इकाई 8 सामाजिक नियन्त्रण : अवधारणा, स्वरूप तथा सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण

Social Control: Concept, Types & Agencies of Social Control

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
8.3 सामाजिक नियन्त्रण की प्रकृति अथवा विशेषताएँ
8.4 सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता या उद्देश्य
8.5 सामाजिक नियन्त्रण के कार्य एवं महत्त्व
8.6 सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप अथवा प्रकार
8.7 सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण अथवा साधन
8.8 सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख सिद्धान्त
8.9 सारांश
8.10 शब्दावली
8.11 अभ्यास प्रश्न
8.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी आवश्यकता, स्वरूपों एवं अभिकरणों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- सामाजिक नियन्त्रण की प्रकृति अथवा प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट कर पाएँगे;
- सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता स्पष्ट कर पाएँगे;
- सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख स्वरूपों अथवा प्रकारों को स्पष्टतया समझ पाएँगे; तथा
- सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्ट कर पाएँगे।

8.1 प्रस्तावना

समाज के स्थायित्व के लिए व्यक्तियों का उचित और ठीक रूप से कार्य करना आवश्यक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताएँ सर्वोपरि माने और अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे तो सामाजिक संरचना के भग्न होने की सम्भावना हो जाती है। इसे दूर करने के लिए सामाजिक नियम, रीति–रिवाज, प्रथाएँ, धर्म आदि व्यक्ति पर सामाजिक नियन्त्रण लगाते हैं। इन नियन्त्रणों द्वारा ही व्यक्ति में यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि वह क्या करे और क्या नहीं? वह किससे सम्पर्क रखे तथा किससे सम्बन्ध विच्छेद करे? अतः समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जो प्रक्रियाएँ, नियम आदि होते हैं वे सामाजिक नियन्त्रण कहलाते हैं। इन नियमों एवं उपनियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों के लिए समाज द्वारा दण्ड की व्यवस्था भी की जाती है। समाज व समूह के हर सदस्य का हित इसी में है कि वह सामाजिक नियमों को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के ऊपर रखे। ऐसा न करने पर समाज अव्यवस्थित हो जायेगा। अतः सामाजिक नियन्त्रण से अभिप्रायः उन मूल्यों और आदर्शों के समूह से है जिसके द्वारा समाज अपने सदस्यों के व्यवहार को निर्देशित एवं नियमित करता है।

8.2 सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामाजिक नियन्त्रण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत समाज के सदस्यों के उन व्यवहारों का परिसीमन किया जाता है जो सामाजिक नियमों से मेल नहीं खाते। यह मानव स्वभाव एवं समाज के नियमों में असम्भव साम्य के असफल प्रयासों का परिणाम है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा हम यह मानने लगते हैं कि सामाजिक नियम हमारे अपने नियम हैं। हम सामाजिक

आदर्शों को आत्मगत कर लेते हैं। फिर भी, समाज में कुछ सदस्य ऐसे रह जाते हैं जो समाज तथा अन्य सदस्यों के अस्तित्व को खतरा पैदा करते रहते हैं। इस प्रकार के मनमाने व्यवहार को हम समाज विरुद्ध व्यवहार या विचलित व्यवहार कहते हैं। समाज द्वारा किस प्रकार के व्यवहार पर रोक लगाने को सामाजिक नियन्त्रण कहा जाता है। अधिकांश सामाजिक नियन्त्रण इतना कम प्रदर्शन के साथ किया जाता है कि बहुत से लोग उस पर ध्यान ही नहीं देते हैं।

सामाजिक नियन्त्रण से अभिप्राय उस प्रक्रिया अथवा आदर्शों एवं नियमों के समूह से है जिसके माध्यम से समाज अपने सदस्यों के व्यवहार को निर्देशित एवं नियमित करता है। व्यक्ति को सामाजिक नियन्त्रण द्वारा ही समाज के अनुरूप बनाया जाता है। प्रमुख विद्वानों ने सामाजिक नियन्त्रण को निम्नलिखित प्रकार के परिभाषित किया है–

रौसेक (Roucek) के अनुसार–"सामाजिक नियन्त्रण एक सामूहिक अवधारणा है, जो उन नियोजित या अनियोजित प्रक्रियाओं के लिए प्रयोग की जाती है जिनके द्वारा व्यक्ति को समूह के जीवन–मूल्यों तथा कार्य–व्यवहारों से एकरूप होने की शिक्षा दी जाती है, समझाया जाता है या बाध्य किया जाता है।" **मैकाइवर** एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार–"सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ वह रूप है जिसमें समस्त सामाजिक व्यवस्था स्वयं संयोजित तथा सम्पोषित होती है और परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में वह एक समष्टि बनकर कार्यशील होती है।" **गिलिन** एवं **गिलिन** (Gillin and Gillin) के अनुसार–"सामाजिक नियन्त्रण तरीकों, सुझावों, अनुनय–विनय, प्रतिरोध, शक्ति आदि से जिस प्रकार से भी हो सके, जिसमें शारीरिक शक्ति का प्रयोग भी सम्मिलित है, की एक व्यवस्था है जिसके द्वारा एक समाज एक समूह को मान्यता प्राप्त व्यवहार–प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है।"

ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार–"व्यवस्था और स्थापित नियमों को बनाए रखने के लिए किसी भी समाज द्वारा डाले गए दबाव के प्रतिमानों को उस समाज की नियन्त्रण व्यवस्था कहते हैं।" **बॉटोमोर** (Bottomore) के अनुसार–"सामाजिक नियन्त्रण द्वारा व्यक्तियों और समूहों के बीच के तनावों एवं संघर्षों को दूर अथवा कम किया जाता है। इसका तात्पर्य ऐसे सम्बन्धों से भी है जिनके माध्यम से उन आदर्शों एवं मूल्यों का संचार किया जाता है जो कि समाज एवं समूह की सुदृढ़ता बनाए रखने में सहायक है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक नियन्त्रण व्यक्तियों को समाज द्वारा स्वीकृत सामूहिक आदर्शों एवं मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार करने के लिए बाध्य करने की एक प्रक्रिया है। सामाजिक नियन्त्रण द्वारा आपेक्षिक व्यवहार व वास्तविक रूप में किए गए व्यवहार के बीच अन्तर कम किया जाता है।

सामाजिक नियन्त्रण स्व–नियन्त्रण से भिन्न होता है। स्व–नियन्त्रण का अर्थ व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से अपने ऊपर नियन्त्रण लगाना है। सामाजिक नियन्त्रण स्वेच्छाचारी ही नहीं होता, अपितु इसमें बाध्यकारिता का तत्त्व भी पाया जाता है। स्व–नियन्त्रण की तुलना में सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है। स्व–नियन्त्रण आन्तरिक होता है, जबकि सामाजिक नियन्त्रण बाह्य होता है। स्व–नियन्त्रण वह स्वैच्छिक प्रयास है जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयं किसी आदर्श, लक्ष्य अथवा उद्देश्य के अनुकूल अपने व्यवहार को निर्देशित करता है। यह सदैव व्यक्ति की आन्तरिक अनुभूति एवं भावना का परिणाम होता है जिस पर दूसरो की सत्ता का कोई प्रभाव नहीं होता, परन्तु स्व–नियन्त्रण के नाम पर कोई भी समाज सामाजिक नियन्त्रण के अपने साधनों को अनदेखा नहीं कर सकता है।

8.3 सामाजिक नियन्त्रण की प्रकृति अथवा विशेषताएँ

सामाजिक नियन्त्रण के अर्थ की उपरोक्त व्याख्या इसकी प्रकृति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालती है। सामाजिक नियन्त्रण में निम्नलिखित प्रमुख लक्षण पाए जाते हैं जो इसकी प्रकृति के परिचायक हैं–

(1) सार्वभौमिक प्रक्रिया–सामाजिक नियन्त्रण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। वास्तव में, सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में सामाजिक जीवन के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। समूह में व्यवहार का नियमन आदिम समाजों से लेकर आधुनिक उन्नत समाजों तक सभी में पाया जाता है। यह बात दूसरी है कि उनमें नियन्त्रण के तरीकों या साधनों में भिन्नता पायी जाती है।

(2) सतत प्रक्रिया–सामाजिक नियन्त्रण एक सतत प्रक्रिया है। रौसेक ने लिखा है कि, "ज्यों ही व्यक्ति पर्यावरण में प्रवेश करता है त्यों ही वह जन्म से मृत्युपर्यन्त सामाजिक नियन्त्रण से भी घिर जाता है जिसके प्रति वह अजागरूक ही रहता है जब तक कि अन्तर्दृष्टि या असामान्य अनुभूति उसे नियन्त्रण की विद्यमानता का अहसास न करा दे।" समाज में प्रतिक्षण नियन्त्रण की प्रक्रिया घटित हो रही होती है। जब जनसाधारण सो रहा होता है तब भी समाज के सजग प्रहरी–पुलिस और सेना–पहरे द्वारा स्थिति पर और समाज की सुरक्षा पर नियन्त्रण कर रहे होते हैं।

(3) चेतन एवं अचेतन प्रक्रिया–जब तक व्यक्ति या समूह सामाजिक नियमों और कानूनों का उल्लंघन नहीं करता या उनसे टकराव में नहीं आता तब तक उसे सामाजिक नियन्त्रण के अस्तित्व का आभास नहीं होता। समाजीकरण एवं सैद्धान्तिकरण के द्वारा समाज व्यक्ति के मन में आदर्शों एवं मूल्यों को इस प्रकार से कूट–कूट कर भर देता है कि वे उसकी अन्तः चेतना के भाग बन जाते हैं। वह उन्हें अपने निज के आदर्श व मूल्य समझता है परन्तु ज्यों ही वह समाज के इन व्यवहार प्रतिमानों का उल्लंघन करता है तो उसे समाज की कठोर प्रतिक्रिया का भागी बनना पड़ता है। तब उसे चेतन रूप से पता चलता है कि वह सामाजिक शक्तियों के दबाव के सम्मुख कितना निर्बल है। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण चेतन और अचेतन दोनों ही रूपों में संचालित होता है।

(4) आत्म–नियन्त्रण से भिन्न–सामाजिक नियन्त्रण एवं आत्म–नियन्त्रण में भेद है। यद्यपि ये दोनों अवधारणाएँ एक–सी दिखाई देती हैं परन्तु इनमें पर्याप्त अन्तर है। प्रथम, सामाजिक नियन्त्रण बाह्य है और व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है, जबकि आत्म–नियन्त्रण का स्रोत स्वयं व्यक्ति का मन है और उसके द्वारा वह अपने निज के व्यवहार को निर्देशित करता है; द्वितीय सामाजिक नियन्त्रण में लक्ष्य सामाजिक हित है, जबकि आत्म–नियन्त्रण में लक्ष्य व्यक्ति का स्वयं का या अपने किसी प्रियजन का हित होता है; तृतीय, सामाजिक नियन्त्रण किसी नियम के उल्लंघन अथवा किसी निर्देशित दायित्व की पूर्ति न करने पर सक्रिय होता है, लेकिन आत्म–नियन्त्रण में यह भी सम्भव है कि व्यक्ति अपने वैध अधिकारों का भी त्याग कर रहा हो; अन्तिम रूप में, सामाजिक नियन्त्रण प्रमुखतः बाध्यकारी है और शक्ति के प्रयोग पर आधारित होता है, जबकि आत्म–नियन्त्रण अधिकांशतः व्यक्ति की स्वेच्छा पर आधारित है। इन दोनों के बीच अन्तर होते हुए भी हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन दोनों के बीच गहरा सम्बन्ध है। कुछ अर्थों में आत्म–नियन्त्रण की उत्पत्ति का स्रोत सामाजिक नियन्त्रण ही होता है।

(5) सामाजिक अभिमति से अभिन्न सम्बन्ध–सामाजिक नियन्त्रण का आधार व्यक्ति या समूह के व्यवहार के प्रति समाज की प्रतिक्रिया है। इसी को सामाजिक अभिमति कहते हैं। यह अभिमतियाँ सकारात्मक अथवा नकारात्मक दोनों प्रकार की हो सकती हैं। सकारात्मक

अभिमतियाँ प्रशंसा, पदोन्नति अथवा अन्य पुरस्कारों में अभिव्यक्त होती हैं। इनके द्वारा व्यक्ति को प्रेरित किया जाता है कि वह समाज के द्वारा प्रतिमानित व्यवहारों का ही अनुपालन करे। दूसरी ओर नकारात्मक अभिमतियाँ आलोचना, बदनामी, पद–अवनति तथा शारीरिक–आर्थिक दण्ड में अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रकार, बल प्रयोग के भय के द्वारा समाज नियन्त्रण बनाए रखता है।

(6) व्यक्ति का व्यक्ति के ऊपर नियन्त्रण–वास्तव में, सामाजिक नियन्त्रण तीन स्तरों पर घटित होता है। समूह के ऊपर का नियन्त्रण, समूह का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण एवं व्यक्तियों का अपने साथियों पर नियन्त्रण। समाज तो एक अमूर्त अवधारणा है। वह नियन्त्रण करने के लिए स्वयं मूर्त रूप धारण नहीं करता। वह तो निश्चित समूहों और व्यक्तियों को ही सत्ता प्रदान करता है कि वे समाज के नाम में और समाज की ओर से नियन्त्रण रखें। उदाहरणार्थ, जज, पुलिस अफसर, कॉलेज में प्रोक्टर या प्राचार्य, कक्षा में टीचर, परिवार में पिता या टीम में कप्तान समाज के प्रतिनिधि के रूप में ही नियन्त्रण रखते हैं। इस भाँति, देखा जाए तो सामाजिक नियन्त्रण वस्तुतः व्यक्ति का व्यक्ति के ऊपर नियन्त्रण है।

(7) अपूर्ण प्रक्रिया–किसी भी समाज में पूर्ण सामाजिक नियन्त्रण नहीं होता तथा किसी न किसी रूप में विपथगमन की घटनाएँ होती रहती हैं। वैसे भी, यदि पूर्ण सामाजिक नियन्त्रण होता तो वांछनीय सामाजिक परिवर्तन भी न हो पाते।

(8) गत्यात्मक प्रक्रिया–सामाजिक नियन्त्रण के लक्ष्य और साधन गत्यात्मक भी होते हैं। एक ही समाज के विभिन्न कालों में घटित होने वाले परिवर्तनों के साथ अनुकूलन हेतु सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूपों में भी परिवर्तन होते रहते हैं।

(9) जटिल प्रक्रिया–बॉटोमोर ने सत्य ही लिखा है कि, "सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। समाज के विभिन्न वर्गों व जातियों तथा नृजातीय–समूहों में सामाजिक आदर्शों की भिन्नता नियन्त्रण के स्वरूपों में भी भिन्नता पैदा कर देती है। अतः एक ही समाज में नियन्त्रण का अध्ययन एक जटिल प्रघटना अथवा प्रक्रिया का अध्ययन है।"

8.4 सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता या उद्देश्य

समाज के अस्तित्व के लिए सामाजिक दृढ़ता एवं सामाजिक एकता आवश्यक है। इसी के साथ, व्यवहार में समरूपता और समान भावनाएँ भी जरूरी हैं। इसकी पूर्ति सामाजिक नियन्त्रण द्वारा ही सम्भव है। सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(1) व्यक्ति के व्यवहार पर नियन्त्रण–सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य व्यक्ति के समाज–विरोधी व्यवहार को सन्तुलित करना है। सामाजिक नियन्त्रण का यह कार्य परिवार, सामाजिक दबाव, रीति–रिवाज, शिक्षा, कानून इत्यादि करते हैं।

(2) समाजीकरण–सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति के समाजीकरण में उपयोगी होता है। इसके द्वारा मनुष्य स्वयं को पशु जगत से श्रेष्ठ प्राणी बनाता है। पी0 एच0 लैण्डिस ने इस सन्दर्भ में कहा कि मनुष्य मात्र नियन्त्रण के कारण ही मानव है।

(3) परम्पराओं की निरन्तरता–किसी भी समूह या समाज का अस्तित्व उसकी परम्पराओं पर निर्भर करता है। अतः परम्पराओं एवं रीति–रिवाजों को समाज में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनको बनाए रखने के लिए समाज परिवार एवं अन्य माध्यमों से व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करता है।

(4) सामाजिक एकता–सामाजिक एकता बनाए रखने के लिए भी सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है। नियन्त्रण द्वारा ही व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत ढंग से कार्य करता है। इसी से समाज में सन्तुलन स्थापित होता है।

(5) सामाजिक संगठन में स्थिरता–सामाजिक नियन्त्रण समाज के सदस्यों को सामाजिक आदर्श स्वीकार करने को प्रेरित करता है। यह उन्हें व्यवहार के मापदण्डों के अनुसार कार्य करने, प्रथाओं और अच्छे आचरणों का पालन करने के लिए भी बाध्य करता है। इससे सामाजिक संगठन में स्थिरता बनी रहती है।

(6) सामाजिक संघर्ष को नियन्त्रित करना–प्रत्येक समाज में व्यक्ति का एक निश्चित स्थान होता है। इसके अनुसार कार्य करते रहने पर उसमें सहयोगात्मक प्रवृत्ति का विकास होता है। इससे संघर्ष की सम्भावना कम हो जाती है। सामाजिक नियन्त्रण व्यक्तिगत जीवन की अनिश्चिताएँ कम करता है। इससे परिवर्तन भी कम होते हैं और समाज का स्वरूप भी बना रहता है।

(7) विचारों का कार्यों से सन्तुलन रखना–सामाजिक नियन्त्रण विभिन्न विचारों और कार्यों वाले समूहों में सन्तुलन बनाए रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। मत वैभिन्य समाज में अव्यवस्था और असन्तुलन उत्पन्न करता है। टालकट पारसन्स ने सही कहा है कि सामाजिक नियन्त्रण विपथगामी प्रवृत्तियों की कली को पुष्प बनने से पूर्व ही कुचल देता है।

इस प्रकार, सामाजिक नियन्त्रण के उद्देश्यों की समीक्षा द्वारा ज्ञात होता है कि जहाँ व्यक्ति का समाजीकरण होना आवश्यक है वहीं सामाजिक नियन्त्रण भी उसे बनाए रखने के लिए अनिवार्य है।

8.5 सामाजिक नियन्त्रण के कार्य एवं महत्त्व

सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक जीवन में व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसका महत्त्व अथवा कार्य निम्नांकित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख कार्य समाज में सुव्यवस्था द्वारा शान्ति और सुख की स्थापना करना है।

(2) समुदाय के स्वीकृत प्रतिमान व्यक्तियों के समक्ष प्रस्तुत करना भी सामाजिक नियन्त्रण का कार्य है। प्रथम तो इन्हें समझाना और अगर व्यक्ति न मानें तो बलात् इन्हें स्वीकार कराना ही सामाजिक नियन्त्रण है।

(3) समाज के समक्ष सर्वतोन्मुखी उन्नति के लिए संगठित और व्यवस्थित परिस्थिति उत्पन्न करना भी सामाजिक नियन्त्रण का ही कार्य है।

(4) सामाजिक नियन्त्रण समाज के विभिन्न विरोधी समूहों को विकास के उद्देश्य से परस्पर मिलाता है। यह उन्हें निश्चित प्रस्थिति प्रदान करता है तथा उस पर नियन्त्रण रखता है।

(5) सामाजिक नियन्त्रण सभी सदस्यों को अधिकतम और समान सुरक्षा प्रदान करता है।

(6) सामाजिक नियन्त्रण समाज में व्यक्तियों की प्रस्थिति निश्चित करता है।

(7) सामाजिक नियन्त्रण समूह के उद्देश्य प्राप्ति में साहयक होता है।

(8) किम्बल यंग के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य कार्य किसी समूह विशेष में एकता और गतिशीलता लाना है।

8.6 सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप अथवा प्रकार

सामाजिक नियन्त्रण को अधिकांश विद्वानों ने विभिन्न आधार पर दो भागों में विभाजित किया है। सामाजिक नियन्त्रण के कुछ प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं–

(अ) औपचारिक और अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण–औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण वह नियन्त्रण है जिसकी स्पष्ट परिभाषा रहती है। यह निश्चित लिखित कानूनों द्वारा परिभाषित होता है। इसे व्यक्ति को मानना ही पड़ता है। यदि व्यक्ति परिभाषित व्यवहार करता है तो समाज व्यवस्थित रहता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे विचारपूर्वक बनाई गई विधियों, कानून संहिताओं, राज्य, सरकार आदि द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। ये सभी नियन्त्रण के द्वितीयक एवं औपचारिक साधन हैं। इसलिए इस प्रकार के नियन्त्रण को द्वितीयक नियन्त्रण भी कहते हैं। यह नियन्त्रण चेतन रूप से किया जाता है। अतः इसे लोग सचेत या जागरूक नियन्त्रण भी कहते हैं। इस प्रकार का नियन्त्रण आधुनिक समाजों (अर्थात् वैयक्तिक शहरी समाजों) में देखने को मिलता है। इसका विरोध करने पर दण्ड दिया जाता है। राज्य, कानून, शिक्षा इत्यादि नियन्त्रण के प्रमुख औपचारिक साधन हैं। आधुनिक समाज में औपचारिक साधनों के महत्त्व में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

अनौपचारिक नियन्त्रण वह नियन्त्रण है जिसमें चेतन विधियों द्वारा नियन्त्रण नहीं किया जाता है। यह स्वतः अचेतन रूप में होता रहता है। इस प्रकार के नियन्त्रण का विकास समूह अपने कल्याण के लिए करता है। यद्यपि इसका विरोध करने पर राज्य द्वारा कोई दण्ड नहीं दिया जाता है, फिर भी इसमें परिवार व जाति निष्कासन, समूह को भोज देना, धर्म, रूढ़ि तथा परम्परा आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए इसे प्राथमिक नियन्त्रण भी कहते हैं। जितने महत्त्वपूर्ण रूप से हम पर प्राथमिक साधन नियन्त्रण करते हैं उतने प्रभावशाली ढंग से द्वितीयक साधनों का नियन्त्रण नहीं होता। वस्तुतः प्राथमिक नियन्त्रण प्रतीकात्मक नियन्त्रण होता है। यह नियन्त्रण करने का मनोवैज्ञानिक तरीका है। इसमें व्यक्ति को सुझाव इत्यादि दिए जाते हैं। इसलिए नियन्त्रण की यह विधि सर्वाधिक शक्तिशाली है। मानव प्रतीकात्मक स्तर पर विश्वास करता है। अतः उसका व्यवहार नियन्त्रित करने के लिए सामाजिक–मनोवैज्ञानिक विधियों का प्रयोग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रथाएँ, जनरीतियाँ, लोकाचार, धर्म, परिवार, सामाजिक मानदण्ड, नैतिकता इत्यादि सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं।

औरपचारिक एवं अनौपचारिक नियन्त्रण में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर पाए जाते हैं–

(1) औपचारिक नियन्त्रण अत्यधिक स्पष्ट एवं संहिताबद्ध होता है, जबकि अनौपचारिक नियन्त्रण अलिखित एवं अस्पष्ट होता है।

(2) औपचारिक नियन्त्रण सचेत रूप से लागू होता है, जबकि अनौपचारिक नियन्त्रण अचेत रूप से लागू होता है।

(3) औपचारिक नियनत्रण संगठित एवं कठोर होता है, जबकि अनौपचारिक नियन्त्रण असंगठित एवं नरम होता है।

(4) औपचारिक नियन्त्रण तथा इसके अभिकरणों का विकास सचेत रूप में किया जाता है, जबकि अनौचारिक नियन्त्रण तथा इसके अभिकरणों का विकास स्वतः एवं धीरे–धीरे होता है।

(5) औपचारिक नियन्त्रण में न रहने पर बल प्रयोग किया जाता है या दण्ड दिया जाता है, जबकि अनौपचारिक नियन्त्रण में दण्ड इत्यादि का किसी प्रकार का प्रावधान नहीं होता है।

(6) औपचारिक नियनत्रण मुख्यतः आधुनिक समाजों की प्रमुख विशेषता है, जबकि अनौपचारिक नियन्त्रण परम्परागत एवं प्राचीन समाजों में ही पाया जाता है।

(7) औपचारिक नियन्त्रण में आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलने की क्षमता होती है, जबकि अनौपचारिक नियन्त्रण को बदलना सरल कार्य नहीं है।

(8) औपचारिक नियन्त्रण से सम्बन्धित नियम राज्य या इसके द्वारा अधिकृत किसी प्रशासनिक संगठन द्वारा बनाए जाते हैं, जबकि अनौपचारिक नियन्त्रण सम्बन्धी सभी नियम एवं व्यवहार संहिताएँ समाज द्वारा निर्मित होती है।

(ब) सचेत (चेतन) और अचेत (अचेतन) सामाजिक नियन्त्रण–सचेत सामाजिक नियन्त्रण को समाज व्यक्ति पर जानबूझकर लगाता है यथा, कानून, प्रचार, शिक्षा इत्यादि। यह ऐसी परिस्थितियों से सम्बन्धित है जिनके प्रति व्यक्ति जागरूक होते हैं। वे हमेशा इनका ध्यान रखते हैं तथा सूझ–बूझ कर कार्य करते हैं। अचेतन नियन्त्रण सामाजिक अन्तर्क्रिया के मध्य स्वयं में ही विकसित होता है जैसे–धर्म, रूढ़ियाँ, लोकरीतियाँ इत्यादि द्वारा लगाया गया सामाजिक नियन्त्रण। इस प्रकार के नियन्त्रण में व्यक्ति इस बात के प्रति जागरूक नहीं होते कि किसी के द्वारा उन पर नियन्त्रण लगाया जा रहा है। चार्ल्स कूले ने इन दोनों प्रकार के नियन्त्रणों में भेद किया है।

(स) सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण–किम्बल यंग ने सामाजिक नियन्त्रण को सकारात्मक और नकारात्मक प्रकार का बताया है। सकारात्मक नियन्त्रण के अन्तर्गत सामाजिक और व्यक्तिगत पुरस्कार, प्रशंसा, उत्साहवर्धन के ढंग आदि आते हैं। इनके द्वारा आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया जाता है तथा इसके लिए व्यक्तियों को पुरस्कृत किया जाता है। पुरस्कार कोई वस्तु ही नहीं होती अपितु माँ द्वारा बच्चे को वांछित व्यवहार करने पर चुम्बन करना भी एक प्रकार से पुरस्कार ही है। इसके विपरीत राज्य, परिवार, जाति, समूह आदि किसी के भी सामाजिक दबाव द्वारा व्यक्ति के अनुचित कार्य करने पर जो दण्ड या उपेक्षा का व्यवहार किया जाता है वह नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण होता है। इस प्रकार के नियन्त्रण में व्यक्ति को भयभीत करके सामाजिक नियमों का पालन करने पर बाध्य किया जाता है।

(द) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियन्त्रण–कार्ल मैनहिम ने सामाजिक नियन्त्रण को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष में विभाजित किया है। प्राचीन समाजों, प्राथमिक समूहों तथा जनजातीय समाजों में प्रत्यक्ष सामाजिक नियन्त्रण पाया जाता है। यह नियन्त्रण समीप रहने वाले व्यक्तियों अथवा समूहों (जैसे परिवार, क्रीड़ा समूह, मित्र–मण्डली, अध्यापक, स्कूल, पड़ोस इत्यादि) द्वारा लगाया जाता है। इसके विपरीत, अप्रत्यक्ष नियन्त्रण द्वितीयक समूहों द्वारा लगाया गया नियन्त्रण है। इसमें नियन्त्रण का स्रोत व्यक्ति से काफी दूर होता है। विभिन्न संस्थाओं और समूहों द्वारा लगाया गया नियन्त्रण अप्रत्यक्ष नियन्त्रण ही है।

(य) संगठित, असंगठित और सहज नियन्त्रण–गुरविच तथा मूर ने सामाजिक नियन्त्रण को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है–संगठित, असंगठित और सहज नियन्त्रण। संगठित नियन्त्रण नियमबद्ध एवं सुपरिभाषित होता है। यह छोटी–बड़ी एजेन्सियों एवं व्यापक नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को परिभाषित करता है। विवाह, परिवार, स्कूल या दफ्तर इत्यादि द्वारा लगाया गया नियन्त्रण संगठित नियन्त्रण ही है। असंगठित नियन्त्रण के अन्तर्गत संस्कार, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ और सामाजिक मानदण्ड इत्यादि और सांस्कृतिक नियम आते हैं। सहज सामाजिक नियन्त्रण का आधार व्यक्ति का अनुभव एवं आवश्यकताएँ हैं जो व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा देती हैं।

(र) सामूहिक एवं संस्थागत नियन्त्रण–जे० एच० फिक्टर ने सामाजिक नियन्त्रण को दो श्रेणियों में विभाजित किया है–सामूहिक एवं संस्थागत नियन्त्रण। सामूहिक नियन्त्रण उस नियन्त्रण को कहा जाता है जो प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों द्वारा रखा जाता है। द्वितीयक समूहों की तुलना में प्राथमिक समूहों द्वारा रखा जाने वाला नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली होता

है। संस्थागत नियन्त्रण संस्थाओं (जैसे धार्मिक विश्वास, प्रथाएँ, आदर्श इत्यादि) द्वारा रखा जाता है।

(ल) निरंकुश एवं लोकतान्त्रिक नियन्त्रण–आर० टी० लेपियर ने अपनी पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ सोशल कण्ट्रोल' में सामाजिक नियन्त्रण को निरंकुश एवं लोकतान्त्रिक नियन्त्रण में विभाजित किया है। निरंकुश नियन्त्रण में दमनकारी शक्तियाँ (दण्ड, धमकी, प्रतिशोध, प्रवंचना, दमन, सेंसर इत्यादि) का अधिक प्रयोग होता है, जबकि लोकतान्त्रिक नियन्त्रण में ऐच्छिक आज्ञाकारिता, अनुनय–विनय तथा सामाजिक प्रोत्साहन पर बल दिया जाता है। लोकतान्त्रिक नियन्त्रण का प्रमुख स्रोत वैधानिक शक्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक नियन्त्रण के अनेक स्वरूप अथवा प्रकार हैं। वास्तव में, इन सभी से हमारे व्यवहार पर चेतन एवं अचेतन दोनों रूपों में नियन्त्रण रखा जाता है।

8.7 सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण अथवा साधन

सभी समाजों या समुदायों में नियन्त्रण के एक जैसे साधन प्रयुक्त नहीं किए जाते हैं। प्रत्येक सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश के नियम एवं नियन्त्रण अलग–अलग होते हैं। जोसेफ रौसेक का कथन है कि जमानत, प्रथा, अपवाद का भय, सामूहिक अनादर तथा नैतिक अभिमति आदि नियन्त्रण के साधन ग्रामीण समुदायों में बहुत अधिक प्रभावशाली हैं। परन्तु बहुत जटिल, अवैयक्तिक नगरीय जीवन में ये कोई प्रभाव नहीं रखते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख अनौपचारिक एवं औपचारिक साधन निम्नलिखित हैं–

(1) विश्वास–विचार एवं विश्वास व्यवहार को नियन्त्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। एक बार हमारा विश्वास किसी बात में हो जाए, तो हम उस व्यवहार को स्वयं करने लग जाएँगे। हमारा विश्वास हमें कहता रहेगा कि यह काम अनुचित है तथा यह काम उचित है। आपको अपने ऊपर विश्वास है तो आप बहुत से असम्भव लगने वाले अद्‌भुत कार्य भी कर दिखाएँगे। यदि आपको अपने ऊपर विश्वास नहीं है तो आप किसी भी कार्य को नहीं कर सकते। विश्वास से ही मनुष्य में साहस उत्पन्न होता है। अपनी शक्ति में जितना विश्वास होता है उतना ही अधिक साहस उस व्यक्ति में होता है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य की जिस इच्छा शक्ति की बात की है वह आत्मविश्वास ही है।

(2) सुझाव एवं अनुनय–विनय–समाज विरोधी व्यवहार को ठीक करने में बल प्रयोग नहीं वरन् सुझाव और अनुनय–विनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बल प्रयोग तो नियन्त्रण का अन्तिम साधन है। सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को समाज सामाजिक नियमों के लाभ बताता है। समाज में सामाजिक नियमों का बड़ा महत्त्व है और बिना पालन किए न समाज का ही अस्तित्व है और न व्यक्ति का ही। अतः उनका पालन प्रत्येक परिस्थिति में किया जाना चाहिए। समाज किसी भी क्षण उनका उल्लघंन किये जाने को सहन नहीं कर सकता। समाज विरोधी व्यवहार वाले व्यक्ति को समाज सुझाव देता है और उसके सम्मुख कुछ आदर्श रखता है। सुझावों के पीछे तर्क भी रहता है। सुझाव किसी आदर्श का पालन कराने हेतु अथवा किसी सामाजिक निषेध को मनवाने हेतु व्यक्ति को मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार करने की विधि है। इससे किसी व्यक्ति के व्यवहार को मान्यताओं के अनुरूप बनाने के लिए उत्तेजित किया जाता है। सुझाव एवं अनुनय–विनय भी सामाजिक नियन्त्रण का अनौपचारिक साधन हैं।

(3) रूढ़ियाँ अथवा लोकाचार–हमारे समाज में मानव व्यवहार पर अनौपचारिक नियन्त्रण रखने में रूढ़ियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। रूढ़ियों एवं आदर्शों द्वारा नियन्त्रण हो भी जाता है और हम यह अनुभव भी नहीं करते कि हमारे व्यवहार को नियन्त्रित किया जा रहा है। रूढ़ियाँ व्यवहार

की वे मान्यताएँ होती हैं जो कि समाज में पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। इनके साथ कई पीढ़ियों का अनुभव जुड़ा होता है। समूह में इनके अनुरूप व्यवहार को सदैव उचित एवं सही समझा जाता है। इनके पीछे पूरे समाज की अभिमति होती है तथा इनसे व्यवहार नियमित होता है। रूढ़ियाँ समूह के कल्याण के लिए आवश्यक समझी जाती हैं। यही कारण है कि सहसा रूढ़ियों का उल्लंघन नहीं किया जाता। यदि कोई ऐसा दुस्साहस करता है तो समूह विशेष अपनी व्यवस्था के अनुसार उसे कठोरतम दण्ड देता है। अतः नियन्त्रण के साधनों में रूढ़ियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। रूढ़ियाँ दो प्रकार की होती हैं–सकारात्मक तथा निषेधात्मक। कुछ व्यवहार समाज में ऐसे होते हैं जिनका पालन करना हमारे लिए आवश्यक होता है। इन्हें हम अपने आदर्श कहते हैं। मानव समाज के ये आवश्यक कार्य नैतिकता के दृष्टिकोण से नैतिक आचार कहे जा सकते हैं। कुछ व्यवहार ऐसे होते हैं जो हमें नहीं करने होते। इन्हें हम सामाजिक निषेध कहते हैं। दोनों ही प्रकार की रूढ़ियाँ हमारे व्यवहार को नियन्त्रित करने में महत्त्वपूर्ण हैं।

(4) जनरीतियाँ, परम्पराएँ तथा प्रथाएँ–मानव स्वभाव को नियन्त्रित करके समाज के अनुरूप ढालने में जनरीतियों (लोकरीतियों), प्रथाओं एवं परम्पराओं का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। व्यवहार को समाज द्वारा मान्य और उपयोगी समझे जाने वाले तथा समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा अपनाए गए व्यवहार के प्रतिमान जनरीतियाँ कहलाती हैं। ये अनुकरण द्वारा ज्यामितीय रूप से प्रसारित होकर पूरे समाज द्वारा अपना लिए जाते हैं। जनरीति वह व्यवहार है जो सम्पूर्ण समूह का होता है। इसमें नियन्त्रण की शक्ति पाई जाती है क्योंकि पूरा समूह इसकी उपयोगिता जानता है। यह व्यवहार अपने साथ समय का इतिहास रखता है। यह समझ लिया जाता है कि हमारे पूर्वज इसी प्रकार का व्यवहार करते आए हैं। अतः इस व्यवहार का उल्लंघन अनुचित है। जब जनीरीतियाँ कई पीढ़ी हस्तान्तरित हो जाती हैं तो वे परम्पराएँ बन जाती हैं। परम्परा सामूहिक व्यवहार का और अधिक व्यक्तियों द्वारा समर्थन लाती हैं। साथ ही, परम्परा जनरीति से अधिक उपयोगी होती है। परम्परा जब कई पीढ़ी हस्तान्तरित हो जाती है तो एक अंश और आगे बढ़कर प्रथा का रूप धारण कर लेती है। प्रथा और भी अधिक अभिमति अपने साथ रखती है। प्रथा की उपयोगिता भी समूह अधिक समझने लगता है। व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित एवं निर्धारित करने में जनरीतियों, परम्पराओं एवं प्रथाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये भी सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं।

(5) जनमत–जनमत जनता का ही मत होता है। इसके माध्यम से जनता की सामान्य इच्छा प्रकट होती है। बड़े समुदायों की अपेक्षा गाँव जैसे छोटे समुदायों में जनमत का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। वहाँ पर परिवेश छोटा होता है और सभी व्यक्ति परस्पर परिचित होते हैं। वहाँ पर प्रशंसा अथवा निन्दा और उपेक्षा तथा स्वनिर्धारित दण्डों के द्वारा भी समाज–विरोधी तत्त्वों पर नियन्त्रण किया जाता है। 'सम्मानपूर्वक रहने की इच्छा' से व्यक्ति स्वयं ही नियन्त्रित व्यवहार करना पसन्द करता है। 'पंच परमेश्वर' की भावना जनमत का उत्कृष्ट रूप है। आकार छोटा होने के कारण लघु समुदायों में व्यक्ति जनमत की अवहेलना करने की हिम्मत ही नहीं करता। जनमत सामाजिक नियन्त्रण का यद्यपि अनौपचारिक साधन है फिर भी अगर इसका निर्माण सरकारी माध्यमों (जैसे रेडियो, टेलीविज़न आदि) द्वारा किसी विशेष व्यक्ति या दल के हितों की पूर्ति या राष्ट्रीय कल्याण के लिए सुनियोजित रूप से किया जाता है तो इसमें औपचारिकता का अंश आ जाता है।

(6) प्रचार–आजकल प्रचार सामाजिक नियन्त्रण का सशक्त साधन है। समाचारपत्र, रेडियो, प्रेस, सिनेमा, नेता इत्यादि प्रचार के प्रमुख माध्यम हैं। ये सुझावों द्वारा आर्थिक तथा विभिन्न जटिल समस्याओं के समाधान हेतु प्रचार के विभिन्न साधनों द्वारा समाज के सदस्यों को

जाग्रत करते हैं। इनसे विचारों को एक नवीन दिशा प्रदान होती है। विधवा विवाह, बाल विवाह, दहेज प्रथा तथा बेकारी जैसी समस्याएँ जनमानस को उद्वेलित कर रही हैं और ये साधन इनके समाधान में लगे हैं। समाज के विभिन्न पक्षों में क्रमशः परिवर्तन आ रहा है। प्रचार व्यक्तियों के विचारों एवं भावनाओं में परिवर्तन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसका व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित एवं नियमित करने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह परिस्थिति के अनुसार औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों प्रकार का हो सकता है।

(7) शिक्षा–शिक्षा संस्थाएँ भी विद्यार्थियों को अनुशासन और उचित उत्तरदायित्वों से परिचित कराती हैं। वास्तव में, शिक्षा इतनी सक्षम है कि सामाजिक जीवन को नियन्त्रित और संगठित करने में इसका विशेष योगदान रहता है। शिक्षा संस्था बच्चे के लिए परिवार के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था है। यह व्यक्ति को सत्य–असत्य एवं उचित–अनुचित का ज्ञान कराती है। यही उच्चतर सद्गुणों का विकास कर उसे नम्र बनाती है। गांधी जी ने कहा था कि शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक या मनुष्य में जो कुछ भी श्रेष्ठतम है, उसका सम्पूर्ण विकास अर्थात् शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों का सम्पूर्ण विकास करना है। शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण का औपचारिक साधन है।

(8) हास–परिहास–शाब्दिक दृष्टि से परिहास का अर्थ 'मनोविनोद' या रसिकता है। कुछ विचारक परिहास का अर्थ दूसरे व्यक्तियों से हँसी–मजाक से लेते हैं। कुछ व्यक्ति इसे खिल्ली उड़ाना भी कहते हैं। वास्तव में, परिहास मनोरंजन का वह रूप है जिससे आत्म–सन्तुष्टि होती है। परिहास मानव के कठोर जीवन में नवीन उत्साह व प्रेरणाओं का संचार कर मानव को प्रभावित करता है। सामाजिक जीवन में परिहास का विशेष स्थान है। इसमें मसखरी, तानेबाजी, लोक परिहास, नकल उतारना इत्यादि सभी आते हैं। हँसी अथवा परिहास एक प्रकार से किसी व्यक्ति का समूह द्वारा तिरस्कार है। कोई भी व्यक्ति वह नहीं चाहता कि समूह के अन्य लोग उसका उपहास करें। यही कारण है कि वह हमेशा उन्हीं कार्यों को करना चाहता है जो समाज द्वारा अभिमति प्राप्त होते हैं। इससे हम मनमाना व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र नहीं रहते।

(9) परिवार–परिवार प्रत्येक समाज में सामाजिक नियन्त्रण की एक मौलिक इकाई है। परिवार कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों को करता है जो कि व्यक्ति के व्यवहार को अनायास ही नियमित कर देते हैं। यह सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रमुख प्राथमिक एवं अनौपचारिक साधन है। इसकी सामाजिक नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा बच्चों को परिवार समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवहार सिखाकर सामाजिक नियन्त्रण में सहायता देता है। परिवार सदस्यों की प्रस्थिति एवं कार्यों को परिभाषित करता है। यह 'स्व' को विकसित करने में सहायता देता है। यह समाजीकरण को क्रियान्वित करता है। मनुष्यों की अनेक सामाजिक–मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी परिवार ही करता है। यह सामाजिक सीख एवं अनुशासन तथा परम्पराओं एवं रूढ़ियों के अनुकरण के द्वारा सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है। पारिवारिक उत्सवों एवं त्योहारों के सम्पादन द्वारा तथा सामाजिक गुणों का विकास करके भी परिवार सदस्यों के व्यवहार को सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप बनाने एवं नियन्त्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभता है।

(10) धर्म–धर्म सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण अनौपचारिक साधन है। यह मानव जीवन को काफी सीमा तक निर्देशित एवं नियन्त्रित करता है। धर्म मानव अनुभवों को संस्थागत रूप प्रदान करता है। यह रहस्यात्मक अज्ञानता द्वारा आलौकिक शक्ति की सर्वशक्तिसम्पन्नता एवं सर्वव्यापकता में विश्वास पैदा करता है। यह व्यवस्थित प्रशिक्षण तथा शिक्षा एवं उपदेशों

द्वारा मनुष्य की शक्तिहीनता का परिचय देता है। समाज एवं अलौकिक शक्ति के रुष्ट होने का भय दिखाकर, रूढ़ियों के प्रति सम्मान की भावना पैदा करके, मानव भ्रातृत्व एवं सहिष्णुता का पाठ पढ़ाकर भी धर्म सामाजिक नियन्त्रण रखने एवं व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(11) जाति–जाति सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण अनौपचारिक अभिकरण अथवा साधन है। भारतीय समाज में जातिगत व्यवहार, प्रतिमान संस्कार एवं प्रथाएँ सामाजिक नियन्त्रण रखने में सहायता प्रदान करते हैं। जाति से सम्बन्धित धार्मिक विश्वास भी व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। पुरोहित वर्ग जाति के सदस्यों पर अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण रखता रहा है क्योंकि वही जातिगत मान्यताओं को तोड़ने वालों के लिए दण्ड एवं प्रायश्चित की व्यवस्था करता था। जाति के नियन्त्रण को सुदृढ़ करने में जाति पंचायतों तथा जाति संघों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

(12) राज्य एवं कानून–राज्य एवं कानून सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण औपचारिक साधन हैं। इन्हें व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित करने के लिए शक्ति प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। राज्य अपनी सत्ता को सर्वोपरि बताकर, दबाव एवं कानून को राष्ट्रव्यापी बनाकर, अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की व्याख्या करके व्यक्तियों पर नियन्त्रण रखता है। यही पारिवारिक कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। दण्ड व्यवस्था एवं संहिता निर्माण तथा उसमें संशोधन करके राज्य व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित एवं नियन्त्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कानून सामाजिक नियन्त्रण का सबसे अधिक प्रभावशाली साधन है। यह हमारी इच्छा अथवा अनिच्छा पर निर्भर नहीं करता। कानून आधुनिक समाजों में व्यक्तियों के व्यवहार को संगठित करने एवं उनका मार्गदर्शन करने में महत्त्वपूर्ण है।

(13) नेतृत्व–नेतृत्व भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसे एक शक्ति योजना के रूप में देखा जा सकता है जो एक व्यक्ति के द्वारा दूसरों के विचारों एवं मनोधारणाओं को नियन्त्रित करने का काम करती है। नेतृत्व सुझावों द्वारा तथा समूह के सदस्यों में स्वतन्त्र अन्तर्क्रिया विकसित करके सामाजिक नियन्त्रण में योगदान देता है। यह अनुकरण के द्वारा, उचित सलाह देकर तथा सरकार की आलोचना करके विविध प्रकार से नियन्त्रण रखने में सहायता प्रदान करता है। यह परिस्थितियों के अनुसार औपचारिक एवं अनौपचारिक हो सकता है।

(14) जन संचार के माध्यम–जन संचार के माध्यम (जैसे प्रिण्ट मिडिया अर्थात् अखबार, पत्रिकाएँ आदि, रेडियो, चलचित्र एवं टेलीविज़न) भी आधुनिक समाजों में सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण अभिकरण माने जाते हैं। ये माध्यम ज्ञान व शिक्षा का प्रसार कर जनमत का निर्माण करते हैं। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं कुरीतियों के प्रति यही माध्यम जनमानस को जागरूक बनाते हैं। जल प्रयोजन की अद्‌भुत क्षमता के कारण ये माध्यम प्रभावशाली अभिकरण माने जाते हैं। अधिकांशतः इन पर सरकार का नियन्त्रण होता है और इसीलिए इन्हें औपचारिक अभिकरण कहा जाता है।

विश्वास, धर्म, सामाजिक आदर्श, सामाजिक सुझाव, सामाजिक उत्सव, कला, नेतृत्व, जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, नैतिक आदर्श, परिवार इत्यादि सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख अनौपचारिक अभिकरण माने जाते हैं। शिक्षा, प्रचार, कानून तथा राज्य सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख औपचारिक अभिकरण हैं।

8.8 सामाजिक नियन्त्रण के सिद्धान्त

समाजशास्त्र में सामाजिक नियन्त्रण के विषय में जितना अधिक अध्ययन किया गया है उतना ही किसी अन्य विषय पर किया गया होगा। यदि समाज में समाजीकरण जैविक प्राणी को सामाजिक बनाने के कारण आवश्यक है, तो सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्व भी कम नहीं है। सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण का बहुत महत्त्व है। अवांछनीय सामाजिक परिवर्तन तथा व्यक्तियों के अवांछनीय व्यवहार पर अंकुश लगाने और उसमें उचित व्यवहार को प्रेरित करने के लिए सामाजिक नियन्त्रण प्रत्येक समाज में आवश्यक है। कुछ विद्वानों ने सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए यह मत प्रस्तुत किया है कि नियन्त्रण में यान्त्रिकता क्या काम करती है और वह शक्ति कौन–सी है जो सामाजिक नियन्त्रण को पैदा करती है और उसका पलायन करती है। इन लोगों के द्वारा प्रकट किए गए विचारों को हम सामाजिक नियन्त्रण के सिद्धान्त कहते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के कुछ कतिपय प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

(1) ई0 ए0 रॉस का सिद्धान्त– एडवर्ड ए0 रॉस ने 1901 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'सोशल कण्ट्रोल' में सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न पक्षों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। रॉस अधिक नियन्त्रण के पक्ष में नहीं थे। उनके अनुसार व्यक्ति का व्यवहार कम–से–कम नियन्त्रित तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक आधार पर न किया गया नियन्त्रण प्रभावहीन होता है। नियन्त्रण की व्यवस्था कैसी हो, उसके आधार क्या हों तथा उनके साधन कौन–कौन से हों इत्यादि विषयों पर रॉस ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके अनुसार नियन्त्रण न्याय की भावना, सामाजिकता की भावना, विरोध तथा सहानुभूति पर आधारित होना चाहिए अर्थात् जिस व्यक्ति के व्यवहार को हम नियन्त्रित कर रहे हों उससे हमें सहानुभूति होनी चाहिए किन्तु उसके कुकृत्यों पर हमारा क्रोध करना स्वाभाविक है। नियन्त्रण का उद्देश्य व्यक्ति को सताना नहीं है बल्कि उसके साथ न्याय करना है तथा उसमें सामाजिकता भरना है। सामाजिक नियन्त्रण के साधनों पर प्रकाश डालते हुए उसने कानून, प्रथा, विश्वास, धर्म, अनुनय–विनय, कला तथा उत्सव आदि सभी को महत्त्वपूर्ण माना है किन्तु उनके अनुसार सामाजिक नियन्त्रण के प्राथमिक साधन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता पर बल देते हुए रॉस ने समाज को दो भागों में विभाजित किया है–**प्रथम**, प्राकृतिक समाज तथा **द्वितीय**, वर्गों पर आधारित समाज। प्राकृतिक समाज वह समाज है जिसमें किसी बाह्य हस्तक्षेप के लिए कोई स्थान नहीं होता। यहाँ सब काम पहले से ही ठीक चलता रहता है और नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं होती। लोग एक–दूसरे को प्रत्यक्षतः जानते हैं और समूहों का आकार भी छोटा होता है। उदाहरणार्थ, जनजातीय समाज। वर्गों पर आधारित समाज अनेक छोटे–बड़े वर्गों में विभाजित होता है। यह समाज विभिन्नीकृत, स्तरीकृत तथा विशेषीकृत समाज होता है। उदाहरण के लिए, हमारा आज का जटिल नगरीय समाज। रॉस ने इन दोनों समाजों को एक–दूसरे के बिलकुल विपरीत माना है। पहले समाज की तुलना में दूसरे में सामाजिक नियन्त्रण की अधिक आवश्यकता होती है। रॉस आज के जटिल शहरी समाज को संस्थाकृत समाज कहते हैं। आज के औद्योगीकृत नगरीय समाज के लिए 'संस्थाकृत समाज' शब्द का प्रयोग रॉस का व्यक्तिगत प्रयोग है। इस समाज में नियन्त्रण की गहन आवश्यकता अनुभव की जाती है क्योंकि सदस्यों की संख्या अधिक होती है और व्यक्तिवादिता के साथ–ही–साथ अव्यक्तिकरण बहुत पाया जाता है। अतः बिना नियन्त्रण के कार्य नहीं चल सकता। इन समाजों में क्योंकि शक्तिशाली वर्ग का ही राज्य होता है इसलिए वही सब–कुछ होता है तथा राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक रूप से शक्तिशाली एवं प्रभुत्वपूर्ण होता है और वही अन्य सब वर्गों पर नियन्त्रण करता है।

(2) टालकट पारसन्स का सिद्धान्त–टालकट पारसन्स का सामाजिक नियन्त्रण का सिद्धान्त उनके सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त का ही एक भाग है। उन्होंने सामाजिक नियन्त्रण को 'विपथगामी प्रवृत्तियों को फूल बनने से पहले ही कुचल देना' कहा है। उनका मत है कि नियन्त्रण की आवश्यकता उन व्यक्तियों के व्यवहार के कारण अनुभव की जाती है जो समाज के नियमों को नहीं मानते। वे नियमोल्लंघनकर्ता ही नियन्त्रण का कारण हैं। पारसन्स का कहना है कि सर्वोत्तम नियन्त्रण करने वाले माध्यम हैं हमारी संस्थाएँ। किसी व्यक्ति के जिस कार्य या व्यवहार को आप नियन्त्रित करना चाहें उसे संस्थाकृत कर दीजिए, वह स्वतः ही नियन्त्रित हो जाएगा। सामाजिक नियन्त्रण के सर्वाधिक आधारभूत साधन एक संस्थागत रूप से संगठित सामाजिक व्यवस्था की अन्तर्क्रिया की स्वाभाविक प्रक्रिया में दिखाई देते हैं।

यदि हम पारसन्स के विचारों का विश्लेषण करें तो हमे पता चलता है कि प्रत्येक समाज में कुछ सार्वभौमिक नियम एवं व्यवहार–प्रतिमान (आदर्श) होते हैं जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होकर कालान्तर में हमारी संस्थाएँ बन जाते हैं। इसके पीछे सम्पूर्ण समाज की स्वीकृति एवं अभिमति होती है। इन व्यवहारों को सर्वथा उचित एवं सही समझा जाता है और समाज के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। संस्था ही किसी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देती है। सामाजिक व्यवस्था वास्तव में संस्थाओं या संस्थागत व्यवहारों का एकीकरण है। हमारे विचार, आदतें तथा मनोधारणाएँ आगे चलकर संस्थाओं का रूप धारण करती हैं, वे अन्तर्क्रिया के द्वारा उत्पन्न होती हैं। समाज में सदस्यों के बीच स्वभावतः ही रात–दिन अन्तर्क्रिया चलती रहती है। इसी से व्यक्तियों के पारस्परिक विचारों के अदान–प्रदान से उनकी मनोधारणाओं का विकास होता है और एक–दूसरे के विचार नियन्त्रित होते हैं। इस प्रकार, पारसन्स का मत है कि संस्थाएँ ही सब पर नियन्त्रण का कार्य करती हैं।

संस्थाएँ हमारे व्यवहारों के लिए प्राथमिकता एवं उनके करने का उचित समय निर्धारित करती हैं। संस्थाएँ ही यह बताती हैं कि एक व्यक्ति के कार्य का क्रम क्या होना चाहिए अर्थात् प्राथमिकता के दृष्टिकोण से कौन–सा कार्य क्रमशः किस नम्बर पर आता है। किसी विशेष अवसर पर किसे छोड़कर किसे पहले करना चाहिए? यही सब संस्थाओं द्वारा नियन्त्रण के आधार बन जाते हैं। व्यक्तियों की अन्तर्क्रिया की पारस्परिकता से इस स्वाभाविक अन्तर्क्रिया के द्वारा ऐसे संस्थागत व्यवहार–प्रतिमान विकसित होते हैं जिनका पालन लगभग सभी लोग करते हैं। किन्तु फिर भी समाज में दस–बीस व्यक्ति ऐसे निकल ही जाते हैं जो कि उन नियमों को नहीं मानते जिन्हें समाज की अभिमति प्राप्त होती है। इन समाज–विरोधी व्यक्तियों को ठीक करने के लिए ही नियन्त्रण का सहारा लिया जाता है। पारसन्स नियन्त्रण में दण्ड एवं पुरस्कार के मनोवैज्ञानिक साधन को भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है। वह इस बात का समर्थन करता है कि समाज में जिन प्रतिक्रियाओं के बदले में हमें पुरस्कृत किया जाता है उन्हें हम सरलता से कर लेते हैं तथा जिनके बदले में हमें दण्ड मिलता है उन्हें हम बदलते एवं सुधारते हैं। इस प्रकार, हमारा व्यवहार काफी सीमा तक दण्ड एवं पुरस्कार के द्वारा भी नियन्त्रित होता है।

(3) इमाइल दुर्खीम का सिद्धान्त–इमाइल दुर्खीम ने सामाजिक नियन्त्रण के सिद्धान्त को श्रम–विभाजन के सिद्धान्त से जोड़ा है। दुर्खीम के अनुसार आज के समाज में क्योंकि श्रम–विभाजन बहुत बढ़ गया है अतः समाज में अनेक असमान मानव–समूह विकसित हो गए हैं। ये न तो रुचि में ही एक–दूसरे से मिलते हैं, न विचार में ही और न पेशे एवं आय में ही। किन्तु यह स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार के हजारों बेमेल तत्त्वों से नहीं चल सकती। अतः इनमें जब तक संगठन स्थापित नहीं होगा, तब तक समाज का अस्तित्व संकट में रहेगा। इस प्रकार, इस 'जटिल नगरीय एवं विजातीय तत्त्वों' वाले समाज में भिन्नता होते हुए भी एकता बनी रहती है। यह एकता (संश्लिष्टता) यद्यपि बहुत अधिक मजबूत नहीं होती है,

क्योंकि विभिन्न स्वार्थों को रखने वाली विभिन्न जाति, धर्म एंव प्रजाति के व्यक्तियों से मिलकर इस एकता का निर्माण होता है। इस एकता को दुर्खीम सावयवी एकता कहते हैं। इस प्रकार की एकता के लिए नियन्त्रण अति आवश्यक है। नियन्त्रण के अभाव में वैयक्तिक स्वार्थों को लेकर लड़ने वाले व्यक्तियों द्वारा समाज ही समाप्त कर दिया जाएगा। प्रारम्भिक या सरल समाज का रूप, जो हमें जनजातियों एवं ग्रामीण जगत में देखने को मिलता है, उनमें प्राथमिक सम्बन्ध प्रमुख होते हैं। सदस्य एक–दूसरे को प्रत्यक्षतः जानते हैं। व्यक्तिगत रूप से एक–दूसरे का सम्मान होता है। अतः यह हो ही नहीं सकता कि जिनके पास दिन–रात रहना है उन्हीं के सामने व्यक्ति समाज–विरोधी कार्य करें। अतः यहाँ व्यक्ति स्वतः नियन्त्रित रहता है और उसका व्यवहार नियन्त्रित करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इन समाजों में प्रगाढ़ एकता देखने को मिलती है जिसे दुर्खीम मशीनी एकता या यान्त्रिक एकता कहता है। दमनकारी कानून आदिम समाजों में पाया जाता है क्योंकि इन समाजों में अपराध सामूहिक चेतना के विरुद्ध कार्य समझे जाते हैं। सामूहिक चेतना का उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता है। इसके विपरीत, क्षतिपूरक कानून आधुनिक समाजों में पाया जाता है तथा इसमें अपराध सामूहिक चेतना के विरुद्ध न समझकर व्यक्ति के विरुद्ध समझा जाता है। इस कानून का उद्देश्य क्षति–प्राप्त व्यक्ति की क्षति को पूरा करना है अथवा उसे वह सब–कुछ लौटा देना है जो कि गलत ढंग से उससे छीना गया है।

दुर्खीम के मतानुसार सामूहिक प्रतिनिधित्व में दबाव शक्ति का गुण पाया जाता है। इसके कारण सामूहिक प्रतिनिधित्व में व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने की क्षमता भी होती है। सामूहिक प्रतिनिधित्व किसी समाज में औसत नागरिकों के विश्वासों तथा भावनाओं की समग्रता है जो एक निर्धारित व्यवस्था का निर्माण करती है तथा जिसका अपना एक अलग जीवन होता है। यह सामूहिक प्रतिनिधित्व प्रत्येक समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हैं क्योंकि इनके बिना व्यक्तिगत व्यवहारों अथवा प्रतिमानों को संगठित तथा नियन्त्रित करना एक कठिन कार्य है।

(4) हरबर्ट स्पेन्सर का सिद्धान्त–प्रसिद्ध समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर ने मानव अस्तित्व के लिए समाज में रहना और उसके नियमों–नियन्त्रणों को मानना अनिवार्य बताया है। प्रकृति के साथ संघर्षरत मानव को समाज में रहना ही होगा, क्योंकि विविध प्रकार की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में वह एकाकी सफल नहीं हो सकता और सहयोग समाज में ही सम्भव है। समाज के अस्तित्व एवं निरन्तरता हेतु सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है। समाज मनुष्य पर निम्नलिखित चार प्रकार के नियन्त्रण लगाता है–

(i) प्रथाएँ–मानव का व्यवहार प्रथाओं के कठोर नियन्त्रण से आबद्ध रहता है। ये प्रथाएँ वे नियम हैं जो मानव के व्यवस्थित समाज से भी पूर्व ही प्रचलित हो गए थे और आज भी मान्यता प्राप्त हैं। इनके द्वारा सामाजिक भर्त्सना और बहिष्कार किया जाता है।

(ii) नैतिकता–स्पेन्सर ने नैतिकता को नियन्त्रण का शक्तिशाली साधन बताया है। नैतिकता के मापदण्ड प्रत्येक समाज में भिन्न–भिन्न होते हैं जो प्रत्यक्षतः उचित–अनुचित का अन्तर बताकर सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करते हैं।

(iii) धर्म–धर्म का प्रभाव मानव के प्रत्येक क्रियाकलाप और विश्वास आदि पर पड़ता है। किसी भी समाज में प्रचलित धर्म अपनी मान्यताओं के अनुसार राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक शिक्षात्मक सभी क्रियाओं को नियन्त्रित करता है।

(iv) सरकार–समाज को व्यवस्थित करने के लिए राज्य की स्थापना की गई थी जिसका प्रभुत्वसम्पन्न अंग सरकार है, जो प्रशासन सम्बन्धी नियम कानून बनाकर व्यक्ति के

व्यवहार को नियन्त्रित करती है और दण्ड की प्रक्रिया अपनाती है। सरकार नियन्त्रण का सबसे शक्तिशाली साधन है।

स्पेन्सर के मतानुसार उपर्युक्त चारों साधनों का मूलाधार या तो बल है या फिर भय। समाज जब इस बल या भय का प्रयोग अपने सदस्यों पर करता है तो इसका उद्देश्य अन्ततः व्यक्तियों का हित करना ही होता है।

(5) एच० एफ० गिडिंग्स का सिद्धान्त–अपने सिद्धान्त के अन्तर्गत गिडिंग्स ने सामाजिक एकरूपता पर बल दिया है। सामाजिक स्थिरता के लिए विचार एवं भावों का साम्य समाज में ही होना चाहिए क्योंकि समूह की एकता तथा समाज के नैरन्तर्य के लिए आवश्यक है कि समाज से विचार वैभिन्य समाप्त होकर समानता पैदा हो। इस समानता का अर्थ यह है कि समाज के बड़े एवं महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर सभी सदस्य लगभग एक ही प्रकार से सोचें। इसी समानता को उसने 'सजातीयता की भावना' कहकर पुकारा है। गिडिंग्स के अनुसार जाति के प्रति जागरूकता सामाजिक निरन्तरता एवं समूह की एकता के लिए आवश्यक है। सजातीयता की भावना में असीम सामाजिक शक्ति होती है। अतः वास्तव में नियन्त्रण रखने वाला कारक सजातीयता की भावना होता है। किन्तु कुछ सदस्य ऐसे निकल ही आते हैं जो कि इन सामाजिक नियमों का पालन नहीं करते और इन्हीं लोगों के लिए सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

(6) अरस्तू एवं प्लेटो का सिद्धान्त–अरस्तू एवं प्लेटो यह मानते हैं कि सामाजिक नियन्त्रण में राज्य की बड़ी भारी महत्ता है। प्लेटो के अनुसार, "समाज के समुचित विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति एवं समाज में अधिक–से–अधिक साम्य हो।" इसके लिए यह आवश्यक है कि "सभी नागरिक राज्य से डरें और उसका सम्मान करें।" सभी को राज्य का समान भय होना चाहिए। इससे विचार साम्य पनपेगा किन्तु कुछ लोग ऐसा नहीं करते और समाज में विरोध पैदा करते रहते हैं। अतः इन लोगों के लिए ही सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता एवं महत्ता होती है। अरस्तू के अनुसार, "यह लाभदायक है कि सभी नागरिक 'भावनाओं की सम्भावना' का रसास्वादन करें बजाय इसके कि उन्हें परिस्थितियों की समानता मिले।" इस प्रकार, अरस्तू का यह विश्वास है कि भावनाओं की समानता से सामाजिक समानता अवश्य आएगी।

(7) सी० एच० कूले का सिद्धान्त–कूले ने सामाजिक नियन्त्रण की विस्तृत विवेचना चेतन एवं अचेतन सामाजिक नियन्त्रण के रूप में की है। उनके अनुसार व्यवहार करने के कुछ नियम, आदर्श अथवा मान्यताएँ हमारे मूल्यों का ही अंग बन जाते हैं तथा हम स्वयं अचेतन रूप में इनके प्रति निष्ठावान हो जाते हैं। अतः सामाजिक नियन्त्रण अचेतन रूप में हमारे व्यवहार को नियमित करता रहता है, यह अलग बात है कि हम इसके बारे में कभी सोचते ही नहीं। परम्पराओं तथा संस्कारों के अनुरूप व्यवहार करना वास्तव में अचेतन सामाजिक नियन्त्रण है।

कूले के अनुसार अचेतन सामाजिक नियन्त्रण ही व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने में पर्याप्त नहीं है। अतः सचेत रूप में व्यक्तियों को समाज की मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार करने के लिए भी प्रेरित किया जाता है। उदाहरण के लिए, जात–पात पर विश्वास न करना क्योंकि ऐसा करना कानूनी रूप से जुर्म है, हमारे व्यवहार को नियन्त्रित करने का चेतन प्रयास है। कई बार चेतन तथा अचेतन नियन्त्रण में संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। उदाहरणार्थ, कानून हमें जात–पात में अन्तर न करना सिखाता है, जबकि हमारे संस्कार और परम्परागत व्यवहार हममें ऊँच–नीच की भावनाएँ विकसित करते हैं।

8.9 सारांश

प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के व्यवहार को समाज की मान्यताओं के अनुरूप ढालने का प्रयास किया जाता है। इसी को सामाजिक नियन्त्रण कहते हैं। यह समाज में सहयोग बनाए रखने, एकरूपता लाने तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने हेतु अनिवार्य माना जाता है। इसी से समाज के आदर्शों एवं मूल्यों की रक्षा होती है तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक विरासत बनी रहती है। सामाजिक नियन्त्रण अनेक प्रकार का होता है। सर्वाधिक विद्वानों ने इसे औपचारिक एवं अनौपचारिक नामक दो श्रेणियों में विभाजित किया है। औपचारिक नियन्त्रण सचेत, संहिताबद्ध, संगठित (व्यवस्थित) एवं कठोर होता है, जबकि अनौपचारिक नियन्त्रण अचेत, असंहिताबद्ध, असंगठित, व्यक्तिगत एवं ढीला होता है। सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक अभिकरणों (साधनों) में परिवार, विश्वास, रूढ़ियाँ, जनरीतियाँ, धर्म, जाति इत्यादि प्रमुख हैं, जबकि औपचारिक अभिकरणों में शिक्षा, कानून एवं राज्य की प्रमुख भूमिका होती है। ऐसा माना जाता है कि जो सीख समाजीकरण द्वारा नहीं हो पाती, वह सामाजिक नियन्त्रण के कठोर अभिकरणों द्वारा सम्भव बनायी जा सकती है। सामाजिक नियन्त्रण की व्याख्या हेतु अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने में रॉस, पारसन्स, दुर्खीम, स्पेन्सर, अरस्तू एवं प्लेटो तथा कूले ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

8.10 शब्दावली

सामाजिक नियन्त्रण – यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज व्यक्तियों के व्यवहार में अनुरूपता लाकर सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने का प्रयास करता है।

स्व–नियन्त्रण – इसका अर्थ व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से अपने ऊपर नियन्त्रण लगाना है। स्व–नियन्त्रण आन्तरिक होता है तथा यह सदैव व्यक्ति की आन्तरिक अनुभूति एवं भावना का परिणाम होता है।

औपचारिक नियन्त्रण – यह राज्य अथवा इसकी संस्थाओं द्वारा सचेत रूप में लगाया जाने वाला नियन्त्रण है।

अनौपचारिक नियन्त्रण – यह अचेत रूप से नैतिक आधार पर सामूहिक हित को ध्यान में रखकर लगाया जाने वाला नियन्त्रण है।

8.11 अभ्यास प्रश्न

9. सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ समझाइए। इसके प्रमुख अभिकरणों का उल्लेख कीजिए।
10. सामाजिक नियन्त्रण की परिभाषा दीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
11. सामाजिक नियन्त्रण किसे कहते हैं? इसके कार्य एवं महत्त्व की विवेचना कीजिए।
12. सामाजिक नियन्त्रण क्या है? औपचारिक एवं अनौपचारिक नियन्त्रण के प्रमुख अभिकरण बताइए।
13. सामाजिक नियन्त्रण को परिभाषित कीजिए। इसकी व्याख्या हेतु प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त बताइए।
14. सामाजिक नियन्त्रण किसे कहते हैं? इसके प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख कीजिए।

8.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Aristotle (2000), **Politics,** Penguin Classics, London.

C. H. Cooley (1933), **Introductory Sociology**, *Charles* Scribner's Sons, New York.

E. A. Ross (1901), **Social Control : A Survey of the Foundations of Order**, The Macmillan Company, New York.

Emile Durkheim (1984), **The Division of Labour in Society**, The Free Press, New York.

F. H. Giddings (2004), **Principles of Sociology**, The Macmillan Company, New York.

Georges Gurvitch and Wilbert E. Moore (1945), Twentieth Century Sociology, Philosophical Library, New York.

Herbert Spencer (1898), **The Principles of Sociology**, D. Appleton and Company, New York.

J. L. Gillin and J. P. Gillin (1948), **Cultural Sociology**, The Macmillan Company, New York.

Joseph H. Fichter (1958), **Sociology**, The *University* of Chicago Press, Chicago.

Joseph S. Roucek (1947), **Social Control**, Van Nostrand, New York.

Karl Mannheim (1966), **Man and Society in an Age of Reconstruction**, Harcourt, Brace & World, New York.

Kimball Young (1946), **A Handbook of Social Psychology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

Plato (2003), **The Republic**, Penguin Classics, London.

R. M. MacIver and C. H. Page (1962), **Society : An Introductory Analysis**, Holt, Rinehart and Winston, New York.

R. T. LaPiere (1954), **A Theory of Social Control**, *McGraw-Hill* Book Company, New York.

T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.

Talcott Parsons and Robert Bales (1956), **Family, Socialization and Interaction Process**, Routledge and Kegan Paul, London.

इकाई 9 सामाजिक स्तरीकरण : अर्थ एवं विशेषताएँ

Social Stratification: Meaning & Characteristics

इकाई की रूपरेखा

9 उद्देश्य

9.9 प्रस्तावना

9.10 सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
9.11 सामाजिक स्तरीकरण तथा सामाजिक विभेदीकरण
9.12 **सामाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषताएँ**
9.13 सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता
9.14 सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार
9.15 सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्य
9.16 सामाजिक स्तरीकरण के अकार्य
9.17 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त
9.18 सारांश
9.19 शब्दावली
9.20 अभ्यास प्रश्न
9.21 संदर्भ ग्रन्थ सूची

90 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। चूँकि यह अवधारणा सामाजिक विभेदीकरण से घनिष्ठ रूप में जुड़ी हुई है, अतः इसके स्पष्टीकरण हेतु इन दोनों में अन्तर समझना भी अनिवार्य है। इसके साथ ही इस इकाई में सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति अर्थात् इसकी विशेषताओं, समाज के लिए इसकी आवश्यकता, इसके प्रमुख आधारों, इसके प्रकार्यों एवं अकार्यों तथा इसकी व्याख्या हेतु प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- सामाजिक स्तरीकरण तथा सामाजिक विभेदीकरण में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तरों की व्याख्या कर पाएँगे;
- सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति अर्थात् इसे स्पष्ट करने वाली प्रमुख विशेषताओं को स्पष्टतया समझ पाएँगे;
- सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता की चर्चा कर पाएँगे;
- सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधारों को समझ पाएँगे;
- सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्य एवं अकार्य की व्याख्या कर पाएँगे; तथा
- सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्टतया समझ पाएँगे।

9.1 प्रस्तावना

आपने देखा होगा कि सभी व्यक्ति एवं समूह एक–समान नहीं होते हैं। उनमें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं अन्य किसी–न–किसी आधार पर ऊँच–नीच पाई जाती है। समाजशास्त्र में ऊँच–नीच की इसी व्यवस्था को सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं। यह एक प्रकार से वह व्यवस्था है जिसके द्वारा सम्पूर्ण समाज ऐसे विभिन्न स्तरों में विभाजित हो जाता है जिनकी स्थिति (प्रस्थिति) एक–समान नहीं होती है। वैसे सैद्धान्तिक रूप से सदैव यह सोचा गया है कि समाज में समस्त व्यक्तियों की प्रस्थिति समान हो, परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। प्रत्येक मानव भिन्न बुद्धि, योग्यता, लिंग तथा कुशलता का अधिकारी है। इस दशा में यदि सभी को एक स्तर पर रखा जाए तो समाज की प्रगति नहीं हो पाएगी। अतः स्तरीकरण सार्वभौमिक है यद्यपि इसका रूप प्रत्येक समाज में भिन्न हो सकता है। समाज चाहे सरल हो या जटिल, उसमें स्तरीकरण अवश्य ही पाया जाता है। कुछ पूर्व साम्यवादी देश यह दावा करते रहे हैं कि

वहाँ पर सभी लोगों की प्रस्थिति समान थी, पर सत्य यह नहीं है। वहाँ अधिक योग्य व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों से कुछ अधिक ही सुविधा पाते रहे हैं तथा चीन जैसे देश में राजनीतिक क्षेत्र में ऊँच–नीच आज भी स्पष्ट देखी जा सकती है। **सोरोकिन** ने स्तरविहीन समाज को मात्र कल्पना माना है। वास्तव में, ऐसा माना जाता है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज के लिए प्रकार्यात्मक है अर्थात् इससे समाज की कुछ आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इसीलिए इसे समाप्त करना कठिन है तथा कोई भी समाज अब तक इसे समाप्त करने में सफल नहीं हो पाया है।

9.2 सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामाजिक स्तरीकरण समाज का विभिन्न स्तरों में विभाजन है। इन स्तरों में ऊँच–नीच या संस्तरण पाया जाता है। समाज के विभिन्न समूहों में पायी जाने वाली आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक असमानता को ही स्तरीकरण कहा जाता है। समाजशास्त्रियों द्वारा सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। कतिपय प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

जिसबर्ट (Gisbert) के अनुसार–"सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ समाज को कुछ ऐसी स्थायी श्रेणियों तथा समूहों में बाँटने की व्यवस्था से है जो कि उच्चता एवं अधीनता के सम्बन्धों से परस्पर सम्बद्ध होते हैं।" इस परिभाषा में उच्चता एवं अधीनता के आधार पर समूह को विभाजित किया जाना ही स्तरीकरण माना गया है। इसमें दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं–प्रथम, यह कि जिस आधार से समूह को स्तरीकृत किया जाता है वह स्थिर रहता है तथा द्वितीय, उच्चता तथा निम्नता के आधार पर विभिन्न समूह प्रतिष्ठित होते हैं और वे परस्पर सम्बन्ध रखते हुए सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखते हैं।

सदरलैण्ड एवं **वुडवर्ड** (Sutherland and Woodward) के अनुसार–"साधारणतः स्तरीकरण अन्तर्क्रिया अथवा विभेदीकरण की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कुछ व्यक्तियों को दूसरों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है।" इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि स्तरीकरण का आधार प्रस्थिति है। समाज को प्रस्थिति के आधार पर विभाजित किया जाता है।

ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार–"वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों को थोड़े–बहुत स्थायी प्रस्थिति के उच्चता व निम्नता के क्रम में श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण कहलाती है।" अतः उनके द्वारा प्रस्थितियों के संस्तरण की श्रेणीबद्ध व्यवस्था संस्तरण कही जा सकती है। **पारसन्स** (Parsons) के अनुसार–"प्रतिष्ठा (सम्मान) के आधार पर श्रेणीबद्धता की व्यवस्था को हम समाज का स्तरीकरण कह सकते हैं।" उनके अनुसार प्रतिष्ठा के आधार पर (अर्थात् कम या ज्यादा प्रतिष्ठा मिलने के आधार पर) लोगों को श्रेणियों में बाँटने वाली व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण कहलाती है। इसी सन्दर्भ में **हरालाम्बोस** एवं **हैल्ड** ने कहा है कि, "सामान्य मूल्य व्यवस्था के आधार पर सामाजिक व्यवस्था की इकाइयों की श्रेणीबद्धता को, इसके मूल्यांकन पहलू में, स्तरीकरण कहा जाता है।"

डेविस (Davis) के अनुसार–"सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ साधारणतः उन समूहों से लगाया जाता है जो सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न स्थितियों को धारण किए हुए हैं तथा जिन्हें भिन्न–भिन्न मात्रा में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।" **फैडरिको** (Federico) के अनुसार–"सामाजिक स्तरीकरण व्यक्तियों और समूहों, जो धन–दौलत, प्रतिष्ठा एवं शक्ति के वितरण को असमान रूप से बाँटते हैं, को श्रेणीबद्ध करने की व्यवस्था है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था विभिन्न स्तरों में विभाजित होती है। इन स्तरों को उच्चता तथा

निम्नता के आधार पर विभाजित किया जाता है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें समाज के विभिन्न समूहों को ऊँचे–नीचे स्तरों में बाँट दिया जाता है और इनके आधार पर उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों में अन्तर आ जाता है। सामाजिक स्तरों में पाया जाने वाला संस्तरण एक प्रकार से संरचित असमानता है अर्थात् उनमें पायी जाने वाली उच्चता एवं निम्नता की जड़ें सामाजिक संरचना में निहित होती हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था समाज को धन–सम्पदा, पद–प्रतिष्ठा और शक्ति के आधार पर भिन्न–भिन्न स्तरों में विभक्त कर देती है।

9.3 सामाजिक स्तरीकरण तथा सामाजिक विभेदीकरण

अनेक विद्वान् सामाजिक स्तरीकरण तथा सामाजिक विभेदीकरण को एक ही समझ लेते हैं जो कि ठीक नहीं है। दोनों भिन्न अवधारणाएँ हैं तथा इनका प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया जाता है। सामाजिक विभेदीकरण सामाजिक भिन्नताओं से सम्बन्धित एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो सभी प्रकार के समाजों में पाई जाती है। यह वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों एवं समूहों में भिन्नता उत्पन्न होती है। आदिम और सरल समाजों मे विभेदीकरण का आधार आयु तथा लिंग–भेद थे। सामाजिक विभेदीकरण में विभिन्न व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच जो विभाजन पाया जाता है उसमें ऊँच–नीच अथवा हीनता की भावना पायी जानी अनिवार्य नहीं है। इसलिए कई बार इसे एक तटस्थ प्रक्रिया माना जाता है। जैसे–जैसे समाजों का विकास होता गया और उनमें जटिलता आती गई, वैसे–वैसे उन समाजों में रहने वाले व्यक्तियों में पारिवारिक पृष्ठभूमि, योग्यता, व्यवसाय, प्रजाति, धर्म, राजनीतिक पृष्ठभूमि इत्यादि के आधार पर विभेद स्पष्ट होते गए। विभेदीकरण के परिणामस्वरूप ही श्रम–विभाजन एवं विशेषीकरण में वृद्धि होती है। इसे प्रमुख विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है–

लूमले (Lumley) के अनुसार–"विभेदीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्तियों में उसी प्रकार की भिन्नता उत्पन्न होती है जिस प्रकार किसी आर्केस्ट्रा के विभिन्न वादक अपने–अपने साजों से एक मनोहारी तथा पूर्ण संगीत का निर्माण करते हैं।" **न्यूमेयर** (Neumeyer) के अनुसार–"सामाजिक विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों और सामाजिक समूहों में जैविक, वंशानुक्रमणीय तथा भौतिक लक्षणों–आयु, लिंग, प्रजाति के आधार पर सामाजिक भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं तथा जिससे सामाजिक प्रस्थिति, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रदत्त व्यक्तित्व के गुण, समूहों की संरचना एवं सामाजिक सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। यह सामाजिक भिन्नताएँ विभेदीकरण के चरण भी हैं और परिणाम भी।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक विभेदीकरण का तात्पर्य सामाजिक भिन्नताओं से है। ये भिन्नताएँ मुख्य रूप से जैविक–सामाजिक (जैसे–आयु, लिंग, प्रजाति आदि) अथवा सामाजिक–सांस्कृतिक (जैसे–धर्म, वर्ग, व्यवसाय आदि) आधारों पर होती हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से सामाजिक विभेदीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं–

(1) सामाजिक विभेदीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो प्रत्येक समाज में पाई जाती है।

(2) सामाजिक विभेदीकरण सतत होने वाली प्रक्रिया है तथा एक बार प्रारम्भ हो जाने पर यह निरन्तर चलती रहती है।

(3) सामाजिक विभेदीकरण स्वाभाविक रूप से विकसित होने वाली एक प्रक्रिया है जिसे मूर्त रूप में देखा जा सकता है।

(4) सामाजिक विभेदीकरण एक अत्यन्त प्राचीन एवं अवैयक्तिक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों की प्रस्थिति को बहुत अधिक प्रभावित नहीं करती है। इसके अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों या समूहों के बीच एक विभाजन मात्र पाया जाता है। सामाजिक विभेदीकरण के परिणामस्वरूप जो वर्ग निर्मित होते हैं उनमें ऊँचे–नीच का कोई ठोस मापदण्ड नहीं होता है।

सामाजिक स्तरीकरण व सामाजिक विभेदीकरण में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर निम्न प्रकार हैं–

(1) अवधारणात्मक भिन्नता–सामाजिक स्तरीकरण समाज का विभाजन है जिससे समाज अनेक समूहों में विभक्त कर दिया जाता है। ये समूह परस्पर ऊँच–नीच या उच्चता व अधीनता के सम्बन्धों के आधार पर सम्बद्ध होते हैं, जबकि सामाजिक विभेदीकरण व्यक्तियों व समूहों में व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर भिन्नता उत्पन्न करने वाली ऐसी प्रक्रिया होती है जिसमें ऊँच–नीच या उच्चता व अधीनता की भावना नहीं भी हो सकती है।

(2) उच्चता व निम्नता के आधार पर भिन्नता–सामाजिक स्तरीकरण में समाज विभिन्न स्तरों में विभाजित किए जाने के साथ–साथ उच्चता व निम्नता के क्रम से युक्त भी होता है। सामाजिक विभेदीकरण समाज को विभाजित करने वाली प्रक्रिया है। इसमें उच्चता व निम्नता का प्रायः अभाव होता है। अन्य शब्दों में सामाजिक विभेदीकरण एक तटस्थ प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ, लिंग एवं आयु के आधार पर उच्चता व निम्नता का पता नहीं चल सकता है। इनमें अन्तर समाज में प्रचलित मान्यताओं द्वारा होता है। केवल जैविक आधार पर सामाजिक विभिन्नता को विभेदीकरण कहा जाता है न कि सामाजिक स्तरीकरण।

(3) स्थिरता के आधार पर भिन्नता–स्तरीकरण की व्यवस्था बनी रहने के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया द्वारा विभक्त स्तर स्थायी रहें। इसके विपरीत, सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया द्वारा विभक्त स्तर परिवर्तित होते रहते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक स्तरीकरण एक दीर्घकालीन उद्देश्य वाली प्रक्रिया है, जबकि सामाजिक विभेदीकरण स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली एक अल्पकालीन प्रक्रिया है।

(4) अवधि के आधार पर भिन्नता–सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक विभेदीकरण की तुलना में अपेक्षाकृत नवीन प्रक्रिया है। तटस्थ होने के साथ–साथ विभेदीकरण की प्रक्रिया एक अत्यन्त प्राचीन प्रक्रिया भी है।

(5) आधारों की दृष्टि से भिन्नता–सामाजिक स्तरीकरण के आधार जटिल होते हैं (जैसे– पारिवारिक प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, शिक्षा, व्यावसायिक स्तर इत्यादि), जबकि सामाजिक विभेदीकरण के आधार सरल एवं स्पष्ट होते हैं। सामान्यतः इसका आधार जैविक लक्षण (जैसे–रंग, आयु, लिंग–भेद, स्वास्थ्य इत्यादि) होते हैं।

9.4 सामाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषताएँ

समाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

(1) समाज का विभिन्न स्तरों में विभाजन–इसके अन्तर्गत समाज विभिन्न स्तरों में विभक्त कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दू समाज का चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) अथवा विभिन्न जातियों में विभाजन अथवा पश्चिमी समाजों का पूँजीपति तथा सर्वहारा वर्ग में विभाजन।

(2) उच्चता व निम्नता–इसके अन्तर्गत, समाज क्रमशः उच्च व निम्न सामाजिक इकाइयों (खण्डों) में विभक्त कर दिया जाता है। यह उच्चता व निम्नता अधिकतर अत्यन्त

सुस्पष्ट होती है परन्तु कई बार इसमें थोड़ी–बहुत अस्पष्टता भी हो सकती है। वास्तव में, समाज में पायी जाने वाली ऊँच–नीच की व्यवस्था का ही दूसरा नाम सामाजिक स्तरीकरण है।

(3) स्थायित्व–इसके अन्तर्गत किया गया स्तरीकरण स्थायी होता है। जब तक स्तरीकृत इकाइयों में स्थिरता न आ जाए तब तक उसे स्तरीकरण की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। जिसबर्ट और ऑगबर्न तथा निमकॉफ की परिभाषाओं से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि यह समाज का किसी न किसी आधार पर स्थायी श्रेणियों में विभाजन है।

(4) परस्पर सम्बद्धता–समाज के विभिन्न स्थायी समूह व श्रेणियाँ उच्चता तथा अधीनता के सम्बन्धों द्वारा परस्पर जुड़ी रहती हैं। अन्य शब्दों में, विभिन्न स्तर एक–दूसरे से पृथक् न होकर परस्पर सम्बद्ध होते हैं।

(5) सार्वभौमिकता–सामाजिक स्तरीकरण किसी न किसी रूप में संसार के समस्त समाजों में पाया जाता है। वर्गविहीन समाज का दावा करने वाले साम्यवादी देशों में भी यह पाया जाता है। प्रतिष्ठा, धन–दौलत तथा सत्ता के आधार पर प्रत्येक समाज में व्यक्तियों की भिन्न–भिन्न प्रस्थितियाँ होती हैं और इन्हीं के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण विकसित होता है।

(6) पुरातन व्यवस्था–सामाजिक स्तरीकरण नवीन व्यवस्था नहीं अपितु यह प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। **कार्ल मार्क्स** का कहना है कि आज तक के समाजों का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है तथा प्रत्येक समाज में दो वर्ग अवश्य ही रहे हैं। प्राचीन समाजों में स्तरीकरण के प्रदत्त आधार अधिक महत्त्वपूर्ण थे, जबकि आधुनिक समाजों में अर्जित आधार महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं।

9.5 सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता

सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता के दो प्रमुख कारण हैं–

(1) प्रत्येक व्यक्ति की एक विशेष पद पाने की इच्छा, तथा

(2) अपने पद के अनुसार भूमिका निभाने की इच्छा।

समाज चाहता है कि उसका प्रत्येक कार्य सुचारु ढंग से चल सके एवं समाज में प्रगति हो। इसलिए समाज में कुछ पद उच्च होते हैं और कुछ निम्न। उच्च पदों पर रहने वालों को अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इस कारण निम्न पद वाले उच्च पद की आकांक्षा करते हैं और उसके अनुरूप अपने को बनाने की चेष्टा करते हैं, जिससे समाज में प्रगति होती है। **डेविस** तथा **मूर** का विचार है कि, "सामाजिक असमानता अचेतन रूप से विकसित एक ढंग है जिसके द्वारा समाज अपने सदस्यों को विश्वास दिलाता है कि अधिक महत्त्वपूर्ण पद पर अधिक योग्य व्यक्ति ही काम कर रहे हैं।"

अगर समाज स्तरीकृत न हो तो आगे बढ़ने की इच्छा ही समाप्त हो जाएगी। कोई भी व्यक्ति विशेष योग्यता का अधिकारी नहीं बनना चाहेगा क्योंकि वह जानता है कि योग्य तथा अयोग्य व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। इस परिस्थिति में समाज का विकास ही नहीं रुक जाएगा अपितु सामाजिक व्यवस्था को खतरा पहुँच सकता है। अतः सामाजिक व्यवस्था में निरन्तरता एवं स्थायित्व बनाए रखने के लिए सामाजिक स्तरीकरण अनिवार्य है।

9.6 सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार

सामजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण के अनेक आधार होते हैं। इसके कुछ कतिपय प्रमुख आधार इस प्रकार हैं–

(1) प्राणिशास्त्रीय आधार–इसके अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख आधार आते हैं–

(i) आयु–सामान्यतः आयु से व्यक्ति की मानसिक परिपक्वता का संकेत मिलता है। इस आधार पर स्तरीकरण के सामान्यतः चार स्तर हैं–शिशु, किशोर, युवा व प्रौढ़। किसी भी समाज में इन स्तरों की प्रस्थिति समान नहीं होती है। आयु, प्रदत प्रस्थिति का एक प्रमुख आधार है तथा प्रत्येक समाज में आयु के आधार पर प्रतिष्ठा की अपनी विशिष्ट परम्परा है।

(ii) प्रजाति–प्रजाति का अभिप्राय मनुष्यों के उस समूह से है जिसमें कुछ जन्मजात सामान्य शारीरिक लक्षण होते हैं। प्रजातिवाद में कुछ प्रजातियाँ स्वयं को शेष प्रजातियों से श्रेष्ठ ठहराने का प्रयास करती हैं। वे अन्य प्रजातियों को अपने से निकृष्ट सिद्ध करने का भी प्रयास करती हैं। इसका ज्वलंत उदाहरण वर्तमान समय में सफेद व काले (गोरे व नीग्रो) लोगों के मध्य संघर्ष है।

(iii) लिंग–लिंग के आधार पर दो स्तर–स्त्री व पुरुष माने जाते हैं। मातृवंशीय समाजों में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों की अपेक्षा उच्च मानी जाती है। इसके विपरीत पितृवंशीय समाजों में पुरुष की स्थिति स्त्रियों से उच्च मानी जाती है।

(2) सामाजिक आधार–मानव समाजों में सामाजिक आधारों पर स्तरीकरण निम्नलिखित दशाओं में विकसित हुआ है–

(i) नृजातीय आधार–जब एक जातीय समूह दूसरे जातीय समूह अथवा समूहों पर कम अथवा अधिक स्थायी रूप से हावी हो जाता है तब नृजातीय स्तरीकरण बन जाता है। सम्भवतः सामाजिक स्तरीकरण–पूर्व समाजों में नृजातीय स्तरीकरण ही प्रचलन में था। यदि भारत का ही उदाहरण लिया जाए तब इस देश में अनेक प्रजातियों, भाषाओं, धर्मों व सामाजिक भेदों के व्यक्तियों का एक संगठित समाज लगभग 5,000 वर्षों से चला जा रहा है। प्रारम्भ में यह व्यवस्था नृजातीय स्तरीकरण के सिद्धान्त पर ही आधारित थी।

(ii) अनृजातीय आधार–इटैलियन समाजशास्त्री **विलफ्रेडो पेरेटो** के अनुसार प्रत्येक सामाजिक संरचना में ऊँच–नीच का एक संस्तरण अवश्य ही होता है। प्रायः प्रत्येक समाज दो प्रमुख स्तरों–उच्च व निम्न स्तर में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम स्तर अर्थात् उच्च स्तर के व्यक्तियों के हाथ में शक्ति केन्द्रित होती है। वे समाज के शासक होते हैं। इसी वर्ग के पास अधिक चतुर, बुद्धिमान, कुशल व समर्थ सदस्य होते हैं। पेरेटो ने इस वर्ग को अभिजात वर्ग की संज्ञा दी है। उनके शब्दों में इतिहास कुलीनतन्त्रों का कब्रिस्तान है। इसमें जाति एवं वर्ग के आधार पर स्तरीकरण भी सम्मिलित किया जा सकता है।

(3) आर्थिक आधार–इनमें निम्नलिखित दो आधारों को सम्मिलित किया जा सकता है–

(i) सम्पत्ति–आधुनिक पूँजीवादी समाजों में सम्पत्ति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। **कार्ल मार्क्स** ने कहा था कि पूँजीवादी समाज के सदस्य दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं–पूँजीपति वर्ग व अपूँजीपति (सर्वहारा) वर्ग। प्रथम वर्ग अल्पसंख्यक होता है एवं उसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है। अपूँजीपति वर्ग बहुसंख्यक होता है। वह पूँजीपति वर्ग द्वारा स्थापित उद्योगों में उत्पादन कार्य में सक्रिय भाग लेता है। दोनों वर्गों में स्पष्ट असमानता पायी जाती है।

(ii) व्यवसाय–वर्तमान औद्योगीकृत समाजों में व्यवसाय भी सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है। कुछ व्यवसाय व पद ऐसे हैं जो समाज के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा ऐसे पदों पर नियुक्त व्यक्तियों को अधिक प्रतिष्ठा एवं सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत निम्न व्यवसायों व पदों में लगे व्यक्तियों को निम्न स्थान दिया जाता है।

(4) राजनीतिक आधार–इस आधार पर समाज को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है–शासक व शासित। सभी समाजों में शासक वर्ग की स्थिति अवश्य ही शासित वर्ग से उच्च होती है।

(5) धार्मिक आधार–धार्मिक आधार पर भी समाज में ऊँच–नीच पायी जाती हैं। धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियों एवं धार्मिक नेताओं की प्रस्थिति अन्यों की अपेक्षा ऊँची होती है। इसका उदाहरण रोमन कैथोलिक चर्च का विश्व में फैला हुआ संस्तरण है।

(6) सांस्कृतिक आधार–इसका उदाहरण भाषा, बौद्धिक कुशलता, कलात्मकता आदि आधारों पर समाज का स्तरीकरण है। इन गुणों के आधार पर भेदभाव पाया ही जाता है।

9.7 सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्य

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यवादी विश्लेषण के सन्दर्भ में, जो कि **किंग्सले डेविस** तथा **विलबर्ट ई० मूर** द्वारा प्रस्तुत किया गया है, स्तरीकरण समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। इस मान्यता से प्रारम्भ करते हुए कि कोई भी समाज वर्ग विहीन नहीं है अथवा अस्तरीकृत नहीं है, प्रकार्यवादियों द्वारा उस सार्वभौमिक आवश्यकता की व्याख्या का प्रयास किया जाता है जो किसी भी सामाजिक व्यवस्था में स्तरीकरण उत्पन्न करती है। स्तरीकरण की सार्वभौमिक विद्यमानता की व्याख्या करने के लिए मुख्यतः प्रकार्यवादी आवश्यकता यह है कि प्रत्येक समाज को सामाजिक संरचना में व्यक्तियों का स्थान निर्धारित करने तथा उन्हें प्रेरित करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार सामाजिक विषमता अचेतन रूप से विकसित एक ऐसी युक्ति है जिससे समाज इस बात की सुनिश्चित व्यवस्था करता है कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थितियों पर सर्वाधिक योग्य व्यक्ति ही रहें। अतः सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य प्रकार्य इस प्रकार हैं–

(1) श्रम–विभाजन की व्यवस्था–सामाजिक स्तरीकरण द्वारा समाज कुछ स्तरों में विभक्त होता है। प्रत्येक स्तर के कतिपय निश्चित प्रकार्य होते हैं। इन कार्यों को प्रत्येक सदस्य पूरा करता है। उदाहरण के लिए, जातिगत स्तरीकरण में प्रत्येक जाति का एक विशिष्ट कार्य है तथा जातियों में इन कार्यों के आधार पर ही परस्पर सहयोग एवं अन्तर्सम्बन्ध पाए जाते हैं।

(2) कठिन परिश्रम हेतु प्रेरणा प्रदान करना–प्रत्येक सामाजिक संस्तरण में कतिपय विशिष्ट व उच्च मूल्य होते हैं जिनकी प्राप्ति हेतु लोगों को कठिन परिश्रम करना पड़ता है। स्तरीकरण उच्च पद की प्राप्ति के लिए कठिन परिश्रम की प्रेरणा प्रदान करता है।

(3) कुशलता व योग्यता में वृद्धि के लिए प्रेरणा–सामाजिक स्तरीकरण द्वारा प्रत्येक समाज अपने सदस्यों की कुशलता व योग्यता में अभिवृद्धि करने हेतु उन्हें विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन प्रदान करता है। जो सदस्य अपने समाज के मूल्यों का निष्पादन भली–भाँति करते हैं उन्हें अधिक प्रतिष्ठा एवं ऊँचे गिने जाने वाले व्यक्तियों द्वारा सामाजिक मान्यता प्रदान की जाती है।

(4) प्रतियोगिता की सम्भावना–समाज द्वारा कतिपय पदों के लिए उच्च प्रतिष्ठा व अन्य पुरस्कार दिए जाने पर प्रतियोगिता का होना अवश्यमभावी है। प्रतियोगिता के कारण अधिक योग्य व्यक्तियों की ऊपर उठने की सम्भावना अधिक होती है तथा इससे उनकी योग्यता का सदुपयोग हो जाता है।

(5) सामाजिक नियन्त्रण–सामाजिक स्तरीकरण के अन्दर प्रत्येक स्तर पर अपने कतिपय विशिष्ट कानून व नियन्त्रणकारी शक्तियाँ होती हैं। इसके अन्तर्गत ही प्रत्येक सदस्य अपनी भूमिका अदा करता है। अतः यह नियन्त्रण का कार्य भी करता है।

(6) मनोवैज्ञानिक सन्तोष प्रदान करना–सामाजिक स्तरीकरण में व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से सन्तुष्टि प्राप्त करता है। यह व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को मानसिक सुरक्षा प्रदान करके अर्जित एवं प्रदत्त प्रस्थिति के अनुकूल भूमिका निभाने के लिए प्रेरित करती है।

9.8 सामाजिक स्तरीकरण के अकार्य

सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख अकार्य निम्नलिखित हैं–

(1) सामाजिक विषमता–सामाजिक संस्तरण से समाज कई स्तरों में अथवा खण्डों–विखण्डों में विभक्त हो जाता है, जिस कारण उसमें उच्चता व निम्नता की भावना व्याप्त हो जाती है। यह स्वस्थ समाज के लिए हानिप्रद है।

(2) श्रेष्ठ वर्ग के संचरण में बाधा–जॉनसन का कहना है कि वर्ग की प्रस्थिति को वसीयत में लेने की प्रवृत्ति, जो पिता व पुत्रों के व्यवसायों के मध्य सम्बन्धों पर किए गए अध्ययन से स्पष्ट होती है, का यही अर्थ है कि इससे श्रेष्ठ वर्गों के संचरण में अवरोध खड़े होते हैं। कुछ प्रतिभाओं की हानि होती है और कदाचित् कुछ सामाजिक पद अल्पकुशलता–युक्त व्यक्तियों द्वारा भरे जाते हैं।

(3) वर्ग संघर्ष–सामाजिक स्तरीकरण से समाज अनेक स्तरों में विभक्त होता है व उसके सदस्य परस्पर हीनता अथवा श्रेष्ठता की भावनाओं से पीड़ित होते हैं वह समय–समय पर इस कटुता को व्यक्त भी करते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सभी समाजों में वर्ग संघर्ष होते रहते हैं।

(4) झूठा गर्ग–सामाजिक स्तरीकरण से व्यक्तियों के हृदय में झूठा अभिमान उत्पन्न हो जाता है। यह अभिमान उनमें अधिक विकसित होता है जिनका स्थान स्तरीकरण में ऊँचा होता है। इस झूठे अभिमान के दुष्परिणाम भी शीघ्र ही सामने आ जाते हैं।

(5) निर्धन एवं निम्न वर्गों के लोगों का शोषण–सामाजिक स्तरीकरण में निर्धन एवं निम्न स्तर के व्यक्तियों का शोषण अधिक होता है, जिसका परिणाम इनमें समय–समय पर विकसित होने वाले असन्तोष द्वारा स्पष्ट होता है।

(6) अन्य अकार्य–जॉनसन के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण, विशेष रूप से सामाजिक वर्ग के अकार्य इस प्रकार हैं–प्रतिभा को कुछ शीर्ष पदों पर जहाँ कि वे सामाजिक दृष्टि से अधिक उपयोगी होते हैं, पहुँचने से रोकना, प्रभावशाली व्यक्ति जिन पदों पर हैं वहाँ रोड़े अटकाना और प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लोगों के सामाजिक पुरस्कारों को रोके रखना या अनावश्यक रूप से इन पुरस्कारों को उन व्यक्तियों तक सीमित रखना, जिनका योगदान समाज के लिए कम महत्त्वपूर्ण है।

9.9 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त

सामाजिक स्तरीकरण के बारे में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है–

(1) प्रकार्यवादी सिद्धान्त–किंग्सले डेविस तथा विलबर्ट ई० मूर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रकार्यवादी यह मानते हैं कि कोई भी समाज अस्तरीकृत अथवा वर्गविहीन नहीं है तथा फिर यह जानने का प्रयास करते हैं कि समाज की ऐसी कौन–सी आवश्यकता इससे पूरी होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक समाज में व्यक्तियों का स्थान निर्धारण करने तथा उन्हें प्रेरित करने के लिए सामाजिक स्तरीकरण अनिवार्य है। किसी भी समाज में

सभी पदों को एक समान दृष्टि से नहीं देखा जाता। सामाजिक स्तरीकरण अचेतन रूप से विकसित एक ऐसी युक्ति है जिससे समाज इस बात की सुनिश्चित व्यवस्था करता है कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थितियों पर सर्वाधिक योग्य व्यक्ति ही रहें। समाज के लिए अपरिहार्य एवं महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति के लिए व्यक्तियों को प्रेरणा देना तथा ऐसे पदों पर नियुक्त व्यक्तियों को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सम्मान देना अनिवार्य है। अगर पद कम महत्त्वपूर्ण हैं तथा उसे आसानी से भरा जा सकता है तो उस पद पर नियुक्त व्यक्ति को इतना अधिक सम्मान नहीं दिया जाता। अतः सामाजिक स्तरीकरण समाज के लिए अनिवार्य है। इसके अभाव में सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकती है।

हरालाम्बोस एवं **हैल्ड** (Haralambos and Heald) ने डेविस एवं मूर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त का सार इन शब्दों द्वारा बताने का प्रयास किया है–''डेविस एवं मूर सामाजिक स्तरीकरण को सभी समाजों के लिए प्रकार्यात्मक आवश्यकता मानते हैं। वे इसे सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के सम्मुख विकसित समस्या, अर्थात् सामाजिक संरचना में व्यक्तियों के स्थान निर्धारण व प्रेरणा, का समाधान मानते हैं। उनके अनुसार इस समस्या के समाधान का कोई और साधन नहीं है तथा वे इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक संस्तरण मानव समाज का अपरिहार्य लक्षण है। उनका निष्कर्ष है कि विभेदनक पुरस्कार (Differential rewards) समाज के लिए प्रकार्यात्मक हैं तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक हैं।''

(2) मार्क्सवादी सिद्धान्त–सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त मार्क्सवादियों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। यह सिद्धान्त, वास्तव में, सामाजिक वर्गों के अस्तित्व पर प्रकाश डालता है। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व एवं अस्वामित्व के आधार पर प्रत्येक समाज में दो वर्ग पाए जाते हैं–पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग। दोनों वर्गों के उद्देश्यों में परस्पर विरोध पाया जाता है जिसके कारण उनमें संघर्ष होता है। मार्क्स ने आज तक के अस्तित्व वाले समाजों के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास बताया है। स्वतन्त्र व दास, कुलीन व अकुलीन, सामन्त और अर्द्ध–दास, अत्याचारी व पीड़ित, बुर्जुआ व सर्वहारा वर्ग विभिन्न कालों में पाए जाने वाले स्तरीकरण के सूचक हैं। अतः मार्क्सवादी सिद्धान्त निजी सम्पत्ति (उत्पादन के साधन) तथा वर्ग संघर्ष के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या करता है। यद्यपि मार्क्स ने इस संघर्ष के परिणामस्वरूप वर्गविहीन समाज के निर्माण की कल्पना की थी परन्तु यह अभी तक सार्थक रूप से हमारे सामने नहीं आ पाया है। यह सिद्धान्त भी भारतीय जाति व्यवस्था जैसे स्तरीकरण को समझने में अधिक उपयुक्त नहीं है। सिद्धान्त में क्योंकि राजनीतिक क्रिया का एकमात्र आधार सामाजिक वर्ग माना गया है, अतः इसकी व्याख्यात्मक क्षमता काफी सीमित है।

मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में केवल आर्थिक कारकों को सामाजिक स्तरीकरण में महत्त्वपूर्ण माना है तथा इस प्रकार अन्य सभी कारकों की उपेक्षा की है। इसलिए मार्क्स का सिद्धान्त एक संकुचित सिद्धान्त माना जाता है। **डेहरेन्डोर्फ** (Dahrendorf) जैसे विद्वानों ने इस बात पर भी बल दिया है कि वर्ग संघर्ष कभी भी पूरे समाज के स्तर पर नहीं होता है अपितु समाज के अन्तर्गत पाए जाने वाले छोटे–छोटे समूहों के बीच होता है। केवल वर्ग संघर्ष के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या नहीं की जा सकती है। साथ ही, यह सिद्धान्त भारतीय जाति व्यवस्था जैसे स्तरीकरण को समझने में अधिक उपयुक्त नहीं है। इस सिद्धान्त में क्योंकि राजनीतिक क्रिया का एकमात्र आधार सामाजिक वर्ग माना गया है, अत: इसकी व्याख्यात्मक क्षमता काफी सीमित है।

सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवादी एवं मार्क्सवादी सिद्धान्त अलग–अलग विचारधाराओं पर आधारित है। इन दोनों में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं–

(1) प्रकार्यवादी सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण सार्वभौम, अनिवार्य एवं अपरिहार्य है, जबकि मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार यह सार्वभौम होते हुए भी अनिवार्य या अपरिहार्य नहीं है।

(2) प्रकार्यवादी सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का रूप सामाजिक संगठन या सामजिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित होता है, जबकि मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार स्तरीकरण का रूप सामाजिक संगठन या सामाजिक व्यवस्था को निर्धारित करता है।

(3) प्रकार्यवादी सिद्धान्त के अनुसार स्तरीकरण की उत्पत्ति समाज की एकीकरण एवं समन्वयात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु होती है, जबकि मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार विजय, प्रतियोगिता एवं संघर्ष स्तरीकरण की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हैं।

(4) प्रकार्यवादी सिद्धान्त के अनुसार स्तरीकरण समाज को बनाए रखने में सहायक है, जबकि मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार स्तरीकरण समाज को बनाए रखने में बाधक है।

(5) प्रकार्यवादी सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक पहलू समाज के अन्य पहलुओं के अधीन होता है, जबकि मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक पहलू सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

(6) प्रकार्यवादी सिद्धान्त के अनुसार स्तरीकरण की व्यवस्था में परिवर्तन उद्विकासवादी प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप होता है, जबकि मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार स्तरीकरण की व्यवस्था में परिवर्तन सामान्यत: क्रान्तिकारी प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप होता है।

टी० बी० बॉटोमोर का कहना है कि इन दोनों सिद्धान्तों में वह सार्वभौमिकता नहीं है जिसका ये दावा करते हैं। अनेक विद्वान् आज इन दोनों सिद्धान्तों में समन्वय की बात करते हैं।

9.10 सारांश

समाज का विभिन्न स्तरों में विभाजन सामाजिक स्तरीकरण कहलाता है। इन स्तरों में श्रेणीबद्धता पाई जाती है अर्थात् सभी स्तर एक–समान न होकर प्रतिष्ठा, प्रभाव, शक्ति, सम्पत्ति तथा सुविधाओं आदि की दृष्टि से संस्तरित होते हैं। यह विशिष्ट प्रकार की सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया है जिसमें ऊँच–नीच का सुस्पष्ट विभाजन पाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज के लिए प्रकार्यात्मक होने के नाते सर्वविद्यमान है। कोई भी समाज सामाजिक स्तरीकरण को पूर्ण रूप से समाप्त करने में सफल नहीं रहा है। इसलिए इसे एक सार्वभौम प्रक्रिया माना जाता है। सामाजिक स्तरीकरण के तीन प्रमुख आधार हैं–प्राणिशास्त्रीय (आयु, प्रजाति तथा लिंग); सामाजिक (नृजातीय एवं अनृजातीय) तथा आर्थिक (सम्पत्ति, व्यवसाय आदि)। इसके अतिरिक्त राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधार पर भी समाजों में श्रेणीबद्धता पाई जाती है। प्रकार्यात्मक होने के बावजूद सामाजिक विषमता की व्यवस्था होने के नाते इसके अनेक अकार्य हैं। सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या हेतु प्रकार्यवादी एवं मार्क्सवादी सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। प्रकार्यवादी सिद्धान्त स्तरीकरण को समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक मानता है, जबकि मार्क्सवादी सिद्धान्त उत्पादन के साधनों के आधार पर निर्मित वर्गों को इसका मूल कारण मानता है।

9.11 शब्दावली

सामाजिक स्तरीकरण – समाज का विभिन्न स्तरों में विभाजन सामाजिक स्तरीकरण कहा जाता है। इन स्तरों की स्थिति एक–समान न होकर संस्तरण पर आधारित होती है।

सामाजिक विभेदीकरण – यह वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों एवं समूहों में भिन्नता उत्पन्न होती है।

प्रकार्यवाद – समाजशास्त्र की वह विचारधारा जो किसी इकाई की व्याख्या उसकी समाज में उपयोगिता द्वारा करती है अर्थात् यह बताने का प्रयास करती है कि अमुक इकाई समाज की किसी–न–किसी आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होती है।

मार्क्सवाद – समाजशास्त्र की वह विचारधारा जो आर्थिक आधार पर समाज में पाए जाने वाले विभाजन पर बल देती है।

9.12 अभ्यास प्रश्न

15. सामाजिक स्तरीकरण किसे कहते हैं? इसके प्रमुख आधार बताइए।
16. सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक विभेदीकरण की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए तथा दोनों में पाए जाने वाले अन्तर बताइए।
17. सामाजिक स्तरीकरण को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
18. सामाजिक स्तरीकरण से आप क्या समझते हैं? यह समाज के लिए क्यों आवश्यक है?
19. सामाजिक स्तरीकरण क्या है? इसके प्रकार्यों एवं अकार्यों का उल्लेख कीजिए।
20. सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। इसकी व्याख्या हेतु प्रतिपादित सिद्धान्तों को संक्षेप में समझाइए।

9.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

F. E. Lumley (1929), **Principles of Sociology**, Harcourt, Brace and Company, New York.

Karl Marx (1963), **Selected Writings in Sociology and Social Philosophy** (Translated by T. B. Bottomore), C A Watts, ***London.***

Kingsley Davis (1949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.

Kingsley Davis and Wilbert E. Moore (1945), "Some Principles of Stratification" in **American Sociological Review**, Vol. X, April, p. 242-249.

M. Haralambos and R. M. Heald (1997), **Sociology :Themes and Perpectives**, Oxford University Press, New Delhi.

M. Neumeyer (1933), **The Community and Society : An Introduction To Sociology,** *American Book Company*, New York.

P. Gisbert (1973), **Fundamentals of Sociology**, Orient BlackSwan Private Limited, New Delhi.

R. L. Sutherland and J. L. Woodward (1940), **Introductory Sociology**, J. B. Lippincott Company, *Chicago.*

Ronald C. Federico (1983), **Sociology**, McGraw-Hill Companies, New York.

T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.

Talcott Parsons (1951), **The Social System**, The Free Press, Glencoe, IL.

Vilfredo Pareto (1916), **The Mind and Society**, Harcourt, Brace and Company, New York.

W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff (1964), **A Handbook of Sociology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

इकाई 10 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप : जाति एवं वर्ग
Forms of Social Stratification: Caste & Class

इकाई की रूपरेखा

10 उद्देश्य

10.12 प्रस्तावना

10.13 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप अथवा प्रकार

10.14 जाति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

10.15 जाति की प्रमुख विशेषताएँ
10.16 वर्ग की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
10.17 वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ
10.18 जाति एवं वर्ग में अन्तर
10.19 क्या जाति एक बन्द वर्ग है?
10.20 सारांश
10.21 शब्दावली
10.22 अभ्यास प्रश्न
10.23 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपको सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा समझाने का प्रयास किया गया था। प्रस्तुत इकाई में सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या की गई है। सामाजिक स्तरीकरण के दो प्रमुख स्वरूप माने जाते हैं–जाति एवं वर्ग व्यवस्था। इसलिए इन दोनों प्रकारों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप अथवा प्रकार समझ पाएँगे;
- जाति की अवधारणा की व्याख्या कर पाएँगे;
- जाति की विशेषताओं की स्पष्टतया चर्चा कर पाएँगे;
- वर्ग की अवधारणा स्पष्ट कर पाएँगे;
- वर्ग की विशेषताओं का उल्लेख कर पाएँगे;
- जाति एवं वर्ग में अन्तर स्पष्ट कर पाएँगे; तथा
- यह समझ पाएँगे कि जाति को एक बन्द वर्ग क्यों कहा जाता है?

10.1 प्रस्तावना

इस खण्ड की पहली इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ गए होंगे कि सामाजिक स्तरीकरण वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज विभिन्न स्तरों में विभाजित हो जाता है। यह स्तर ऊँच–नीच पर आधारित होते हैं। यह एक अत्यन्त प्राचीन व्यवस्था है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचारकों के भिन्न–भिन्न विचार हैं। **गमप्लोविज** व **ओपन मेयर** आदि विचारकों की यह धारणा है कि इसकी उत्पत्ति एक समूह द्वारा दूसरे समूह को जीतने की परम्परा से हुई। विजय के परिणामस्वरूप विजयी समूह को विजित समूह के ऊपर अधिकार प्राप्त हो जाता है तथा वह उच्च बन जाता है। इसके विपरीत, विजित समूह अधीन अथवा निम्न वर्ग हो जाता है। **सिसिल नार्थ** ने भी इस मत का समर्थन किया है तथा अपनी पुस्तक **सोशल डिफरेंशियेशन** में कहा है कि जब तक मनुष्य शान्तिपूर्ण ढंग से रहते रहे, उस समय तक समाज में किसी भी प्रकार की स्थायी वर्ग व्यवस्था की उत्पत्ति नहीं हुई। **सोरोकिन** ने भी इस मत का समर्थन किया है। उनका मत है कि विजय तथा संघर्ष को स्तरीकरण का कारण माना जा सकता है, पर उन्होंने इसे स्तरीकरण का एकमात्र अथवा महत्त्वपूर्ण कारक न मानकर केवल एक सहायक कारक माना है। इसकी उत्पत्ति का कारण चाहे कुछ भी हो, यह एक शाश्वत तथ्य है कि प्रत्येक समाज अपने सदस्यों को उच्चता, निम्नता व समानता के आधार पर विभेदीकृत करता है। **मरडॉक** ने 250 समाजों में से 74 समाजों में आयु व लिंग के आधार पर स्तरीकरण पाया। जातीय आधार अथवा वर्ग के आधार पर श्रेणीबद्धता अथवा स्वतन्त्र व दासों में श्रेणीबद्धता

सामाजिक स्तरीकरण ही है। अतः सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में यह जानना आवश्यक हो जाता है कि यह व्यवस्था किन स्वरूपों में विद्यमान है।

10.2 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप अथवा प्रकार

अत्यन्त प्राचीन व्यवस्था होने के कारण सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप सभी समाजों में एक जैसा नहीं है। यह एक सार्वभौम तथ्य है कि ऊँच–नीच की यह व्यवस्था सभी समाजों में किसी–न–किसी रूप में विद्यमान रही है तथा आज भी है। **टी0 बी0 बॉटोमोर** के मतानुसार सामाजिक स्तरीकरण के निम्नलिखित चार प्रमुख रूप हैं–

(अ) जाति व्यवस्था–जाति व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। भारतीय समाज में जातिगत स्तरीकरण ही पाया जाता है। जाति एक अन्तर्विवाही समूह है जिसकी सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। विभिन्न जातियों की स्थिति एक समान नहीं होती अपितु उनमें ऊँच–नीच का एक स्वीकृत क्रम होता है। वह ऊँच–नीच की ऐसी व्यवस्था है जो भारतीय समाज में हजारों वर्षों में विद्यमान रही है। **किंग्सले डेविस** के अनुसार जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) जाति की सदस्यता आनुवंशिक होती है। जन्म के समय ही बच्चा अपने माता–पिता के पद को ग्रहण कर लेता है।

(2) आनुवंशिक सदस्यता सम्पूर्ण जीवन के लिए स्थायी होती है, यदि कोई व्यक्ति जाति से बहिष्कृत कर दिया जाये तो दूसरी बात है अन्यथा वह अपने किन्हीं भी प्रयत्नों से अपनी जाति नहीं बदल सकता। वह अपने जातिगत पद को अच्छे कार्यों से, विवाह से, कपट–वेश धारण करके, अन्यथा किसी अन्य कौशल से नहीं बदल सकता।

(3) जीवन साथी का चुनाव पूर्णतः संजातीय–विवाही होता है, क्योंकि इसका उसी जातीय समूह में पूर्ण होना अनिवार्य है।

(4) इसमें दूसरी जातियों से सम्पर्क की स्थापना को स्पर्श, सहयोग, भोजन, निवास आदि के प्रतिबन्धों द्वारा बहुत सीमित कर दिया जाता है।

(5) जातिगत सदस्यता की चेतना को जातीय नामों के धारण करने से और भी अधिक बल मिलता है।

(6) किसी भी स्थान पर विभिन्न जातियों की सापेक्षिक प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से स्थापित है तथा साथ ही ईर्ष्या से सम्पन्न है।

(7) जाति एक सामान्य परम्परागत व्यवसाय और अतीत में बँधी रहती है। यद्यपि यह इसके अतिरिक्त सामान्य जनजातीय अथवा प्रजातीय उत्पत्ति सम्बन्धी विश्वासों, सामान्य धार्मिक कृत्यों अथवा किन्हीं अन्य सामान्य विशेषताओं के द्वारा भी संगठित हो सकती है।

जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण के एक स्वरूप के रूप में उसकी प्रकृति स्पष्ट होती है। जाति की सदस्यता व्यक्ति को जन्म से ही मिल जाती है तथा वह इसे किसी भी व्यक्तिगत योग्यता या अर्जित स्थिति के आधार पर परिवर्तित नहीं कर सकता है। इसीलिए इसे बन्द व्यवस्था भी कहा जाता है।

(ब) वर्ग व्यवस्था–सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा प्रमुख स्वरूप वर्ग व्यवस्था है। पश्चिमी समाजों में वर्ग संस्तरण ही प्रमुख रूप में पाया जाता है। वर्ग व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिनकी प्रस्थिति एक समान होती है। **लेपियर** के अनुसार सामाजिक वर्ग एक सांस्कृतिक समूह है जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशिष्ट स्थिति या पद प्राप्त होता है। वर्ग व्यवस्था में भी ऊँच–नीच का एक निश्चित क्रम पाया जाता है। इसकी सदस्यता अर्जित होने के कारण, व्यक्ति अपनी क्षमता, योग्यता एवं प्रयासों द्वारा इसे बदल सकता है। प्रत्येक वर्ग की अपनी विशिष्ट

संस्कृति होती है, इसका प्रमुख आधार आर्थिक प्रस्थिति है तथा सदस्यों में अपने वर्ग के प्रति चेतना पायी जाती है। आर्थिक प्रस्थिति के आधार पर जनसंख्या को उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग में विभाजित किया जा सकता है। यह आर्थिक संस्तरण पर आधारित स्तरीकरण का प्रमुख स्वरूप है।

पश्चिमी समाजों तथा अमेरिका आदि देशों में मुख्य रूप से वर्ग संरचना पायी जाती है जिसका आकार बहुत कुछ पिरामिड की भाँति होता है। सम्पूर्ण समाज को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है–प्रथम वर्ग, उन लोगों का है जिनका सम्पूर्ण उत्पादन की इकाइयों पर एकाधिकार होता है जैसे पूँजीपति वर्ग, जिनका जीवन स्तर उच्च होता है तथा जिन्हें कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त होते हैं। दूसरा वर्ग, जिनमें योग्यता और ज्ञान अधिक होता है। इनकी सहायता से उत्पादन के साधनों का उचित प्रयोग किया जाता है, उन्हें उच्च वेतन और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और ऐसे लोग प्रबन्धक वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। तीसरे वर्ग को व्यावसायिक वर्ग कहा जाता है जिसके सदस्यों की सेवाएँ समाज के लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं। चौथा वर्ग, मध्यस्थ वर्ग है, जिसके अन्तर्गत मध्यम वर्ग के व्यापारी, कार्यालय के कर्मचारी आदि होते हैं। इनका कार्य उत्पादन तथा उपभोक्ताओं के मध्य मध्यस्थता का कार्य करना होता है। पाँचवाँ वर्ग उन लोगों का है जो अपना श्रम बेचकर दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु जितना श्रम वे बेचते हैं उसकी तुलना में पारिश्रमिक नहीं मिलता, जिसके कारण यह वर्ग निर्धनता का शिकार होता है।

(स) दास प्रथा–दास प्रथा भी सामाजिक स्तरीकरण का एक अनुपम स्वरूप है जिसमें ऊँच–नीच की सर्वाधिक असमानता पायी जाती है। **हॉबहाउस** के अनुसार, "दास वह व्यक्ति है जिसे कानून और परम्परा दोनों दूसरे की सम्पत्ति मानते हैं। कुछ विशिष्ट स्थितियों में वह पूर्णतः अधिकार विहीन होता है तथा कुछ स्थितियों में उसकी रक्षा ठीक उसी प्रकार की जाती है जैसे एक बैल या गधे की।" यूनान, मिस्र, चीन तथा रोम साम्राज्यों में दास प्रथा का अत्यधिक प्रचलन रहा है।

एक सामाजिक संस्था के रूप में दास प्रथा को सामाजिक स्तरीकरण का एक ऐसा स्वरूप माना जा सकता है जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर सम्पत्ति के अधिकार प्रदान करता है। उत्पादन के किसी भी अन्य साधनों की भाँति दास को भी 'एक वस्तु' समझा जाता है। यह प्रथा कई प्रकार के गुलाम देशों में पाई जाने वाली बंधुआ मजदूर प्रथा, कृषि दास प्रथा आदि के समतुल्य मानी जाती है। गुलामी दास प्रथा का सबसे प्रचलित रूप रहा है। गुलामों के रूप में दास की खरीद–फरोत की जाती रही है। ऐसे व्यक्तियों की अपनी खुद की कोई व्यक्तिगत प्रस्थिति नहीं होती थी। इनकी इच्छाओं या अनिच्छाओं का कोई महत्त्व नहीं होता था।

दास एक प्रकार से व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह है जिसे खरीदा एवं बेचा जा सकता है। पूर्णतः अधिकारों से वंचित होने के कारण दास प्रथा असमानता की कल्पनातीत स्थिति है। प्रत्येक दास का एक स्वामी होता है जिसे उससे हर तरह का काम लेने का पूर्ण अधिकार होता है। एक दास पर मालिक का आधिपत्य होता है तथा वह मालिक की सम्पत्ति माना जाता है। दास की स्थिति सभी व्यक्तियों में निम्नतर होती है तथा इसका प्रमुख आधार आर्थिक रहा है। **अरस्तू** के अनुसार दास जीते–जागते उपकरण हैं और उनकी भूमिका पशुओं के तुल्य मानी जाती है। अरस्तू ने दास प्रथा का औचित्य स्थापित करने के लिए यह तर्क दिया है कि कुछ मनुष्यों में नैतिक उत्कृष्टता की अधिक क्षमता पायी जाती है तथा कुछ में कम। इसी के आधार पर उन्हें स्वामी और दास की भूमिका सम्भाल लेनी चाहिए, जिसमें दोनों का कल्याण होता है।

पश्चिमी समाजों में दास प्रथा को नागरिक स्वतन्त्रता के विरोध में देखा जाता है। एक स्वतन्त्र नागरिक वह होता है जिस पर किसी दूसरे व्यक्ति का कोई स्वामित्व का अधिकार नहीं होता है, उसे न तो खरीदा–बेचा जा सकता है और न ही दूसरों के लिए उसकी इच्छा के विरुद्ध काम लेने के लिए प्रेरित किया जाता है। आधुनिक समाजों में सभी नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर बल दिया जाने लगा है। इसीलिए दास प्रथा लगभग सभी समाजों में समाप्त हो गई है।

आधुनिक विचारधारा सभी मनुष्यों को नैतिक दृष्टि से समान क्षमता तथा विवेक से सम्पन्न मानती है और किसी भी मनुष्य को किसी भी आधार पर दूसरे की सम्पत्ति नहीं माना जाता।

(द) सम्पदाएँ–सम्पदाएँ (जागीरें) भी सामाजिक स्तरीकरण का एक स्वरूप हैं। मध्य युग के यूरोप में यह प्रणाली प्रचलित रही है तथा यह प्रथा कानून द्वारा मान्य थी। उन दिनों समाज तीन प्रमुख सत्ता–वर्गों में बँटा हुआ था–कुलीन वर्ग, पुरोहित वर्ग तथा कृषक वर्ग। थोड़ी–बहुत गतिशीलता को छोड़कर प्रस्थिति मुख्यतः प्रदत्त ही होती थी। अतः सम्पदाएँ सामाजिक स्तरीकरण का वह रूप है जिसमें विभिन्न वर्गों की सामाजिक प्रस्थिति एक जैसी नहीं होती और वह मुख्यतः भूमि, जन्म और सैन्य शक्ति के साथ जुड़ी रहती है।

सम्पदा को एक ऐसा सामाजिक स्तर कहा जा सकता है जिसके साथ कुछ विशिष्ट अधिकार और कर्त्तव्य जुड़े होते हैं। इन अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को कानूनी मान्यता प्राप्त होती है। इस शब्द का अधिकतर प्रयोग सामन्तवादी यूरोप की संस्तरण व्यवस्था के सन्दर्भ में किया गया है। एक सम्पदा व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसकी समान प्रस्थिति उसी अर्थ में होती है जिस अर्थ में वकील लोग इस शब्द का प्रयोग करते हैं। सम्पदा वास्तव में संस्तरण की एक ऐसी व्यवस्था है जिसका निर्धारण भूमि के साथ परिवार के सम्बन्धों के आधार पर होता है। कुलीन वर्ग (सामन्त) और दास का उल्लेख इसी सन्दर्भ में किया जाता है। सम्पदा धार्मिक नियमों की अपेक्षा राजनीतिक आधार पर मानव निर्मित कानूनों द्वारा बनी होती है। ये कानून जहाँ व्यवस्था को परिभाषित करते हैं वहीं दूसरी ओर वे स्तर में गतिशीलता पर नियन्त्रण भी करते हैं। समाजशास्त्र में **टॉनीज** तथा **वेबर** ने सम्पदाओं को प्रस्थिति समूह कहा है।

बॉटोमोर के अनुसार सम्पदाओं की तीन प्रमुख विशेषताएँ रही हैं–

(1) सम्पदाओं में स्पष्ट श्रम–विभाजन था,

(2) प्रत्येक सम्पदा की एक स्पष्ट एवं परिभाषित प्रस्थिति थी तथा

(3) सम्पदाएँ राजनीतिक समूह थीं।

इन विशेषताओं के आधार पर सम्पदाओं में विभिन्न प्रकार या वर्ग पाए जाते हैं। प्रमुख रूप से तीन प्रकार के वर्गों का प्रचलन अधिक रहा है–(i) पादरी वर्ग, (ii) सरदार तथा (iii) साधारण जनता। तीनों में ऊँच–नीच का एक निश्चित क्रम पाया जाता रहा है तथा तीनों की अपनी विशिष्ट जीवन शैली रही है। भारत में वह प्रथा कभी प्रचलित रही है या नहीं यह एक वाद–विवाद का विषय है।

10.3 जाति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

जाति व्यवस्था भारतीय सामाजिक संरचना की एक अनुपम एवं बहुर्चिचत विशेषता है जो कि हिन्दू धर्म द्वारा पूर्णतः अनुमोदित है। यह व्यवस्था मेगस्थनीज के समय से लेकर आज तक किसी भी विदेशी का ध्यान आर्किषत करने से नहीं चूकी है। आर्यों के पूर्वकाल में भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण ही आर्यों के आने

के पश्चात् अनेक जातियों में परिवर्तित हो गए। आज भारत में लगभग तीन हजार जातियाँ व उपजातियाँ हैं और समाजशास्त्रीय दृष्टि से इनका अध्ययन अत्यावश्यक है। जाति व्यवस्था यद्यपि भारतीय समाज की एक अनुपम विशेषता है, तथापि यह नेपाल तथा अन्य देशों, जहाँ पर हिन्दुओं की संख्या काफी है, में भी पाई जाती है। जाति व्यवस्था, एक ओर, हिन्दू सामाजिक संरचना के प्रकार को प्रकट करती है, तो दूसरी ओर, हिन्दुओं के आचरण को भी निश्चित करती है। मुस्लिम, ईसाई, यहूदी सभी, विभिन्न मात्राओं में, इसके प्रभाव के आगे परास्त हो गए हैं। यह तो भारत में स्वयं जिन्दगी की मौलिक लय है। ऐसा कहा जाता है कि भारत की वायु में 'जाति' है। जो भी यहाँ साँस लेता है, जाति के तत्त्व उसमें प्रवेश कर जाते हैं।

जाति शब्द अंग्रेजी शब्द 'कास्ट' (Caste) का हिन्दी रूपान्तर है। इसका पहला उपयोग 1563 ई० में **ग्रेसिया डी ओर्टा** (Gracia de Orta) ने किया था। उनके शब्दों में, ''लोग अपने पैतृक व्यवसाय को परिवर्तित नहीं करते हैं। इस प्रकार जूते बनाने वाले लोग एक ही प्रकार (जाति) के हैं।'' इसी अर्थ में **अब्बे डुबायस** (Abbe Dubois) ने इसे प्रयुक्त किया है। उनका मत है कि 'कास्ट' शब्द यूरोप में किसी कबीले और वर्ग को व्यक्त करने के लिए उपयोग में लिया जाता रहा है। **ए० आर० वाडिया** (A. R. Wadia) का मत है कि 'कास्ट' शब्द लैटिन भाषा के 'कास्टस' (Castus) से मिलता–जुलता शब्द है जिसका अर्थ विशुद्ध प्रजाति या नस्ल होता है। कुछ लोग इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'कास्टा' (Casta) से मानते हैं जिसका अर्थ प्रजातीय तत्त्व, नस्ल, अथवा पैतृक गुणों से सम्पूर्ण है। हिन्दी का 'जाति' शब्द संस्कृत भाषा की 'जन' धातु से बना है जिसका अर्थ 'उत्पन्न होना' व 'उत्पन्न करना' है। इस दृष्टिकोण से जाति का अभिप्राय जन्म से समान गुण वाली वस्तुओं से है। परन्तु समाजशास्त्र में 'जाति' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया जाता है।

प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई जाति की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–**रिजले** (Risley) के अनुसार–''यह परिवार या कई परिवारों का संकलन है जिसको एक सामान्य नाम दिया गया है, जो किसी काल्पनिक पुरुष या देवता से अपनी उत्पत्ति मानता है तथा पैतृक व्यवसाय को स्वीकार करता है और जो लोग विचार कर सकते हैं उन लोगों के लिए एक सजातीय समूह के रूप में स्पष्ट होता है।'' **मैकाइवर** एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार–''जब व्यक्ति की प्रस्थिति पूर्णत: पूर्वनिश्चित होती है अर्थात् जब व्यक्ति अपनी प्रस्थिति में किसी भी तरह के परिवर्तन की आशा लेकर नहीं उत्पन्न होता, तब वर्ग जाति के रूप में स्पष्ट होता है।'' **मजूमदार** एवं **मदन** (Majumdar and Madan) के अनुसार–''जाति एक बन्द वर्ग है।''

दत्त (Dutta) के अनुसार–''एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते हैं। अन्य जाति के लोगों के साथ भोजन करने और पानी पीने के सम्बन्ध में इसी प्रकार के परन्तु कुछ कम कठोर नियन्त्रण हैं। अनेक जातियों के कुछ निश्चित व्यवसाय हैं। जातियों में संस्तरणात्मक श्रेणियाँ हैं, जिनमें सर्वोपरि ब्राह्मणों की सर्वोच्च स्थिति है। मनुष्य की जाति का निर्णय जन्म से होता है। यदि व्यक्ति नियमों को भंग करने के कारण जाति से बाहर न निकाल दिया गया हो तो एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन होना सम्भव नहीं है।'' **कूले** (Cooley) के अनुसार–''जब कोई भी वर्ग पूर्णतः वंशानुक्रमण पर आधारित हो जाता है तो वह जाति कहलाता है।'' **केतकर** (Ketkar) के अनुसार–''जाति जिस रूप में आज है उसे एक सामाजिक समूह के रूप में समझा जा सकता है जो मुख्यतः दो विशेषताओं से मिलकर बनता है–पहले यह कि इसके सदस्य जन्म से ही बन जाते हैं, दूसरे सभी सदस्य अत्यन्त कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह से बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।'' जाति की

परिभाषाओं के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जाति का पद व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होता है तथा जाति की सदस्यता केवल उसमें पैदा होने वाले व्यक्तियों तक ही सीमित होती है। एक बार जाति में जन्म लेने के बाद जाति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। जाति अन्तर्विवाही होती है अर्थात् एक जाति के व्यक्ति को विवाह अपनी जाति में ही करना होता है। प्रत्येक जाति का व्यवसाय निश्चित रहता है तथा उसमें भोजन तथा सामाजिक सहवास से सम्बन्धित प्रतिबन्ध होते हैं। यदि इन परिभाषाओं का विश्लेषण समकालीन भारतीय समाज के सन्दर्भ में किया जाए तो हमें यह ज्ञात होता है कि ये समस्त परिभाषाएँ आधुनिक युग में जाति का यथार्थ चित्र अंकित नहीं कर पातीं। अभी तक किसी वास्तविक सामान्य परिभाषा की प्राप्ति नहीं की जा सकी है। वास्तव में, समाजशास्त्रियों ने तो जाति की परिभाषा देने की अपेक्षा उसकी विशेषताओं का ही विवरण प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में **जी० एस० घुरिये** (G. S. Ghurye) का कहना है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि विषय की जटिलता के कारण परिभाषा देने के हर प्रयास का असफल होना निश्चित है। दूसरी ओर, इस विषय पर बहुत–सा साहित्य इस 'जाति' शब्द की सुनिश्चितता के अभाव के कारण क्षत–विक्षत सा पड़ा है।

10.4 जाति की प्रमुख विशेषताएँ

एन० के० दत्त ने जाति व्यवस्था के निम्नलिखित छह लक्षणों का उल्लेख किया है–

(1) जाति का कोई भी सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकता है।

(2) प्रत्येक जाति में भोजन और खान–पान सम्बन्धी कुछ–न–कुछ प्रतिबन्ध होते हैं जो सदस्यों को अपनी जाति से बाहर भोजन करने पर रोक लगाते हैं। ये प्रतिबन्ध प्रत्येक जाति में लागू होते हैं।

(3) प्रायः जाति के पेशे निश्चित होते हैं।

(4) सभी जातियों और उप–जातियों में एक ऊँच–नीच या संस्तरण की व्यवस्था पाई जाती है जिसमें ब्राह्मण जाति का स्थान सर्वोपरि है और उसे सर्वोच्च मान्यता प्राप्त है।

(5) जन्म के साथ ही व्यक्ति की जाति का निश्चय जीवन भर के लिए हो जाता है। केवल जाति के नियमों के विपरीत कार्य करने पर ही उसे जाति से निकाला जाता है। इसके अतिरिक्त, एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है।

(6) सम्पूर्ण जाति व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है।

जी० एस० घुरिये ने भी जाति व्यवस्था के छह लक्षणों का उल्लेख किया है। ये लक्षण इस प्रकार हैं–

(1) समाज का खण्डात्मक विभाजन,

(2) संस्तरण,

(3) भोजन व सामाजिक व्यवहार पर नियन्त्रण,

(4) विभिन्न उपविभागों की नागरिक तथा धार्मिक योग्यताएँ तथा विशेषाधिकार,

(5) निर्बाध व्यवसाय के चुनाव का अभाव तथा

(6) विवाह पर नियन्त्रण।

एम० एन० श्रीनिवास के अनुसार पिछली शताब्दियों के दौरान प्रचलित जाति के लक्षणों को निम्नलिखित नौ शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णित किया जा सकता है–

(1) संस्तरण अथवा पदानुक्रम,

(2) अन्तः विवाह तथा अनुलोम विवाह,

(3) व्यावसायिक सम्बद्धता,

(4) भोजन, जलपान एवं धूम्रपान पर प्रतिबन्ध,

(5) प्रथा, भाषा एवं पहनावे का भेद,

(6) अपवित्रीकरण,

(7) संस्कार एवं अन्य विशेषाधिकार तथा निर्योग्यताएँ,

(8) जाति संगठन तथा

(9) जाति गतिशीलता।

जाति व्यवस्था के दो पक्ष होते हैं–संरचनात्मक व सांस्कृतिक। इन दोनों पक्षों के मिले–जुले लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

(1) भारतीय समाज का खण्डात्मक विभाजन–जाति व्यवस्था से भारतीय समाज खण्डों में विभाजित हो गया है और यह विभाजन सूक्ष्म रूप में हुआ है। प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति तथा भूमिका सुस्पष्ट व सुनिश्चित रूप से परिभाषित हुई है। घुरिये ने इसे सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता माना है। उनके शब्दों में, ''इसका तात्पर्य यह है कि जाति व्यवस्था द्वारा, बँधे समाज में हमारी भावना भी सीमित होती है, सामुदायिक भावना सम्पूर्ण मनुष्य समाज के प्रति न होकर केवल जाति के सदस्यों तक सीमित होती है तथा जातिगत आधार पर सदस्यों को प्राथमिकता दी जाती है।'' इस प्रकार, यह विभाजन एक नैतिक नियम है और प्रत्येक सदस्य इसके प्रति सचेत होता है। यह उन्हें अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है जिसके आधार पर वे अपने पद और कार्यों में दृढ़ होते हैं। साधारणत: कर्त्तव्य–पालन न करने पर जाति से निष्कासन की व्यवस्था होती है या आर्थिक दण्ड दिया जाता है।

(2) ऊँच–नीच की परम्परा अथवा संस्तरण–जाति व्यवस्था में ऊँच–नीच की परम्परा स्थापित होती है जिसमें ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च होता है और निम्न स्तर शूद्र लोगों का होता है। क्षत्रिय व वैश्य लोगों की स्थिति क्रमशः इनके मध्य की होती है। पुनः ये चार वर्ण अनेक जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो गए हैं। हम की भावना सीमित होने से सदस्य केवल अपने खण्ड या जाति के लोगों को ही महत्त्व देते हैं और उनमें श्रेष्ठता की भावना भी जन्म लेती है। परन्तु कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमें सामाजिक दूरी इतनी कम है कि उनमें ऊँच–नीच के आधार पर जो सामाजिक संरचना स्पष्ट हुई है वही संस्तरण परम्परा है। जातीय संस्तरण रक्त की पवित्रता, पूर्वजों के व्यवसाय के प्रति आस्था व अन्यों के साथ भोजन व पानी के प्रतिबन्ध आदि विचारों पर आधारित होती है।

(3) जन्म से जाति का निर्धारण–जाति व्यवस्था का निश्चय जन्म के साथ ही हो जाता है। व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है उसी जाति समूह में वह जीवनपर्यन्त रहता है। इस वातावरण को न तो धनाढ्यता अलग कर सकती है, न निर्धनता, न सफलता और न असफलता ही। जाति के ही वंशधर उस जाति के सदस्य माने जाते हैं। जाति से बहिष्कार द्वारा ही व्यक्ति निम्न जाति में जाता है, अन्य किसी भी कारक द्वारा व्यक्ति अपनी जाति की सदस्यता परिवर्तित नहीं कर सकता है। इस सन्दर्भ में **ए० आर० वाडिया** ने कहा है कि, ''हिन्दू जन्म से हिन्दू हो सकता है। रूढ़िवादी जाति व्यवस्था के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति परिवर्तन के द्वारा हिन्दू नहीं हो सकता है।''

(4) भोजन और सामाजिक सहवास सम्बन्धी निषेध–भारतीय जाति व्यवस्था प्रत्येक जाति के सदस्यों के लिए अपने समूह के बाहर भोजन और सामाजिक सहवास पर नियन्त्रण रखती

है। इन नियमों का बड़ी कठोरता से पालन किया जाता है। नगरीकरण और आवागमन के साधनों के विकास के कारण अब यह नियन्त्रण नगरों एवं औद्योगिक क्षेत्रों में ढीला होता जा रहा है, पर गाँवों में यह नियन्त्रण आज भी काफी मात्रा में देखा जा सकता है। प्रत्येक जाति में ऐसे नियम बड़े सूक्ष्म रूप से बनाए गए हैं जो यह निर्धारण करते हैं कि किसी जाति के सदस्य को (मुख्यत: जो ऊँची जातियों के हैं) कहाँ कच्चा भोजन करना है, कहाँ पक्का तथा कहाँ केवल जल ग्रहण करना है और कहाँ जल पीना भी निषिद्ध है। आधुनिक युग में यातायात के साधनों व शिक्षा में विकास के कारण और शासकीय प्रयत्नों आदि के कारण ये निषेध कमजोर होते जा रहे हैं। फिर भी, ग्रामीण भारत में आज की परिस्थिति में भी काफी हद तक ये सीमाएँ या निषेध प्रचलित हैं।

(5) अन्तर्विवाह–सभी जातियाँ अन्तर्विवाही होती हैं अर्थात् जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति में विवाह करना पड़ता है। यह निषेध आज बहुत जगहों में जाति तक नहीं वरन् उप–जाति तक सीमित हो गया है। जाति व्यवस्था के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह अस्वीकृत हैं। **वेस्टरमार्क** (Westermarck) ने जाति व्यवस्था की इस विशेषता को इसका सार–तत्त्व माना है। **घुरिये** (Ghurye) का भी यही मत है कि जाति व्यवस्था का अन्तर्विवाही सिद्धान्त इतना कठोर है कि समाजशास्त्री इसे जाति व्यवस्था का प्रमुख तत्त्व मानते हैं। व्यावहारिक रूप में यह अन्तर्विवाह भी भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत बँधा हुआ है। एक जाति की कई उप–जातियाँ होती हैं और प्रायः एक ही प्रान्त में रहने वाली उप–जातियों में विवाह होते हैं।

(6) परम्परागत पेशों का चुनाव–मुख्यत: सभी जातियों के कुछ निश्चित पेशे होते हैं और जाति के सदस्य अपने उन्हीं पैतृक पेशों को स्वीकार करते हैं। उन्हें छोड़ना उचित नहीं समझा जाता। कोई भी पेशा, चाहे वह व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करे या न करे, उसे मानसिक सन्तोष हो या न होय व्यक्ति को परम्परागत पेशों को ही अपनाना पड़ता है। साधारणतः लोग अपने पैतृक पेशे को ही अपनाना उचित समझते रहे हैं। पेशों का भी निर्धारण ऊँच–नीच के आधार पर होता रहा है। यदि उच्च जाति का कोई व्यक्ति निम्न जाति के पेशों को अपनाता है तो उनका जातीय विरोध होता रहा है। इसी प्रकार, निम्न जाति का सदस्य जब उच्च जाति के पेशों को अपनाता है तो उसका भी विरोध होता था। परन्तु आजकल इन नियमों में भी शिथिलता आ गई है।

(7) धार्मिक और सामाजिक निर्योग्यताएँ एवं विशेषाधिकार–जिस प्रकार जाति व्यवस्था में संस्तरण है ठीक उसी प्रकार इसमें धर्म और समाज सम्बन्धी निर्योग्यताएँ भी हैं। प्रत्येक मानव निवास की जगह में, मुख्यतः गाँवों में, यदि देखा जाए तो अछूतों और अन्य निम्न जातियों की निवास व्यवस्था गाँवों के छोर पर रहती थी। उनके धार्मिक और नागरिक अधिकार भी सीमित होते थे। इसके विपरीत, ऊँची जातियों को सभी अधिकार प्राप्त रहे हैं तथा धर्म की पूरी छूट थी। साधारणतः शारीरिक श्रम करने वाली जातियाँ निम्न समझी जाती रही हैं। त्रावनकोर के वैकम (Vaikam) गाँव की विशिष्ट गलियों में अछूत जातियों ने प्रवेश करने की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए आन्दोलन किया था। परम्परागत रूप से दक्षिण भारत में तो ये निर्योग्यताएँ अपनी चरम सीमा पर रही हैं। वहाँ अछूतों को कुछ विशेष सड़कों पर चलने की मनाही थी। इतिहास इस बात का उदाहरण है कि पेशवाओं और मराठों ने पूना शहर के दरवाजों के भीतर मसार और मूँग जाति के लोगों का शाम तीन बजे से सुबह नौ बजे तक प्रवेश वर्जित कर दिया था। इसके अतिरिक्त, दक्षिण भारत में अछूत सवर्णों के ऊपर अपनी छाया नहीं डाल सकते थे तथा उनके सामने नहीं जा सकते थे। **ब्लण्ट** (Blunt) ने कहा है कि गुजरात में दलित जातियाँ अपने विशिष्ट चिह्न के रूप में सींग पहना करती थीं।

(8) आर्थिक असमानता–जाति व्यवस्था में आर्थिक असमानता का भी समावेश है। जाति व्यवस्था के निर्माण के साथ–साथ यह भावना भी चली कि जो निम्न है उसे कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। निम्न जाति के कार्य, चाहे वह जीवन–यापन के लिए कितने ही उपयोगी क्यों न हों, मूल्यों की दृष्टि से हीन समझे जाते रहे हैं। इस प्रकार उनकी आय, सम्पत्ति और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ भी बहुत कम रही हैं। उनकी शिक्षा–दीक्षा आदि का सदा से अभाव रहा है। परम्परागत रूप से भारतीय जाति व्यवस्था की यह विशेषता रही है कि सामान्यतः उच्च जातियों की आर्थिक स्थिति भी उच्च रही है और निम्न जातियों की आर्थिक स्थिति भी निम्न रही है।

10.5 वर्ग की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

किसी भी संस्था या समाज की इकाई का अस्तित्व तब तक बना रहता है जब तक कि वह समाज की किसी–न–किसी आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो। जब यही संस्था या इकाई समाज के लिए अकार्यात्मक (Dysfunctional) हो जाती है तो उसे या तो नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन करना पड़ता है अथवा ऐसा न करने पर उसके विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। कई बार परिवर्तन की नवीन शक्तियाँ उपयोगी संस्थाओं व इकाइयों में भी ऐसे अवगुण भर देती हैं कि उनका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। क्या जाति व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है? जाति व्यवस्था की समाप्ति या इसका भविष्य इसके द्वारा किए जाने वाले प्रकार्यों तथा अकार्यों पर निर्भर करता है।

समाज में भौतिक संस्कृति की वृद्धि तथा औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप समाज का स्तरीकरण रक्त की शुद्धता एवं जन्म के आधार पर न होकर सामाजिक स्थिति, राजनीतिक स्थिति एवं आर्थिक स्थिति के आधार पर या तीनों के सम्मिलित रूप से होता है। वर्ग व्यवस्था भी सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रकार है। चूँकि वर्ग अर्जित पदों को महत्त्व देता है तथा इसमें मनुष्य अपनी योग्यता के आधार पर उच्च पद को ग्रहण कर सकता है और उच्च वर्ग का सदस्य हो सकता है। अतः यह व्यवस्था जाति के विपरीत खुली एवं लोचपूर्ण व्यवस्था है तथा इसमें परम्परागत कठोरता नहीं पाई जाती है।

कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर आदि विचारकों का मत है कि वर्ग मुख्यतः आर्थिक अन्तर पर आधारित हैं। कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि प्राचीन युग से ही समाज आर्थिक आधार पर दो वर्गों में बँटा हुआ है। पहले जब कृषि युग था तब दो प्रमुख वर्ग थे–जमींदार तथा कृषक, सामन्त तथा दास, औद्योगीकरण के बाद पूँजीपति तथा श्रमिक। चाहे पूँजीपति वर्ग को लें अथवा जमींदार या सामन्त वर्ग को, इनके पास भौतिक सम्पन्नताएँ अधिक थीं। वे मालिक रहे हैं और कृषक, दास एवं श्रमिक वर्ग के लोग प्राचीन युग से ही अच्छी कोटि की सुविधाओं से वंचित रहे हैं। आखिर सामाजिक वर्ग क्या है? इसे हम इसके अर्थ एवं प्रमुख परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं।

सामाजिक वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का ही एक स्वरूप है। यह मुख्यतः आर्थिक समानताओं एवं समान जीवन के अवसरों पर आधारित समूह है। अन्य शब्दों में, हम यह कह सकते है कि सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसके सदस्यों की आर्थिक स्थिति, जीवन–यापन हेतु उपलब्ध अवसर एवं अन्य विशेषताएँ समान होती हैं तथा जिनके सदस्यों में अपने समूह के प्रति चेतना पाई जाती है।

प्रमुख विद्वानों ने सामाजिक वर्ग की परिभाषाएँ इस प्रकार से दी हैं–**ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार–''एक निश्चित समाज में मुख्य रूप से एक ही पद वाले व्यक्तियों के समूह को सामाजिक वर्ग कहा जाता है।'' **मैकाइवर** एवं **पेज** (MacIver and

Page) के अनुसार–''सामाजिक वर्ग एक समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से पृथक् दृष्टिगोचर होता है।'' **जिसबर्ट** (Gisbert) के अनुसार–''एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का समूह अथवा विशेष श्रेणी है, जिसका समाज में एक विशेष पद होता है। यह विशेष पद ही अन्य समूहों से उनके सम्बन्धों को स्थायी रूप से निर्धारित करता है।'' **लेपियर** (LaPiere) के अनुसार–''सामाजिक वर्ग एक सांस्कृतिक समूह है जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशिष्ट स्थिति या पद दिया जाता है।'' **बॉटोमोर** (Bottomore) के अनुसार–''सामाजिक वर्ग तथ्यत: कानूनी एवं धार्मिक रूप से परिभाषित एवं मान्य समूह होते हैं जोकि बन्द नहीं हैं अपितु खुले हैं। उनका आधार निर्विवाद रूप से आर्थिक है लेकिन वे आर्थिक समूहों से अधिक होते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक वर्ग एक समान स्थिति वाले व्यक्तियों का एक समूह है। इससे अभिप्राय सामाजिक संस्तरण की उस मुक्त व्यवस्था से है जो योग्यता, शिक्षा तथा आर्थिक स्थिति पर आधारित हो सकती है।

10.6 वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ

सामाजिक वर्ग की परिभाषाओं से इसकी अनेक मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं जो कि निम्नलिखित हैं–

(1) निश्चित संस्तरण–वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति कुछ श्रेणियों में विभाजित होते हैं। यद्यपि वर्गों की संख्या के बारे में विद्वानों में सहमति नहीं है फिर भी यह निश्चित है कि कुछ वर्गों का स्थान ऊँचा और कुछ का नीचा होता है।

(2) वर्ग की सर्वव्यापकता–वर्ग मानव समाज की एक सर्वव्यापी प्रघटना है। मार्क्स के अनुसार वर्ग व्यवस्था प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल में भी किसी–न–किसी रूप में सदैव विद्यमान रही है। यद्यपि इन्होंने वर्गविहीन समाज की कल्पना की थी, परन्तु अधिकांश विद्वान् वर्गविहीन समाज को केवल एक दिवास्वप्न मानते हैं क्योंकि मानव जीवन के इतिहास में इसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है।

(3) वर्ग चेतना–वर्ग चेतना के कारण वर्ग–विशेष के सदस्यों में समानता की भावना प्रोत्साहित होती है व उस वर्ग को स्थायित्व प्राप्त होता है। **कार्ल मार्क्स** ने वर्ग चेतना को वर्ग के निर्माण की एक अनिवार्य विशेषता माना है क्योंकि केवल समान आर्थिक स्थिति ही वर्ग के निर्धारण में पर्याप्त नहीं है।

(4) अर्जित सदस्यता–वर्ग की सदस्यता जन्म द्वारा नहीं वरन् योग्यता और कुशलता द्वारा अर्जित होती है। व्यक्ति अपनी क्षमता एवं योग्यता से वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। एक व्यक्ति, जो निम्न वर्ग का सदस्य है, प्रयत्न करने से उच्च वर्ग का सदस्य बन सकता है। ठीक उसी प्रकार, एक उच्च वर्ग का सदस्य अपनी अयोग्यता के कारण निम्न वर्ग का सदस्य बन सकता है।

(5) मुक्त व्यवस्था–वर्ग जाति के समान बन्द व्यवस्था न होकर मुक्त व्यवस्था है। किसी व्यक्ति का वर्ग उसकी परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी हो सकता है। इसी गतिशीलता के कारण इसे मुक्त व्यवस्था कहा गया है। प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर उपलब्ध हैं जिससे कि वह अपने गुणों, योग्यता तथा क्षमता के आधार पर उच्च वर्ग का सदस्य बन सके। उदाहरण के लिए–एक सामान्य श्रमिक अपनी मेहनत, लगन व योग्यता से उसी फैक्टरी का निदेशक तक बन सकता है जिसमें कि वह काम करता है।

(6) सीमित सामाजिक सम्बन्ध–प्रत्येक वर्ग के सदस्य अपने ही वर्ग के सदस्यों से सम्बन्ध रखते हैं। सामान्यतः उच्च वर्ग के सदस्य निम्न वर्ग के सदस्यों से सम्बन्ध स्थापित करने में सम्मान की हानि समझते हैं अर्थात् उनमें उच्चता की भावना (Superiority complex) होती है। ठीक इसके विपरीत, निम्न वर्ग के लोगों में निम्नता की भावना (Inferiority complex) होने के कारण, वे उच्च वर्ग के लोगों से मिलने या सम्बन्ध बढ़ाने में झिझक महसूस करते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वर्ग व्यवस्था में भी जाति की तरह अन्य समूहों के साथ रहने एवं खाने–पीने पर प्रतिबन्ध पाए जाते हैं। इसमें केवल अपने वर्ग के सदस्यों के साथ सम्पर्कों को प्राथमिकता दी जाती है।

(7) आर्थिक आधार–वर्ग निर्माण में आर्थिक आधार को ही प्रधानता दी जाती है। विशेषकर मार्क्स ने वर्ग निर्माण में आर्थिक आधार को प्रधानता दी है। सामान्यतः समाज तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त होता है–(1) उच्च वर्ग, (2) मध्यम वर्ग तथा (3) निम्न वर्ग। इन वर्गों को पुनः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–उच्च, मध्यम तथा निम्न। उदाहरणार्थ, उच्च वर्ग को उच्च–उच्च वर्ग, मध्यम–उच्च वर्ग एवं निम्न–उच्च वर्ग; मध्यम वर्ग को उच्च–मध्यम वर्ग, मध्यम–मध्यम वर्ग एवं निम्न–मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग को उच्च–निम्न वर्ग, मध्यम–निम्न वर्ग एवं निम्न–निम्न वर्ग में विभाजित किया जा सकता है।

(8) सामान्य जीवन–यद्यपि प्रत्येक वर्ग के सदस्य को किसी भी प्रकार के जीवन–यापन की स्वतन्त्रता होती है। फिर भी, वर्ग के सदस्यों से यह आशा की जाती है कि जिस प्रकार का वर्ग हो उसी के अनुरूप सदस्य जीवन–यापन करें। उच्च, मध्यम एवं निम्न, तीन वर्गों का एक विशिष्ट जीवन प्रतिमान होता है और उससे सम्बन्धित सदस्य उसे अपनाते हैं। इतना ही नहीं, एक वर्ग के सदस्यों के जीवन अवसरों में भी समानता पाई जाती है।

(9) सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण–वर्ग सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण करता है। व्यक्ति जिस वर्ग का सदस्य होता है उसी वर्ग के अनुरूप समाज में उसकी प्रस्थिति निर्धारित हो जाती है। परन्तु यह प्रस्थिति स्थायी नहीं है, क्योंकि मुक्त व्यवस्था होने के कारण स्वयं वर्ग की सदस्यता व्यक्ति की योग्यता के आधार पर परिवर्तित हो सकती है।

10.7 जाति एवं वर्ग में अन्तर

जाति तथा वर्ग यद्यपि सामाजिक स्तरीकरण के ही दो भिन्न स्वरूप हैं तथा दोनों ऊँच–नीच की भावनाओं पर आधारित हैं, फिर भी इन दोनों में अनेक मूलभूल अन्तर हैं। दोनों में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर अग्रांकित हैं–

(1) निर्धारण–जाति जन्म पर आधारित है। एक बार किसी जाति में जन्म लेने के बाद उस जाति की सदस्यता जीवन भर बनी रहती है। परन्तु वर्ग व्यवस्था में जन्म को आधार नहीं माना जाता अपितु योग्यता, शिक्षा, क्षमता, आर्थिक स्थिति आदि के आधार पर वर्ग का निर्धारण होता है।

(2) जीवन साथी के चुनाव की स्वतन्त्रता–प्रत्येक जाति में यह बाध्यता होती है कि सदस्य अपनी जाति में ही विवाह करें। आज्ञा का उल्लंघन करने वालों को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। परन्तु वर्ग में इस प्रकार का कोई निश्चित नियम नहीं होता है, पर सामान्यतः एक वर्ग के सदस्य अपने ही वर्ग में विवाह करने की इच्छा रखते हैं।

(3) सदस्यता–जाति की सदस्यता प्रदत्त है अर्थात् इसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। साथ ही, किसी जाति में सदस्य होने के बाद स्वेच्छा तथा प्रयत्न से दूसरी जाति

का सदस्य नहीं बना जा सकता है। परन्तु वर्ग की सदस्यता अर्जित है अर्थात् इसे अपनी योग्यताओं व क्षमताओं से प्राप्त किया जा सकता है।

(4) व्यवसाय–जातिगत व्यवसाय निश्चित होते हैं, परन्तु वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति अपनी रुचि तथा क्षमता के अनुसार व्यवसाय चुन सकता है।

(5) सामाजिक दूरी–जाति व्यवस्था में खान–पान पर प्रतिबन्ध पाए जाते हैं, परन्तु वर्ग व्यवस्था में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं पाया जाता है। इसीलिए परम्परागत रूप से विभिन्न जातियों में खान–पान पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध रहे हैं। वर्ग व्यवस्था में इस प्रकार के प्रबन्धों का अभाव पाया जाता है।

(6) अस्पृश्यता–जाति व्यवस्था में ऊँच–नीच इस सीमा तक पाई जाती थी कि कुछ अछूत जातियों को उच्च जातियाँ अपने समीप तक नहीं आने देती थीं। अस्पृश्यता जाति का एक सबसे गम्भीर दुष्परिणाम है। वर्ग व्यवस्था में इस सीमा तक ऊँच–नीच नहीं पाई जाती है।

(7) स्थिरता–जाति व्यवस्था एक बन्द व्यवस्था होने के कारण अधिक स्थिर व्यवस्था है, जबकि वर्ग व्यवस्था जाति की अपेक्षा कम स्थिर व्यवस्था है।

(8) संस्तरण–यद्यपि जाति एवं वर्ग दोनों में संस्तरण पाया जाता है फिर भी वर्ग की अपेक्षा जातियों में संस्तरण अधिक स्पष्ट एवं सुनिश्चित है।

10.8 क्या जाति एक बन्द वर्ग है?

जाति एवं वर्ग सामाजिक स्तरीकरण (संस्तरण) के दो प्रमुख रूप हैं। भारतीय समाज में जातिगत स्तरीकरण पाया जाता है, जबकि अमेरिका तथा पश्चिमी समाजों में वर्ग के आधार पर स्तरीकरण पाया जाता है। वर्ग व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसके सदस्यों की आर्थिक स्थिति तथा जीवन–यापन का ढंग एक जैसा है। यह स्तरीकरण की एक मुक्त व्यवस्था है जो योग्यता, शिक्षा तथा आर्थिक स्थिति पर आधारित होती है। वर्ग का आधार जन्म नहीं है वरन् व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति एवं योग्यता है। एक वर्ग के व्यक्तियों का जीवन–यापन का ढंग प्रायः एक–सा होता है और इसी आधार पर एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग किया जाता है।

मजूमदार एवं मदन ने जाति को एक बन्द वर्ग कहा है। यह कथन पूर्णतः सही है क्योंकि वर्ग व्यवस्था में जो खुलापन व लचीलापन पाया जाता है अगर उसे समाप्त कर दिया जाए तो उसमें जाति की विशेषताएँ आ जाएँगी। खुलेपन के अभाव में वर्ग की सदस्यता योग्यता पर आधारित न रहकर जन्म पर आधारित हो जाएगी जोकि जाति व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण है। साथ ही खुलापन बन्द हो जाने पर विभिन्न वर्गों में अनेक निषेध भी विकसित हो जाएँगे। कोई भी व्यक्ति न तो अपने वर्ग को बदल सकेगा और न ही विशेष गतिशीलता होगी जिससे वह अपनी स्थिति में परिवर्तन कर पाएगा। अन्य शब्दों में वर्ग को पूर्णतः बन्द कर देने से वह जाति बन जाएगा।

वास्तव में, मजूमदार एवं मदन का कथन जाति को वर्ग की दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास है। क्योंकि वर्ग को स्तरीकरण के खुले रूप में देखा जाता है और जाति को बन्द रूप में इसलिए उन्हें एक–दूसरे के विपरीत परिभाषित करने के लिए दोनों का अर्थ व प्रकृति का पता होना चाहिए। **सी० एच० कूले** (C. H. Cooley) की परिभाषा भी लगभग इसी तरह की है। उनका कहना है कि, ''जब कोई भी वर्ग पूर्णतः वंशानुक्रमण पर आधारित हो जाता है तो वह जाति कहलाता है।'' यह सही है क्योंकि वंशानुगत स्थिति केवल जाति के आधार पर ही सम्भव है।

10.9 सारांश

समाज के विभिन्न स्तरों में पाए जाने वाले संस्तरण को समाजशास्त्र में सामाजिक स्तरीकरण कहा जाता है। पिछली इकाई की पाठ्यसामग्री के आधार पर आप इस अवधारणा को समझ गए होंगे। सामाजिक स्तरीकरण के चार प्रमुख स्वरूप बताए जाते हैं–जाति, वर्ग, दास–प्रथा तथा सम्पदाएँ। जाति एवं वर्ग को इसके दो प्रमुख स्वरूप माना गया है क्योंकि दास–प्रथा एवं सम्पदाएँ अब विश्व में महत्त्वहीन हो गई हैं। भारत में सामाजिक स्तरीकरण की एक अनुपम व्यवस्था पाई जाती है जिसे जाति कहा जाता है। जाति की सदस्यता व्यक्ति को जन्म से ही मिल जाती है तथा वह अपने सम्पूर्ण जीवन में उसी का सदस्य बना रहता है अर्थात् जाति की सदस्यता को किसी भी कार्य से बदला नहीं जा सकता है। जाति की परिभाषा देना एक कठिन कार्य है तथा अधिकांश विद्वानों ने इसकी परिभाषा इसके लक्षणों के आधार पर देने का प्रयास किया है। जाति व्यक्तियों का एक अन्तर्विवाही समूह है जिसका सामान्य नाम है, एक परम्परागत व्यवसाय है, जिसके सदस्य एक ही स्रोत से अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं तथा काफी सीमा तक सजातीयता का प्रदर्शन करते हैं। जाति के विपरीत वर्ग सामाजिक स्तरीकरण की एक खुली व्यवस्था है जिसे मुख्य रूप से आर्थिक आधार पर परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि विभिन्न वर्गों में भी संस्तरण पाया जाता है तथापि कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के वर्ग को अपने गुणों एवं प्रस्थिति के आधार पर बदल सकता है। पश्चिमी समाजों में सामाजिक स्तरीकरण की यही व्यवस्था विद्यमान है। यदि वर्ग में पाए जाने वाले खुलेपन को हम बन्द कर दें, तो इसका रूप लगभग वैसा ही हो जाएगा जैसा कि जाति का है। इसीलिए जाति को एक बन्द वर्ग कहा जाता है। यह सही है कि जाति एक बन्द वर्ग है, परन्तु जाति को वर्ग की दृष्टि से परिभाषित करना उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि भारत में वर्ग व्यवस्था अभी पूरी तरह से विकसित नहीं हुई है।

10.10 शब्दावली

जाति – जाति व्यक्तियों का एक अन्तर्विवाही समूह है जिसकी सदस्यता जन्मजात होती है। किसी जाति के सदस्य सामान्य पूर्वजों में विश्वास करते हैं तथा उनके जीवन में काफी सीमा तक सजातीयता पाई जाती है।

जातिवाद – अपनी जाति के प्रति निष्ठा की वह भावना जातिवाद कहलाती है जिसमें व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के हितों को अनदेखा करता है।

वर्ग – वर्ग उन व्यक्तियों एक ऐसा योग है जिनका किसी समाज में निश्चित रूप से एक–समान आर्थिक स्तर होता है।

वर्ग चेतना – किसी वर्ग के सदस्यों में अपने वर्ग के प्रति पाई जाने वाली चेतना को वर्ग चेतना कहते हैं।

बन्द वर्ग – जब वर्ग में पाए जाने वाला खुलापन समाप्त कर दिया जाता है तो वह बन्द वर्ग कहलाता है।

10.11 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख स्वरूप बताइए।
2. जाति किसे कहते हैं? जाति की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
3. जाति को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रमुख लक्षणों को संक्षेप में बताइए।
4. वर्ग किसे कहते हैं। वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
5. वर्ग को परिभाषित कीजिए। क्या जाति एक बन्द वर्ग है? समझाइए।

6. जाति एवं वर्ग की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए तथा दोनों में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर बताइए।

10.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

C. H. Cooley (1909), **Social Organization : A Study of the Larger Mind**, Charles Scribner's Sons, New York.

C. H. Cooley (1933), **Introductory Sociology**, Charles Scribner's Sons, New York.

D. N. Majumdar and T. N. Madan (1960), **An Introduction to Social Anthropology**, Asia Publishing House, Bombay.

F. E. Lumley (1929), **Principles of Sociology**, Harcourt, Brace and Company, New York.

G. S. Ghurye (1950), **Caste, Class and Occupation**, Popular Book Depot, Bombay.

Herbert H. Risley (1915), **The People of India**, Thacker, Spink & Company, London.

Kingsley Davis (1949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.

Kingsley Davis and Wilbert E. Moore (1945), "Some Principles of Stratification" in **American Sociological Review**, Vol. X, April, p. 242-249.

L. T. Hobhouse (1920), **Morals in Evolution : A Study in Comparative Ethics**, H. Holt, New York.

M. Haralambos and R. M. Heald (1997), **Sociology : Themes and Perpectives**, Oxford University Press, New Delhi.

M. Neumeyer (1933), **The Community and Society : An Introduction To Sociology,** American Book Company, New York.

N. K. Dutta (1931), **Origin and Growth of Caste in India**, Trench, Trubner And Company, Ltd., London.

P. Gisbert (1973), **Fundamentals of Sociology**, Orient BlackSwan Private Limited, New Delhi.

R. L. Sutherland and J. L. Woodward (1940), **Introductory Sociology,** J. B. Lippincott Company, Chicago.

R. M. MacIver and C. H. Page (1962), **Society : An Introductory Analysis**, Holt, Rinehart and Winston, New York.

R. T. LaPiere (1946), **Sociology**, McGraw-Hill Book Company, New York.

S. V. Ketkar (1909), **The History of Caste in India**, Rawat Publications, Jaipur.

T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.

W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff (1964), **A Handbook of Sociology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

इकाई 11 जेण्डर, प्रजाति एवं सामाजिक असमता
Gender,Race & Social Inequality

इकाई की रूपरेखा

11 उद्देश्य

11.8 प्रस्तावना

11.9 जेण्डर

11.2.1. जेण्डर की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

11.2.2 लिंग एवं जेण्डर में अन्तर

11.3 प्रजाति

11.3.1 प्रजाति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

11.3.2 प्रजाति के प्रमुख तत्त्व

11.3.3 प्रजाति के प्रमुख लक्षण
11.4 सामाजिक असमता
11.4.1 सामाजिक असमता का अर्थ
11.4.2 सामाजिक असमता के प्रमुख प्रकार
11.4.3 लैंगिक तथा प्रजातीय असमता
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 अभ्यास प्रश्न
11.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में जेण्डर, प्रजाति एवं सामाजिक असमता की अवधारणाओं को समझाने का प्रयास किया गया है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- जेण्डर की अवधारणा तथा लिंग एवं जेण्डर में अन्तर को समझ पाएँगे;
- प्रजाति की अवधारणा, इसके प्रमुख तत्त्वों एवं लक्षणों की व्याख्या कर पाएँगे;
- सामाजिक असमता की अवधारणा तथा इसके प्रमुख प्रकारों की स्पष्टतया चर्चा कर पाएँगे; तथा
- भारत में लैंगिक तथा प्रजातीय असमता को समझ पाएँगे।

11.1 प्रस्तावना

जेण्डर, प्रजाति एवं सामाजिक असमता सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक विभेदीकरण से सम्बन्धित विषय हैं। प्रत्येक समाज में जेण्डर के आधार पर संस्तरण पाया जाता है। सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर प्रत्येक समाज पुरुषों एवं स्त्रियों में विभेद करता है। इसी भाँति शारीरिक लक्षणों के आधार पर व्यक्ति की प्रजाति का पता चलता है। इस पहचान के आधार पर विभिन्न प्रजातियों में उच्चता एवं निम्नता की भावना पाई जाती है। सामाजिक असमता न केवल सामाजिक क्षेत्र में अपितु राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी विद्यमान होती है। कोई भी समाज ऐसा नहीं है जिसमें किसी न किसी रूप में सामाजिक असमता ना पाई जाती हो।

11.2 जेण्डर

'लिंग' एवं 'जेण्डर' शब्दों का प्रयोग सामान्यतः पर्यायवाची रूप में किया जाता है। यदि अंग्रेजी–हिन्दी शब्दकोश में जेण्डर का अर्थ देखा जाए तो इसे लिंग ही कहा गया है। आज न केवल अनेक भाषाविद् अपितु समाज वैज्ञानिक इस तथ्य से सहमत हैं कि दोनों शब्द एक–दूसरे से भिन्न हैं। लिंग शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण विश्व में एक ही रूप में किया जाता है। सामान्य जनता भी इन दोनों में कोई भेद नहीं करती है। अतः पहले लिंग एवं जेण्डर में अन्तर समझ लेना आवश्यक है।

11.2.1 जेण्डर की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

लिंग से अभिप्राय जैविक एवं भौतिक विशेषताओं से है। जब हम स्त्री या पुरुष की बात करते हैं तो सम्पूर्ण विश्व में इसका अर्थ उन शारीरिक लक्षणों से लगाया जाता है जो दोनों को एक–दूसरे से अलग करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि–

लिंग = पुरुष एवं स्त्री (Sex = Male and Female)

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि लिंग से अभिप्राय जैविक अन्तरों (जैसे–क्रोमोसोम, हार्मोन, आन्तरिक एवं बाह्य यौनांग) से है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पुरुष एवं स्त्री के रूप में लिंग एक जैविक, भौतिक अथवा प्राकृतिक तथ्य है जो सम्पूर्ण संस्कृति में एक समान अर्थ में समझा जाता है। इसलिए 'लिंग' शब्द का अर्थ सभी समाजों में सार्वभौम रूप से पुरुष एवं स्त्री के जैविक अन्तरों की दृष्टि से समझा जाता है। सभी यह जानते हैं कि केवल स्त्रियों को मासिक धर्म होता है, वे गर्भवती हो सकती हैं तथा माँ बन सकती हैं, जबकि पुरुष में ऐसा कुछ नहीं होता है। केवल स्त्रियाँ ही शिशुओं को अपना दूध पिला सकती हैं पुरुष नहीं। इसी प्रकार शारीरिक अन्तर की दृष्टि से स्त्रियों में अण्डाशय या डिम्ब ग्रन्थियाँ (Ovaries) होती हैं, जबकि पुरुषों में अण्ड ग्रन्थियाँ (Testicles) पाई जाती हैं। अंग्रेजी भाषा में 1950 ई० तक 'लिंग' एवं 'जेण्डर' में कोई भेद नहीं किया जाता था।

लिंग के विपरीत जेण्डर (सामाजिक लिंग) एक सामाजिक–सांस्कृतिक तथ्य है, जिसे हम लिंग की सामाजिक रचना भी कह सकते हैं। यह किसी प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम न होकर सामाजिक संरचना द्वारा निर्मित प्रक्रियाओं की सामाजिक रचना होती है। विभिन्न समाजों में सामाजिक–सांस्कृतिक अन्तर होने के कारण जेण्डर के रूप में लिंग की यह सामाजिक रचना भिन्न–भिन्न प्रकार की हो सकती है। इसीलिए विभिन्न समाजों में अथवा एक ही समाज के विभिन्न युगों में जेण्डर से सम्बन्धित भूमिकाओं में भी अन्तर पाया जाता है। इस नाते जेण्डर एक स्थायी एवं अपरिवर्तनीय सामाजिक रचना नहीं है। जेण्डर पर आधारित पहचान गतिशील (गत्यात्मक) होती है तथा इसे बनाए रखने में अनेक कारकों की निरन्तर अन्तर्क्रिया उत्तरदायी मानी जाती है। इन कारकों में सामाजिक, राजनीतिक, लैंगिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक प्रमुख हैं। जेण्डर पर आधारित वर्गीकरण का आधार लिंग पर आधारित श्रम–विभाजन है, जिसके आधार पर यह परिभाषित किया जाता है कि स्त्रियों के लिए कौन–सा श्रम वांछनीय है तथा पुरुषों के लिए कौन–सा।

पुरुषों एवं स्त्रियों की जैविक प्रवृत्ति से ही सामाजिक भूमिकाएँ निर्धारित होती हैं। स्त्रियों को घर एवं चूल्हे से तथा पुरुषों को बाहरी दुनिया; स्त्रियों को प्रकृति तथा पुरुषों को संस्कृति; स्त्रियों को नीति तथा पुरुषों को सार्वजनिक; स्त्रियों को भावनाओं तथा पुरुषों को तार्किकता से जोड़ा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृति द्वारा निर्मित पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व का प्रचलन दोनों लिंगों में असमान शक्ति सम्बन्धों को बनाए रखने के लिए होता चला आ रहा है। स्त्रियों को सीमित भूमिका प्रदान की जाती है तथा यह उनके जैविक अनुभवों के इर्द–गिर्द ही घूमती है। यद्यपि यह सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश में परिवर्तन तथा स्त्री आन्दोलनों के परिणामस्वरूप थोड़ा–बहुत परिवर्तित हुआ है, फिर भी सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करने में इसे आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

1950 एवं 1960 के दशक में अंग्रेज एवं अमेरिकी मनोरोग एवं चिकित्सा विशेषज्ञों ने पहली बार 'लिग' एवं 'जेण्डर' में लिंग के जैविक तथ्य होने के रूप में तथा जेण्डर के इसकी सामाजिक–सांस्कृतिक रचना के रूप में अन्तर किया। तभी से नारीवादी विद्वान् जेण्डर पर आधारित भेदभाव के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते आ रहे हैं। उनका मत है कि जीवविज्ञान ही भाग्य का निर्धारण नहीं करता है अर्थात् स्त्री या पुरुष होना ही भाग्य रेखा को निर्धारित करने वाला एकमात्र तथ्य नहीं है। स्त्रियाँ भी वे सभी सामाजिक भूमिकाओं का निर्वहन कर सकती हैं जिनका पुरुष करते हैं। इसलिए लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाना स्त्रियों के प्रति किए जाने वाले अन्याय, अत्याचार एवं शोषण का द्योतक है। नारीवादी विद्वान् इस शोषण का विरोध करते हैं तथा पितृसत्ता के कारण लिंग पर आधारित भूमिकाओं तथा लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को अनुचित मानते हैं।

लिंग की सामाजिक रचना होने के नाते जेण्डर से अभिप्राय लिंग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार, भूमिकाओं, प्रत्याशाओं तथा समाज में की जाने वाली क्रियाओं से है। प्रत्येक समाज पुरुष एवं स्त्री से अलग व्यवहार की आशा करता है, उनकी भूमिकाओं, क्रियाओं एवं गतिविधियों में भी अन्तर पाया जाता है। अधिकांश समाजों में परम्परागत रूप से लिंग के आधार पर श्रम–विभाजन पाया जाता था, जिसके अनुसार स्त्रियों की भूमिका घर की चहारदीवारी के भीतर सीमित कर दी गई थी। पुरुष की भूमिका बाहर जाकर कार्य करने की रही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय भाषा में जेण्डर पर आधारित भूमिका से अभिप्राय विभिन्न संस्कृतियों में लिंग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार प्रतिमानों से है। ऐसा माना जाता है कि 'जेण्डर' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'जीनस' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ 'प्रकार' (Kind, type or sort) है। इसका अर्थ वर्ग के रूप में भी लिया जाता है। यह वह वर्ग है, जिसके साथ समाज की लिंगानुरूप मान्यताएँ जुड़ी होती हैं। महिलाओं का पुरुषों की तुलना में घरेलू कार्यों में संलग्न होना, लड़के के जन्म को लड़की की तुलना में अधिक प्राथमिकता देना, लड़के को माँ–बाप के बुढ़ापे का सहारा मानना तथा लड़की को पराया धन मानना, माता–पिता द्वारा लड़की की तुलना में लड़के की शिक्षा एवं रोजगार को अधिक प्राथमिकता देना, पुरुष को स्त्री की तुलना में अधिक ऊँची सामाजिक प्रस्थिति का मानना आदि जेण्डर से सम्बन्धित अन्तर माने जाते हैं।

जेण्डर सामाजिक–सांस्कृतिक शब्द हैं। सामाजिक–सांस्कृतिक रचना से सम्बन्धित करते हुए जेण्डर समाज में 'पुरुषों' और 'महिलाओं' के कार्यों और व्यवहारों को परिभाषित करता हैं, जबकि लिंग शब्द 'पुरुष' और 'महिला' को परिभाषित करता है जो एक जैविक और शारीरिक घटना है। अपने सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहलुओं में, जेण्डर पुरुष और महिलाओं के बीच सामाजिक–सांस्कृतिक अन्तर से सम्बन्धित है जहाँ पुरुष को महिला से श्रेष्ठ माना जाता है। इस तरह, 'जेण्डर' को मानव निर्मित सिद्धान्त समझना चाहिए, जबकि 'लिंग' मानव की प्राकृतिक या जैविक विशेषता है।

जेण्डर को स्त्री–पुरुष विभेद के सामाजिक संगठन अथवा स्त्री–पुरुष के मध्य असमान सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सुप्रसिद्ध विचारक **पेपनेक** (Pepneck) के अनुसार–''जेण्डर स्त्री तथा पुरुष से सम्बन्धित है, जो स्त्री–पुरुष की भूमिकाओं को सांस्कृतिक आधार पर परिभाषित करने का प्रयास करता है एवं स्त्री–पुरुष के विशेषाधिकारों से सम्बन्धित है। सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक आधार पर जेण्डर सामान्यतया शक्ति सम्बन्धों का कार्य तथा असमता का सामाजिक संगठन है।'' अतः स्पष्ट है कि जेण्डर लिंग की सामाजिक–सांस्कृतिक रचना है। इस नाते प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर स्त्रियों एवं पुरुषों को दी जाने वाली सुविधाओं एवं अधिकारों में किसी–न–किसी प्रकार का भेदभाव पाया जाता है।

11.2.2 लिंग एवं जेण्डर में अन्तर

लिंग एवं जेण्डर दो भिन्न धारणाएँ हैं। लिंग एक जैविक, प्राकृतिक या भौतिक तथ्य है, जबकि जेण्डर इसकी सामाजिक रचना है। दोनों में निम्नलिखित दो प्रमुख अन्तर पाए जाते हैं–

(1) लिंग स्थिर होता है तथा प्रकृति पर आधारित होता है, जबकि जेण्डर अस्थिर होता है तथा संस्कृति पर आधारित होता है। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि लिंग एक जैविक तथ्य है, जबकि जेण्डर सीखा हुआ व्यवहार है जो समय के साथ बदलता रहता है तथा विभिन्न संस्कृतियों में भी इसके स्वरूप में अन्तर हो सकता है।

(2) 'जेण्डर' शब्द सम्बन्धमूलक है क्योंकि यह केवल स्त्री या पुरुष का द्योतक नहीं है, अपितु उनमें पाए जाने वाले सम्बन्धों को भी स्पष्ट करता है, जबकि लिंग में ऐसा नहीं है क्योंकि यह केवल मात्र स्त्री या पुरुष का द्योतक है। किसी विशिष्ट समय में जेण्डर से अभिप्राय आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक लक्षणों एवं अवसरों से है जो पुरुष या स्त्री के साथ जुड़े होते हैं। अनेक समाजों में परम्परागत जेण्डर आधारित लक्षणों में भी भेद किया जाता है। उदाहरणार्थ, विनम्र होना स्त्रियोचित गुण है, जबकि प्रबल होना पुरुषोचित गुण है। इसी प्रकार, भावुक होना, ग्रहणशील होना, संकोची होना, निष्क्रिय होना अथवा कोमल हृदय होना स्त्रियोचित गुण माने जाते हैं, जबकि तार्किक होना, आग्रही होना, विश्लेषणपरक होना, बहादुर होना, सक्रिय होना तथा कठोर हृदय होना पुरुषोचित गुण माने जाते हैं, जिनको जेण्डर से जोड़ा जाता है।

सदियों तक यह माना जाता रहा है कि समाज में स्त्रियों एवं पुरुषों से जुड़े लक्षणों, भूमिकाओं एवं प्रस्थितियों का निर्धारण जीवविज्ञान (लिंग) द्वारा किया जाता है तथा प्राकृतिक होने के नाते इन्हें बदला नहीं जा सकता। इसी मानसिकता के कारण स्त्रियाँ सामाजिक पूर्वाग्रहों एवं भेदभाव का शिकार रही हैं। आज नारीवादी विद्वान् लिंग पर आधारित भूमिकाओं को प्राकृतिक व अटल नहीं मानते हैं तथा ऐसा कहकर स्त्रियों पर किए जाने वाले सभी प्रकार के भेदभाव का विरोध करते हैं। नारीवादी विद्वानों की यह मान्यता है कि स्त्री एवं पुरुष पर जो मान्यताएँ समाज थोप देता है, वे पितृसत्तात्मक सोच का परिणाम हैं जिसके कारण पुरुषों के लिए माने जाने वाले आदर्श स्त्रियों से भिन्न होते हैं। शारीरिक अन्तर के आधार पर स्त्रियों के साथ किया जाने वाला भेदभाव, शोषण एवं अत्याचार उन्हें आगे बढ़ने से रोकने का प्रयास है तथा उनकी क्षमताओं का अवमूल्यन करता है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि स्त्रियाँ भी कठिन–से–कठिन कार्य करने में सक्षम हैं तथा लिंग के आधार पर उन्हें कमजोर मानना अथवा उन्हें पुरुषों के समान आगे बढ़ने के अवसर न देना स्त्रियों के अधिकारों का हनन है, जिसका सभी को विरोध करना चाहिए।

11.3 प्रजाति

प्रजाति एक जैविक अवधारणा है। यह मानवों के उस समूह को प्रकट करती है जिनमें शारीरिक व मानसिक लक्षण समान होते हैं तथा ये लक्षण उन्हें पैतृकता के आधार पर प्राप्त होते हैं। शरीर के रंग, खोपड़ी और नासिका की बनावट व अन्य अंगों की बनावट के आधार पर विभिन्न प्रजाति समूहों को देखते ही पहचाना जा सकता है। प्रजातीय दृष्टि से भी भारतीय समाज अनेक वर्गों में विभक्त हो गया है। भारतवर्ष में संसार की सभी प्रमुख प्रजातियों की विशेषताओं वाले लोग पाए जाते हैं। **रिजले** (Risley) के अनुसार भारतीय प्रायद्वीप में वर्तमान में सात प्रमुख प्रजातियाँ निवास करती हैं जिनमें शारीरिक दृष्टि से अन्तर पाया जाता है। ये प्रजातियाँ हैं–द्रावेडियन, इण्डो–आर्यन, मंगोलॉयड, इण्डो–द्रावेडियन, मंगोल–द्रावेडियन, सीरियन एवं टर्की–ईरानियन। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदिकाल से ही भारत विभिन्न प्रजातियों का निवास स्थल रहा है। तभी से सभी का अपना अलग–अलग अस्तित्व भी रहा है। शारीरिक दृष्टि से विभिन्न प्रजातियाँ परस्पर एक–दूसरे से अलग–अलग रही हैं, परन्तु सभी लोग एक–दूसरे का अस्तित्व मानते रहे हैं। परन्तु अमेरिका आदि की तरह यहाँ कभी भी रंगभेद पर आधारित प्रजातीय संघर्ष देखने को नहीं मिलता है।

11.3.1 प्रजाति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

प्रजाति जैविक अवधारणा है जिसका प्रयोग सामान्यतः उस वर्ग के लिए किया जाता है जिसके अन्दर सामान्य गुण हैं अथवा कुछ गुणों द्वारा शारीरिक लक्षणों में समानता पाई जाती

है। प्रमुख विद्वानों ने प्रजाति की परिभाषा इस प्रकार से की है–**हॉबेल** (Hoebel) के अनुसार–''प्रजाति एक प्राणिशास्त्रीय अवधारणा है। यह वह समूह है जोकि शारीरिक विशेषताओं का विशिष्ट योग धारण करता है।'' **रेमण्ड फिर्थ** (Raymond Firth) के अनुसार–''प्रजाति व्यक्तियों का वह समूह है जिसके कुछ वंशानुक्रमण द्वारा निर्धारित सामान्य लक्षण हैं।'' **क्रोबर** (Kroeber) के अनुसार–''प्रजाति एक प्रमाणित प्राणिशास्त्रीय अवधारणा है। यह वह समूह है जोकि वंशानुक्रमण, नस्ल या प्रजातीय गुणों या उपजातियों के द्वारा जुड़ा है।'' **बेनेडिक्ट** (Benedict) के अनुसार–''प्रजाति पैतृकता द्वारा प्राप्त लक्षणों पर आधारित एक वर्गीकरण है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि प्रजाति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसे आनुवंशिक शारीरिक लक्षणों के आधार पर पहचाना जा सकता है। इन परिभाषाओं के आधार पर प्रजाति की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं–

(1) प्रजाति का अर्थ जन–समूह से होता है। अत: इसमें पशुओं की नस्लों को सम्मिलित नहीं किया जाता है।

(2) इस मानव समूह से तात्पर्य कुछ व्यक्तियों से नहीं है वरन् प्रजाति में मनुष्यों का बृहत् संख्या में होना अनिवार्य है।

(3) इस मानव समूह में एक–समान शारीरिक लक्षणों का होना अनिवार्य है। ये लक्षण वंशानुक्रमण के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहते हैं। शारीरिक लक्षणों के आधार पर इन्हें दूसरी प्रजातियों से पृथक् किया जाता है।

(4) प्रजातीय विशेषताएँ प्रजातीय शुद्धता की स्थिति में अपेक्षाकृत स्थायी होती हैं अर्थात् भौगोलिक पर्यावरण के बदलने से भी किसी प्रजाति के मूल शारीरिक लक्षण नहीं बदलते हैं।

11.3.2 प्रजाति के प्रमुख तत्त्व

प्रजाति कुछ विशेष तत्त्वों से मिलकर बनती है। यह विशेष तत्त्व उसके अस्तित्व को दूसरी प्रजातियों से भिन्न करते हैं। इन विशेष तत्त्वों के आधार पर ही प्रजाति का वर्गीकरण होता है। सामान्य रूप से प्रजातियों में भी तीन प्रकार के तत्त्व पाए जाते हैं–

(1) अन्तर्नस्ल के तत्त्व (Elements of inbreeding),

(2) विशेष शारीरिक लक्षणों के तत्त्व (Elements of distinctive physical traits) तथा

(3) वंशानुक्रमण के लक्षणों के तत्त्व (Elements of inheritance of traits)।

(1) अन्तर्नस्ल के तत्त्व–एक प्रजाति के लोग दूसरी प्रजाति के लोगों से विवाह नहीं करते हैं। इसका कारण पहले काफी सीमा तक भौगोलिक स्थिति रहा है। भौगोलिक स्थितियों के कारण एक प्रजाति के लोग दूसरों से कम मिल पाते हैं। दूसरे प्रत्येक प्रजाति स्थायित्व रखने का प्रयत्न करती है। गतिशीलता के अभाव में अन्तर्नस्ल का तत्त्व उग्र रूप से पाया जाता है, जैसे टुण्ड्रा प्रदेश के लैप, सेमीयड और एस्कीमों मानव। इनमें अन्तर्प्रजातीय विवाह होता है। यही कारण है कि अन्तर्नस्ल के तत्त्व उग्र रूप से मिलते हैं। इस प्रकार के विवाह से रक्त की शुद्धता, संस्कृति की रक्षा तथा समान प्रजातीय लक्षणों का स्थायित्व होता है। ऊँची प्रजातियाँ भी अपनी रक्त की पवित्रता को बनाए रखने के लिए अन्तर्प्रजातीय विवाह करती हैं।

(2) विशेष शारीरिक लक्षणों के तत्त्व–प्रजातियों का वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों के आधार पर भी किया जाता है। प्रत्येक प्रजाति में कुछ विशेष शारीरिक लक्षण पाए जाते हैं, जैसे

शरीर का रंग, बाल, आँख, खोपड़ी, नासिका, कद, जबड़ों की बनावट आदि। वर्तमान समय में यातायात के साधनों में वृद्धि होने से शारीरिक लक्षण धीरे–धीरे समाप्त होते जा रहे हैं।

(3) वंशानुक्रमण के लक्षणों के तत्त्व–मैण्डल के सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सहवास से रक्त में उन्हीं कीटाणुओं का अस्तित्व होता है जो पैतृक होते हैं या वंश परम्परा से चले आ रहे होते हैं। शारीरिक लक्षण एक शृंखला के समान होते हैं जो वंश परम्परा के कारण अनेक पीढ़ियों तक चलते हैं, जैसा कि नीग्रो का पुत्र नीग्रो होता है। वह कभी भी श्वेत प्रजाति के लक्षणों से युक्त नहीं होता है। प्रजाति की पवित्रता और संस्कृति की रक्षा पैतृक गुणों के द्वारा ही होती है।

11.3.3 प्रजाति के प्रमुख लक्षण

प्रजातीय लक्षणों के बारे में **बील्स** एवं **हाउजर** (Beals and Hoijer) ने कुछ सुझाव दिए हैं, जो निम्न प्रकार हैं–

(1) प्रजातियों के वर्गीकरण में प्रयुक्त किए लक्षणों का शुद्ध होना आवश्यक है। यह शुद्ध प्रक्रिया वंशानुक्रमण से हो सकती है।

(2) प्रजाति का निर्धारण मानवीय निश्चित और अनिश्चित लक्षणों पर आधारित होता है।

(3) प्रजाति की कसौटी अन्ततोगत्वा मूल वंश पर आधारित होनी चाहिए, परन्तु कुछ विशेषताएँ ऐसी भी हैं, जैसे रक्त इत्यादि, जिनको परीक्षण का माध्यम बनाया जा सकता है।

(4) मानवशास्त्रियों ने प्रजातियों की विविधता को 25 तत्त्वों पर आधारित किया है। अतः किसी एक लक्षण के आधार पर किसी प्रजाति को भिन्न नहीं कहा जा सकता है।

(5) प्रजातीय लक्षणों का चुनाव जनसंख्या के बृहत् भाग पर करना चाहिए क्योंकि छोटे भाग में ऐसे व्यक्तियों का समावेश हो सकता है जो सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रतिनिधित्व नहीं करते हों। उनसे व्यक्तिगत भिन्नता का भी पता नहीं लगाया जा सकता है।

प्रजातीय लक्षणों को दो भागों में विभाजित किया गया है–(अ) निश्चित लक्षण, तथा (ब) अनिश्चित लक्षण।

(अ) निश्चित (Definite) **लक्षण**–ये लक्षण संख्यात्मक अनुमान प्रदान करते हैं जिनको अंकगणित की संख्याओं में बताया जा सकता है। इनमें निम्न तत्त्व आते हैं–

(1) शीर्ष देशना (Cephalic index),

(2) नासिका देशना (Nasal index),

(3) कद (Stature or bodily height),

(4) जबड़ों की बनावट (Prognathism),

(5) खोपड़ी का घनत्व (Capacity of the skull),

(6) हाथ–पैर की लम्बाई (Length of arms and legs) तथा

(7) रक्त समूह (Blood group)।

(ब) अनिश्चित (Indefinite) **लक्षण**–इन लक्षणों को मापा नहीं जा सकता है और न ही अंकगणित की संख्याओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। इनको केवल अनुमान द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है। ये लक्षण निम्न हैं–

(1) त्वचा का रंग (Colour of skin),

(2) आँखों का रंग एवं बनावट (Colour and folds of eyes),

(3) बालों का रंग और बनावट (Shades and types of hair),

(4) होंठ (Lips),

(5) कान तथा ठुड्डी (Ear and chin) तथा

(6) पलकें (Eyelids)।

प्रजाति के उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर व्यक्ति को देखते ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि वह किस प्रजाति का है। पश्चिमी समाजों में प्रजाति के आधार पर सामाजिक असमता पायी जाती है क्योंकि भारत में किसी भी प्रजाति का शुद्ध रूप नहीं है तथा विभिन्न प्रजातियों में इतना अधिक मिश्रण हुआ है कि हम किसी भी भारतीय को उसके शारीरिक लक्षणों से उसकी प्रजाति का अनुमान नहीं लगा सकते हैं। इसीलिए भारत में प्रजाति के आधार पर भेदभाव अथवा ऊँच–नीच की भावना नहीं पायी जाती।

11.4 सामाजिक असमता

सामाजिक असमता का सम्बन्ध भी जेण्डर, प्रजाति एवं ऐसे ही अनेक आयामों से है जिनके आधार पर प्रत्येक समाज में जनसंख्या को विभिन्न स्तरों में विभाजित किया जाता है। सामाजिक असमता व्यक्तियों, समूहों एवं समुदायों के स्तर पर हो सकती है। सामाजिक स्तरीकरण की दृष्टि से लैंगिक एवं प्रजातीय असमता को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। वैसे आधुनिक समाजों में इसके आर्थिक एवं राजनीतिक आयाम भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं।

11.4.1 सामाजिक असमता का अर्थ

सामाजिक असमता सार्वभौम है तथा यह किसी–न–किसी रूप में विश्व के सभी समाजों में विद्यमान है। सामाजिक असमता से अभिप्राय किसी समूह अथवा समाज में विभिन्न पदों या प्रस्थितियों से जुड़े असमान अवसरों एवं पुरस्कारों से है। इस असमता के अनेक आयाम होते हैं। उदाहरणार्थ– आय, धन–दौलत, शक्ति, पेशेगत प्रतिष्ठा, स्कूली शिक्षा, वंश, प्रजाति, संजातीयता, जाति आदि इसके महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। इसे हम अपर्याप्त वस्तुओं अथवा संसाधनों का असमान वितरण भी कह सकते हैं। सामाजिक असमता किसी समाज के लोगों के जीवन–यापन के स्तर एवं जीवन शैली को उसके आयामों के आधार पर प्रकट करती है।

मानव समाज में प्रारम्भ से सामाजिक असमानताएँ विद्यमान रही हैं। आदिम समाजों अथवा सरल संस्कृति वाले समाजों में यद्यपि असमानताएँ कम थीं, तथापि केवल सम्पदा एवं सम्पत्ति के आधार पर नहीं अपितु लिंग एवं आयु के आधार पर भी असमताएँ पायी जाती रही हैं। ऊपर से समतावादी दिखाई देने वाले आदिम समाज आन्तरिक संरचना की दृष्टि से थोड़े–बहुत संस्तरण से युक्त रहे हैं। इसकी पुष्टि मानवशास्त्र में आदिम समाजों में सम्पत्ति की संस्था पर हुए अध्ययनों से होती है।

आधुनिक समाजों में सामाजिक असमता का स्वरूप आदिम समाजों से भिन्न है। सामाजिक असमता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार आर्थिक माना जाता है, परन्तु भारत जैसे देश में यह जातिगत एवं अस्पृश्यता के रूप में विद्यमान रही है तथा काफी सीमा तक आज भी है। यह भी सामाजिक स्तरीकरण की भाँति समाज में समूहों की श्रेणीबद्धता अथवा उनमें पाए जाने वाले संस्तरण को इंगित करती है।

मार्क्स एवं **एंगेल्स** ने सामाजिक एवं राजनीतिक असमानता का आधार सम्पत्ति को माना है। चूँकि आदिम समाजों में व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था विकसित नहीं थी, इसलिए उन समाजों में निजी सम्पत्ति के अभाव में राज्य, वर्ग एवं असमता विद्यमान नहीं थी। मार्क्सवादी विद्वान् आज सभी सामाजिक असमताओं का कारण उत्पादन के साधनों पर असमान स्वामित्व के आधार पर विकसित वर्ग व्यवस्था को मानते हैं। उनकी मान्यता है कि वर्ग व्यवस्था को समाप्त

कर समाज में समानता लाई जा सकती है। वर्गविहीन समाज की कल्पना आज तक सार्थक नहीं हो पायी है जो इस तथ्य का प्रमाण है कि उत्पादन के साधनों पर सभी का स्वामित्व एक–समान नहीं हो सकता है।

प्रकार्यवादी विद्वान् सामाजिक असमता को समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति से जोड़ते हैं। यह सभी समाजों में इसलिए सर्वव्यापक या विद्यमान हैं क्योंकि इससे सामाजिक संरचना में सन्तुलन एवं स्थायित्व बना रहता है। अतः यह समाज के लिए प्रकार्यात्मक है। यदि असमता को वैधानिक असमता, अवसरों एवं परिणामों की असमता के रूप में देखा जाए, तो यह मानवीय अस्तित्व का एक अविरल लक्षण रहा है। इसे सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता है। यह कार्य प्रत्येक पीढ़ी समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से करता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि अपर्याप्त वस्तुओं एवं संसाधनों का विविध आधारों पर असमान वितरण सामाजिक असमता कहलाता है।

11.4.2 सामाजिक असमता के प्रमुख प्रकार

प्रत्येक समाज में सामाजिक असमता अनेक रूपों में पायी जाती है। अधिकांश विद्वानों ने सामाजिक असमता के निम्नलिखित स्वरूपों का उल्लेख किया है–

(1) लैंगिक असमता–पुरुषों एवं स्त्रियों में लिंग द्वारा निर्धारित असमता सभी समाजों में विद्यमान है। नारीवादी विद्वान् इसका कारण पितृसत्तात्मक संरचना को मानते हैं। लैंगिक असमता वर्तमान समय में जीवन का सार्वभौमिक तथ्य बन गया है। लैंगिक असमता को स्त्री–पुरुष विभेद के सामाजिक संगठन अथवा स्त्री–पुरुष के मध्य असमान सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

(2) संजातीय असमता–प्रजाति के आधार पर सामाजिक असमता का प्रमुख रूप सफेद (गोरे) एवं काले (हब्शी) लोगों में पाया जाने वाला भेदभाव है। अमेरिका, पश्चिमी यूरोप तथा अफ्रीका के अनेक देशों में पाया जाने वाला रंग पर आधारित भेदभाव इसी श्रेणी का उदाहरण है।

(3) जातिगत असमता–इस प्रकार की असमता भारतीय समाज का प्रमुख लक्षण मानी जाती है। जातियों में पवित्रता–अपवित्रता के आधार पर उच्चता (श्रेष्ठता) एवं निम्नता की भावनाएँ पायी जाती रही हैं। अस्पृश्यता जातिगत असमता का विकराल रूप माना जाता है। इसमें अस्पृश्य जातियों के साथ खान–पान, रहन–सहन एवं विवाह सम्बन्धी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध पाए जाते हैं। साथ ही अस्पृश्य जातियों के साथ अनेक प्रकार की निर्योग्यताएँ जुड़ी हुई थीं।

(4) राजनीतिक असमता–अधिकतर विद्वानों ने सामाजिक असमता को शक्ति के वितरण से जोड़ा है जिसके आधार पर भौतिक पुरस्कार एवं भिन्न जीवन के अवसरों के आयाम निर्धारित होते हैं। कोई भी समाज ऐसा नहीं है जिसमें शक्ति का वितरण तथा शक्ति से जुड़े पदों पर समान सहभागिता हो। साम्यवादी देशों में समता का समर्थन करने वाले विद्वान् भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इनमें राजनीतिक आधार पर असमता स्पष्ट रूप में पायी जाती है। चीन में शक्ति संघर्ष के अनेक उदाहरण हमारे सामने आए हैं।

(5) आर्थिक असमता–यह सामाजिक असमता का सबसे अधिक दिखाई देने वाला स्वरूप है। धनी एवं निर्धन लोगों के जीवन–यापन के अवसरों में असमानता इसी के आधार पर पायी जाती है। निर्धन लोग अनेक सुविधाओं से वंचित होते हैं। कोई भी समाज विविध प्रकार के प्रयासों के बावजूद समाज में पायी जाने वाली आर्थिक असमता को समाप्त नहीं कर पाया है। अमेरिका एवं पश्चिमी देशों में भी बेरोजगारी एवं निर्धनता पायी जाती है।

(6) जीवन–यापन के अवसरों में असमता–विश्व के किसी भी समाज में जीवन–यापन के अवसरों में समानता नहीं पायी जाती है। यद्यपि इस प्रकार की असमता आर्थिक आधार पर निर्धारित होती है, तथापि वंश, संजाति, जाति जैसे प्रदत्त लक्षण भी इसके लिए उत्तरदायी माने जाते हैं। जीवन–यापन के अवसरों के आधार पर विभिन्न समाजों को श्रेणीबद्ध किया जाने लगा है। जिन समाजों में जीवन–यापन की गुणवत्ता अधिक है उन्हें ऊपर रखा जाता है तथा निम्न गुणवत्ता वाले समाजों को नीचे रखा जाता है।

(7) आयु असमता–आदिम समाजों से लेकर अत्याधुनिक समाजों में आयु के आधार पर भी सामाजिक असमता देखी जा सकती है। किस आयु वर्ग को कैसी प्रस्थिति प्रदान की जाएगी, इसका निर्धारण सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा होता है। उदाहरणार्थ–भारत जैसे देश में परम्परागत रूप से वृद्धों को अत्यधिक सम्मान दिया जाता था। आधुनिक युवा पीढ़ी आज इन्हीं वृद्धों की उपेक्षा करने लगी है। इसका अर्थ यह है कि आयु असमता समय के साथ–साथ परिवर्तित भी होती रहती है।

(8) वंश पर आधारित असमता–यह एक प्रकार से परम्परा से चली आने वाली सामाजिक असमता है। आदिम समाजों में वंशानुगत श्रेष्ठता एवं निम्नता विद्यमान रही है। यद्यपि आधुनिक समाजों में अर्जित गुणों के महत्त्व के कारण वंश पर आधारित असमता कमजोर हुई है, तथापि अनेक विकासशील देशों में इसे आज भी देखा जा सकता है।

(9) प्रस्थितिगत असमता–सामाजिक असमता का प्रमुख कारण विभिन्न प्रस्थितियों में पायी जाने वाली श्रेणीबद्धता है। कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी हैं जो समाज की दृष्टि से अधिक उपयोगी होती हैं। स्वाभाविक रूप से इन प्रस्थितियों के धारकों को समाज उच्च स्थान प्रदान करता है। प्रस्थितियों में असमानता अर्जित एवं प्रदत्त दोनों आधारों पर हो सकती है।

सामाजिक असमता की सर्वव्यापकता के कारण ही आज समाजशास्त्र में यह सर्वाधिक रुचि का विषय माना जाता है। विभिन्न विद्वान् सामाजिक असमता की न्यायोचितता के साथ–साथ इसके कारणों एवं परिणामों को खोजने में लगे हुए हैं। वैश्वीकरण ने ऐसे अध्ययनों को प्रोत्साहन दिया है। अधिकांश समाज वैज्ञानिक इस बारे में दो श्रेणियों में विभाजित हैं। प्रथम श्रेणी में वे विद्वान् हैं जिनका मानना है कि वैश्वीकरण ने सामाजिक असमता में वृद्धि की है, जबकि दूसरी श्रेणी के विद्वान् इसके विपरीत वैश्वीकरण को सामाजिक असमता कम करने वाला मानते हैं। भविष्य में होने वाले अध्ययन ही इसकी पुष्टि कर पायेंगे।

11.4.3 लैंगिक तथा प्रजातीय असमता

वर्तमान समय में लिंग असमता (लैंगिक असमता) सम्बन्धी अध्ययन किसी एक राष्ट्र की सीमाओं के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली समस्याओं में सम्मिलित विषय नहीं रहा है, वरन् यह एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय हो गया है क्योंकि आधुनिक समय में विश्व का आकार लघु होता जा रहा है। वैश्वीकरण (Globalization) एवं उदारीकरण (Liberalization) की प्रक्रियाओं ने सभी राष्ट्रों की समस्याओं को एकबद्ध कर दिया है। अतः समाजशास्त्र जैसे विषय में लिंग सम्बन्धी असमता एवं समस्याओं का अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यह विषय इस तथ्य पर बल देता है कि शारीरिक संरचना के आधार पर पुरुष तथा स्त्री के मध्य विद्यमान प्राकृतिक असमानताओं को तो स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पुरुष तथा स्त्री में मतभेद करने का कोई औचित्य नहीं है। ऐसा करना मानवता तथा मानव अधिकारों की धारणा के नितान्त विपरीत है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार पूरे विश्व में स्त्रियाँ यद्यपि विश्व जनसंख्या के आधे भाग का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा सम्पूर्ण कार्य के दो–तिहाई भाग को पूरा करती हैं, परन्तु इनके

पास विश्व की सम्पत्ति का केवल दसवाँ भाग ही है। वर्तमान समय विश्व बैंक के द्वारा प्रतिपादित सद्–शासन (Good governance) के सिद्धान्त का सम्पूर्ण विश्व में जोरदार प्रचार तथा प्रसार किया जा रहा है। कानून का शासन लिंग पर आधारित भेदभाव को स्वीकार नहीं करता है। यह कानून के समक्ष सभी प्राणियों की समानता के विचार का समर्थन करता है।

समाजशास्त्रीय भाषा में जेण्डर से सम्बन्धित भूमिका से अभिप्राय विभिन्न संस्कृतियों में लिंग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार प्रतिमानों से है। अतः लैंगिक असमता वर्तमान समय में जीवन का सार्वभौमिक तत्त्व बन गया है। विश्व के अनेक समाजों में, विशेषकर विकासशील देशों में, स्त्रियों के साथ समाज में प्रचलित विभिन्न कानूनों, रूढ़िगत नियमों के आधार पर विभेद किया जाता है तथा उनको पुरुषों के समान राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों से वंचित किया जाता है। स्त्री या फेमिनिस्ट विद्वानों के अनुसार लैंगिक असमता को स्त्री–पुरुष विभेद के सामाजिक संगठन अथवा स्त्री–पुरुष के मध्य असमान सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचनाएँ एवं संस्थाएँ उन मूल्य व्यवस्थाओं एवं सांस्कृतिक नियमों द्वारा सुदृढ़ होती हैं जो स्त्रियों की हीन भावना की धारणा को प्रचारित करती हैं। प्रत्येक संस्कृति में अनेक प्रथाओं के ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं जो स्त्रियों को दिए जाने वाले निम्न मूल्य व स्थिति को परिलक्षित करते हैं। पितृसत्तात्मकता स्त्रियों को अनेक प्रकार से शक्तिहीन बना देती है। इनमें स्त्रियों के पुरुषों की तुलना में निम्न होने, उन्हें साधनों तक पहुँचने से रोकने तथा निर्णय लेने वाले पदों में सहभागिता को सीमित करने जैसी परिस्थितियाँ प्रमुख हैं। नियन्त्रण के यह स्वरूप स्त्रियों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं से दूर रखने में सहायता प्रदान करते हैं। स्त्रियों की अधीनता, सामाजिक–आर्थिक परिस्थिति (जैसे उनके स्वास्थ्य, आय एवं शिक्षा का स्तर) तथा उनके पद अथवा स्वायत्तता एवं अपने जीवन पर नियन्त्रण के अंश के रूप में देखी जा सकती है।

प्रत्येक समाज में सामाजिक लैंगिक असमता अनेक रूपों में विद्यमान रहती है। अर्थशास्त्र में नोबेल पुरस्कार विजेता **अमर्त्य सेन** (Amartya Sen) के अनुसार लैंगिक असमता विश्व के सभी देशों–जापान से जाम्बिया, यूक्रेन से संयुक्त राज्य अमेरिका–में पाई जाती है, परन्तु पुरुषों एवं स्त्रियों में असमता अनेक रूपों में होती है। यह एक सजातीय प्रघटना न होकर अनेक अन्तर्सम्बन्धित समस्याओं से जुड़ी प्रघटना है। उनके अनुसार लैंगिक असमता को सामान्यतः निम्नलिखित सात रूपों में देखा जा सकता है–

(1) मर्त्यता असमता–विश्व के अनेक क्षेत्रों में स्त्रियों एवं पुरुषों में असमता का एक बर्बर प्रकार सामान्यतया स्त्रियों की उच्च मर्त्यता दर में परिलक्षित होता है जिसके परिणामस्वरूप कुल जनसंख्या में पुरुषों की संख्या अधिक हो जाती है। मर्त्यता असमता (Mortality inequality) अत्यधिक मात्रा में उत्तरी अफ्रीका तथा एशिया (चीन एवं दक्षिण एशिया सहित) में देखी जा सकती है।

(2) प्रासूतिक असमता–गर्भ में ही बच्चे के लिंग को ज्ञात करने सम्बन्धी आधुनिक तरीकों की उपलब्धता ने लैंगिक असमता के इस रूप को जन्म दिया है। लिंग परीक्षण द्वारा यह पता लगाकर कि होने वाला शिशु लड़की है गर्भपात करा दिया जाता है। अनेक देशों में, विशेष रूप से पूर्व एशिया, चीन एवं दक्षिण कोरिया में, साथ–ही–साथ सिंगापुर तथा ताईवान के अतिरिक्त भारत एवं दक्षिण एशिया में भी यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। प्रासूतिक असमता (Natality inequality) उच्च तकनीकी पर आधारित असमता है।

(3) मौलिक सुविधा असमता–मौलिक सुविधाओं की दृष्टि से भी अनेक देशों में पुरुषों एवं स्त्रियों में असमता (Basic facility inequality) स्पष्टतया देखी जा सकती है। कुछ वर्ष पहले तक अफगानिस्तान में लड़कियों की शिक्षा पर पाबन्दी थी। एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देशों के साथ–साथ लैटिन अमेरिका में लड़कियों को लड़कों की तुलना में शिक्षा सुविधाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य मौलिक सुविधाओं के अभाव के कारण स्त्रियों को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने के अवसर ही प्राप्त नहीं हो पाते हैं और न ही वे समुदाय में अनेक कार्यक्रमों में सहभागिता कर सकती हैं।

(4) विशेष अवसर असमता–यूरोप तथा अमेरिका जैसे अत्यधिक विकसित एवं अमीर देशों के साथ–साथ अधिकांश अन्य देशों में उच्च शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण में लैंगिक पक्षपात स्पष्टतया देखा जा सकता है। इसे विशेष अवसर असमता (Special opportunity inequality) कहा जाता है।

(5) व्यावसायिक असमता–व्यावसायिक असमता (Professional inequality) भी लगभग सभी समाजों में पाई जाती है। जापान जैसे देश में, जहाँ जनसंख्या को उच्च शिक्षा प्राप्त करने एवं अन्य सभी प्रकार की मौलिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वहाँ पर भी रोजगार एवं व्यवसाय प्राप्त करना स्त्रियों के लिए पुरुषों की तुलना में काफी कठिन कार्य माना जाता है।

(6) स्वामित्व असमता–अनेक समाजों में सम्पत्ति पर स्वामित्व भी पुरुषों एवं स्त्रियों में असमान रूप से वितरित (Ownership inequality) है। मौलिक घरेलू एवं भूमि सम्बन्धी स्वामित्व में भी स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में काफी पिछड़ी हुई हैं। इसी के परिणामस्वरूप स्त्रियाँ वाण्ज्यकीय, आर्थिक तथा कुछ सामाजिक क्रियाओं से वंचित रह जाती हैं।

(7) घरेलू असमता–परिवार अथवा घर के अन्दर ही लैंगिक सम्बन्धों में अनेक प्रकार की मौलिक असमानताएँ पाई जाती हैं। घर की सम्पूर्ण देख–रेख से लेकर बच्चों के पालन–पोषण का पूरा दायित्व स्त्रियों का होता है। अधिकांश देशों में पुरुष इन कार्यों में स्त्रियों की किसी प्रकार की सहायता नहीं करते हैं। पुरुषों का कार्य घर से बाहर काम करना माना जाता है। घरेलू असमता (Household inequality) एक ऐसा श्रम–विभाजन है जो स्त्रियों को पुरुषों के अधीन कर देता है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की लैंगिक असमताएँ भारतीय समाज में भी स्पष्ट रूप में देखी जा सकती हैं। सेन द्वारा वर्णित स्वरूप विश्व के सभी समाजों पर लागू होते हैं। भारत में लैंगिक असमता परिवार से प्रारम्भ होती हैं। थोड़ा बड़ा होने पर लड़की से यह आशा की जाने लगती है कि वह अपनी माँ के साथ घर के कामकाज में सहयोग दे। उसे रसोई के कार्यों में दक्षता प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। ऐसा भी होता है कि लड़कियों की तुलना में लड़कों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसी लैंगिक असमता के कारण भारत में स्त्रियों एवं पुरुषों का लिंगानुपात काफी कम होता जा रहा है। भ्रूण हत्याएँ इसका प्रमुख कारण माना जाता है। आज सरकार भरसक यह प्रयास कर रही है कि भारत में लैंगिक असमता को दूर किया जाए। इसके लिए सरकार ने स्त्रियों के उत्थान हेतु अनेक योजनाएँ लागू की हैं। वर्तमान सरकार 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' जैसी योजनाओं द्वारा लड़के एवं लड़की में किए जाने वाले विभेद को समाप्त करने का प्रयास कर रही है।

लैंगिक असमता के साथ–साथ प्रजाति के आधार पर पायी जाने वाली असमता भी काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही है। इस असमता को समाज वैज्ञानिकों ने नृजातिकेन्द्रवाद (Ethnocentrism) का नाम दिया है। इसका अर्थ अपने नृजातीय समूह अथवा समाज को अन्य नृजातीय समूहों अथवा समाजों से श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति से है। इस प्रवृत्ति के कारण अन्य

नृजातीय समूहों एवं समाजों को आँकने तथा उनका मूल्यांकन अपने समूह के मानदण्डों के आधार पर करने का प्रयास किया जाता है। इसी प्रवृत्ति को कुछ लोग 'प्रजातिवाद' अथवा 'नस्लवाद' भी कहते हैं, जिसके कारण पश्चिम के मूल निवासी जो श्वेतवर्ण अर्थात् गोरे रंग के हैं वे काले रंग के नीग्रो अथवा अन्य लोगों से भेदभाव करते हैं। यूरोकेन्द्रवाद (Eurocentrism), जिसे यूरो–केन्द्रता भी कहा जाता है, को सामान्य नृजातिकेन्द्रवाद का एक विशिष्ट प्रकार माना जाता है। नृजातिकेन्द्रवाद का एक विशिष्ट प्रकार होने के नाते यूरोकेन्द्रवाद से अभिप्राय उस प्रवृत्ति से है जिसके द्वारा यूरोप के निवासी गैर–यूरोपीय देशों के निवासियों को आँकने एवं उनका मूल्यांकन करने हेतु यूरोपीय संस्कृति की मान्यताओं, मानदण्डों एवं पूर्वाग्रहों द्वारा करने का प्रयास करते हैं। यह सही है कि अंग्रेजों का भारत पर शासन था तथा तत्कालीन अंग्रेजी संस्कृति भारतीय संस्कृति से पूरी तरह से भिन्न थी। उनका पहनावा, खानपान, बोलचाल तथा रहने का ढंग भारतीयों के पहनावे, खानपान, बोलचाल तथा रहने के ढंग से अलग था। जब अंग्रेज अपनी संस्कृति से भारतीयों के खानपान का मूल्यांकन करते थे तो उन्हें लगता था कि यह पशुओं के समान हैं। इसीलिए अंग्रेज अधिकारी नहीं चाहते थे कि वे अपने सामने भारतीयों को खाते हुए देखें और सम्भवत: इसीलिए उन्होंने अनेक रेस्टोरेण्टों में भारतीयों का प्रवेश प्रतिबन्ध करवा दिया था।

'प्रजातिवाद' अथवा 'नस्लवाद' भारतीय समाज में पायी जाने वाली कोई गम्भीर समस्या नहीं है। जैसा कि इसी इकाई में पहले भी उल्लेख किया गया है कि हमारे देश में प्रजातियों का इतना अधिक मिश्रण हुआ है कि कोई भी प्रजाति अपने विशुद्ध रूप में नहीं है। फिर भी भारत में पायी जाने वाली प्रजातियों को समझना जरूरी है।

भारत में अनेक प्रजातियों के लोग निवास करते हैं। सर्वप्रथम रिजले ने भारत में प्रजातीय तत्त्वों का अध्ययन किया तथा बाद में हट्टन, गुहा, मजूमदार, सरकार इत्यादि विद्वानों ने भारत में पाई जाने वाली प्रजातियों के अध्ययन में विशेष रुचि दिखाई। भारत में कितनी प्रजातियाँ पाई जाती हैं, इसके बारे में विद्वानों में सहमति नहीं है। प्रमुख विद्वानों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है–

(अ) रिजले का वर्गीकरण–रिजले ने भारतीय जनसंख्या में निम्नलिखित प्रजातियों के तत्त्वों का उल्लेख किया है–

(1) द्रावेडियन (Dravidian)–यह प्रजाति भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति मानी जाती है। यद्यपि यह प्रजाति अब स्वतन्त्र रूप में तो विद्यमान नहीं है परन्तु इसके कुछ लक्षण कहीं–कहीं पर देखे जा सकते हैं। इस प्रजाति के लोग अधिकतर मद्रास, हैदराबाद, मध्य प्रदेश तथा नागपुर में पाए जाते हैं। इस प्रजाति के लोगों के बाल अर्द्ध–गोलाकार लटों में विभजित ऊनी से होते हैं। इनके सिर चौड़े, होंठ मोटे, नाक चौड़ी तथा गहरे काले रंग की त्वचा होती है।

(2) मंगोलॉयड (Mongoloid)–इस प्रजाति के लोग अधिकतर हिमालय के मैदानों, असम तथा नेफा में पाए जाते हैं। मंगोलॉयड प्रजाति के प्रमुख लक्षणों में छोटी नाक, मोटे होंठ, लम्बे एवं चौड़े सिर, चपटा चेहरा, पीले या भूरे रंग की त्वचा आदि हैं।

(3) मंगोल–द्रावेडियन (Mongolo-Dravidian)–इस प्रजाति के लोग अधिकतर बंगाल तथा उड़ीसा में पाए जाते हैं।

(4) आर्यो–द्रावेडियन (Aryo-Dravidian)–उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा बिहार में इस प्रजाति के लोग देखे जा सकते हैं।

(5) साइथो–द्रावेडियन (Scytho-Dravidian)–इस प्रजाति के लोग मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र में पाए जाते हैं।

(6) इण्डो–आर्यन (Indo-Aryan)–इस प्रजाति के अधिकांश लोग पंजाब, कश्मीर तथा राजस्थान में पाए जाते हैं।

(7) तुर्को–इरानियन (Turko-Iranian)–इस प्रजाति के लोग उत्तरी–पश्चिमी सीमा प्रान्त में पाए जाते हैं।

(ब) गुहा का वर्गीकरण–गुहा के अनुसार भारत में निम्नलिखित प्रजातियों के तत्त्व देखे जा सकते हैं–

(1) नीग्रीटो (Negrito)

(2) प्रोटो–आस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid)

(3) मंगोलॉयड (Mongoloid)

(i) पेली मंगोलॉयड (Palaeo Mongoloid)

(अ) लम्बे सिर वाले (Long headed)

(ब) चौड़े सिर वाले (Broad headed)

(ii) तिब्बती मंगोलॉयड (Tibeto Mongoloid)

(4) भूमध्यसागरीय या मेडिटरेनियन (Mediterranean)

(i) पेली मेडिटेरेनियम (Palaeo Mediterranean)

(ii) मेडिटरेनियन (Mediterranean)

(iii) ओरियन्टल टाइप (Oriental type)

(5) पश्चिमी चौड़े सिर वाले (Western Brachy Cephalic)

(i) अल्पाइनॉयड (Alpinoid)

(ii) डिनारिक (Dinaric)

(iii) अरमीनॉयड (Armenoid)

(6) नार्डिक (Nordic)।

(स) हट्टन का वर्गीकरण–हट्टन ने भारतीय प्रजातियों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया है–

(1) नीग्रीटो (Negrito),

(2) प्रोटो–आस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid),

(3) मेडिटरेनियन (Mediterranean),

(4) इण्डो–आर्यन (Indo-Aryan),

(5) अल्पाइन की अरमीनॉयड शाखा (Armenoid branch of Alpine) तथा

(6) मंगोलॉयड (Mongoloid)।

रिजले, गुहा तथा हट्टन के वर्गीकरण से हमें पता चलता है कि भारतीय समाज में संसार की सभी प्रमुख प्रजातियों के तत्त्व पाए जाते हैं। बाहर से जितनी भी प्रजातियों के लोग भारत में आए, वे यहाँ पर बसते चले गए। विभिन्न प्रजातियों में परस्पर सहवास के कारण भारतवर्ष प्रजातियों का ऐसा मिश्रण बन गया है कि किसी भी एक प्रजाति की शुद्ध विशेषताएँ मिलनी कठिन हैं। इसके परिणामस्वरूप, भारत में प्रजातियों का निर्धारण भी सरलता से नहीं किया जा सकता। अतः भारत को 'प्रजातियों का अजायबघर' कहना पूर्णतः उचित है।

(द) हेड्डन का वर्गीकरण–हेड्डन ने भारत की जनसंख्या में निम्नलिखित प्रजातियों के तत्त्वों के पाए जाने का उल्लेख किया है–

(1) प्राग्–द्रावेडियन (Pre-Dravidian),

(2) द्रावेडियन (Dravidian),

(3) इण्डो–अल्पाइन (Indo-Alpine),

(4) मंगोलॉयड (Mongoloid) तथा

(5) इण्डो–आर्यन (Indo-Aryan)।

गुहा के अनुसार, भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाए जाते हैं। अल्पाइन प्रजाति के अधिकतर लोग उत्तर प्रदेश में हैं। मंगोल प्रजाति के लोग उत्तरी भारत में पहाड़ों के निचले भाग में तथा नार्डिक प्रजाति के लोग पंजाब और गंगा की उत्तरी घाटी में रहते हैं। मंगोलॉयड प्रजाति के लोग अधिकांशतः हिमालय तथा नेपाल में पाए जाते हैं। उत्तरी–पूर्वी भारत में इनकी संख्या अधिक है।

रिजले का मत है कि उत्तरी भारत में एकाधिक प्रजातियों का अच्छा जमघट है। उनके अनुसार, इण्डो–आर्यन प्रजाति के लोग कश्मीर तथा पंजाब में देखे जा सकते हैं। पंजाब में पंजाबी खत्री और कश्मीर में कश्मीरी ब्राह्मण इसी प्रजाति के लोग हैं। आर्यो–द्रावेडियन प्रजाति के लोग पंजाब की पूर्वी सीमा से बाहर के दक्षिणी छोर तक पाए जाते हैं। गंगा–यमुना की घाटियों और हिमालय की तलहटी में भी इसी प्रजाति के लोग हैं। उत्तर प्रदेश की जनसंख्या में इस प्रजाति के अधिक लोग हैं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत की जनसंख्या को निर्धारित करने में अनेक प्रजातियों का हाथ है। ये विभिन्न प्रजातियाँ अलग–अलग समय व अवसर पर भारत में आर्यों और एक–दूसरे से घुल–मिल गईं। भारत में सामाजिक व्यवस्था प्रारम्भ से ही ऐसी रही है कि इसमें प्रत्येक को स्थान प्राप्त हो जाता है। संसार में भी सभी प्रजातियाँ एक–दूसरे में भली प्रकार मिश्रित हो गई। हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि भारत प्रजातियों का अजायबघर है, प्रजातियों का जमघट है। आज के समय में मनुष्य की कुछ क्रियाएँ व व्यवहार ऐसे हैं जिसके फलस्वरूप समाज में प्रजातिवाद की भावना उग्र रूप से फैली हुई दिखाई पड़ती है। अतः प्रजातिवाद एक सामाजिक व्याधि है। परन्तु भारत इस व्याधि से बचा हुआ है।

11.5 सारांश

जेण्डर, प्रजाति एवं समाजिक असमता का सम्बन्ध समाज में पायी जाने वाली श्रेणीबद्धता से है। जेण्डर का अर्थ लिंग की सामाजिक–सांस्कृतिक रचना से है जिसमें पुरुषों एवं स्त्रियों में विभेद किया जाता है। कोई भी समाज ऐसा नहीं है जिसमें लैंगिक समता पूर्ण रूप से पायी जाती है। प्रजाति का सम्बन्ध शारीरिक लक्षणों से है। यह शारीरिक लक्षण जन्म से ही पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। प्रत्येक प्रजाति के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं तथा इन्हीं लक्षणों के आधार पर अनेक देशों में कुछ प्रजातियों से भेदभाव किया जाता है। इस भेदभाव को प्रजातिवाद कहा जाता है। सामाजिक असमता से अभिप्राय अपर्याप्त वस्तुओं एवं संसाधनों का विविध आधारों पर असमान वितरण है। इसके अनेक आयाम होते हैं। सभी समाजों ने सामाजिक असमानता को समाप्त करने हेतु अनेक प्रयास किए हैं, परन्तु कोई भी समाज इसे पूरी तरह से समाप्त नहीं कर पाया है। इसीलिए ऐसा लगता है कि प्रकार्यवादियों द्वारा दिया

जाने वाला यह तर्क कि सामाजिक असमता समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित है उचित लगता है।

11.6 शब्दावली

जेण्डर – जेण्डर एक सामाजिक–सांस्कृतिक तथ्य है, जिसे हम लिंग की सामाजिक रचना भी कह सकते हैं। इसे स्त्री–पुरुष विभेद के सामाजिक संगठन अथवा स्त्री–पुरुष के मध्य असमान सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

लिंग – 'लिंग' शब्द का अर्थ सभी समाजों में सार्वभौम रूप से पुरुष एवं स्त्री के जैविक अन्तरों की दृष्टि से समझा जाता है।

प्रजाति – प्रजाति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसे आनुवंशिक शारीरिक लक्षणों के आधार पर पहचाना जा सकता है।

प्रजातिवाद – प्रजातिवाद, जिसे 'नृजातिकेन्द्रवाद' अथवा 'नस्लवाद' भी कहा जाता है, का अर्थ अपने नृजातीय समूह अथवा समाज को अन्य नृजातीय समूहों अथवा समाजों से श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति से है।

यूरोकेन्द्रवाद – यूरोकेन्द्रवाद से अभिप्राय उस प्रवृत्ति से है जिसके द्वारा यूरोप के निवासी यूरोपीय संस्कृति की मान्यताओं, मानदण्डों एवं पूर्वाग्रहों द्वारा गैर–यूरोपीय देशों के निवासियों को आँकने एवं उनका मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं।

सामाजिक असमता – अपर्याप्त वस्तुओं एवं संसाधनों का विविध आधारों पर असमान वितरण सामाजिक असमता कहलाता है।

11.7 अभ्यास प्रश्न

21. 'लिंग' एवं 'जेण्डर' की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए।
22. 'जेण्डर' किसे कहते हैं? 'लिंग' एवं 'जेण्डर' में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर बताइए।
23. 'प्रजाति' की अवधारणा स्पष्ट कीजिए तथा प्रजाति की विशेषताएँ बताइए।
24. 'प्रजाति' को परिभाषित कीजिए तथा इसके विशेष तत्त्वों को संक्षेप में समझाइए।
25. प्रजाति किसे कहते हैं? इसके प्रमुख लक्षणों का उल्लेख कीजिए।
26. सामाजिक असमता किसे कहते हैं? इसके प्रमुख प्रकार बताइए।
27. सामाजिक असमता का अर्थ बताइए तथा लैंगिक असमता के रूपों को संक्षेप में समझाइए।
28. लैंगिक असमता की अवधारणा स्पष्ट कीजिए तथा इसके प्रमुख प्रकार बताइए।
29. लैंगिक असमता किसी कहते हैं? भारत में पाई जाने वाली लैंगिक असमता की विवेचना कीजिए।

11.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

A. L. Kroeber (1948), **Anthropology : Race, Language, Culture, Psychology, Pre-history,** Harcourt, Brace, New York.

Amartya Sen (2001), "Gender : Seven Types of Inequality'' in **Human Rights Vision**, Issue No. 22, December 08, 2001.

Ann Oakley (1972), **Sex, Gender and Society**, Maurice Temple Smith Ltd., London.

C. H. Cooley (1909), **Social Organization : A Study of the Larger Mind**, *Charles* Scribner's Sons, New York.

C. H. Cooley (1933), **Introductory Sociology**, *Charles* Scribner's Sons, New York.

D. N. Majumdar and T. N. Madan (1960), **An Introduction to Social Anthropology**, Asia Publishing House, Bombay.

E. A. Hoebel (1958), **Man in the Primitive World : An Introduction to Anthropology**, *McGraw-Hill* Book Company, New York.

F. E. Lumley (1929), **Principles of Sociology**, Harcourt, Brace and Company, New York.

G. S. Ghurye (1950), **Caste, Class and Occupation**, Popular Book Depot, Bombay.

Herbert H. Risley (1915), **The People of India**, Thacker, Spink & Company, London.

Kingsley Davis (1949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.

Kingsley Davis and Wilbert E. Moore (1945), "Some Principles of Stratification" in **American Sociological Review**, Vol. X, April, p. 242-249.

L. T. Hobhouse (1920), **Morals in Evolution : A Study in Comparative Ethics**, H. Holt, New York.

M. Haralambos and R. M. Heald (1997), **Sociology :Themes and Perpectives**, Oxford University Press, New Delhi.

M. Neumeyer (1933), **The Community and Society : An Introduction To Sociology,** *American Book Company*, New York.

Mary Holmes (2007), **What is Gender? Sociological Approaches**, Sage Publications, Los Angeles.

Milton Diamond (2002), "Sex and Gender Are Different: Sexual Identity and Gender Identity Are Different." ***Clinical Child Psychology & Psychiatry***, *Vol.* 7(3), pp. 320–334.

N. K. Dutta (1931), **Origin and Growth of Caste in India**, Trench, Trubner And Company, Ltd., London.

P. Gisbert (1973), **Fundamentals of Sociology**, Orient BlackSwan Private Limited, New Delhi.

R. L. Beals and H. Hoijer (1971), **An Introduction to Anthropology**, The Macmillan Company, New York.

R. L. Sutherland and J. L. Woodward (1940), **Introductory Sociology**, J. B. Lippincott Company, *Chicago***.**

R. M. MacIver and C. H. Page (1962), **Society : An Introductory Analysis**, Holt, Rinehart and Winston, New York.

R. T. LaPiere (1946), **Sociology**, *McGraw-Hill* Book Company, New York.

Raymond Firth (1939), **Human Types : An Introduction to Social Anthropology**, Routledge & Sons Ltd., London.

Ruth Benedict (1942), **Race and Racism**, G. Routledge & Sons Limited, New York.

S. V. Ketkar (1909), **The History of Caste in India**, Rawat Publications, Jaipur.

T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.

W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff (1964), **A Handbook of Sociology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.